श्रीब्रह्मसूत्रेषु
विशिष्टाद्वैतपरकम्

श्रीराघवकृपाभाष्यम्



भाष्यकाराः — जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

ब्रह्मसूत्रेषु

(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

भाष्याकारा:-

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः

स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः

चित्रकूटीयाः

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठं, आमोदवनम्

श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म०प्र०)

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्,

श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं सतना (म०प्र०)

दूरभाष : ०७६७०-६५४७८



प्रथमसंस्काम् : ११०० प्रतयः





मूल्यम् : ३०० रूप्यकाणि



प्राप्तिस्थानम् :

तुलसीपीठः, आमोदवनम्, चित्रकूटं जनपदं—सतना (म०प्र०)
"**वसिष्ठायनम्**" (रानीगली) ज०गु० रामानन्दाचार्य मार्ग, भोपतवाला, हरिद्वार (उ०प्र०)
श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन—३६०००२



मुद्रक :

पण्ड्या ऑफसेट,

बैजनत्था, वाराणसी - १०
दूरभाष- ३२००३९

अनुक्रमणिका

।। श्रीराघवोविजयते ।।

प्रकाशकीयम्

तमालघननीलाय जगज्जन्मादिहेतवे ।
नमोऽस्तु सीतापतये संसारार्णवसेतवे ।।

जानन्त्येव तत्रभवन्तो विद्यारसिका आचार्यपरम्परायां वेदान्तप्रस्थानत्रयी निकषभूता। वेदान्तश्रुतिः उपनिषद्, वेदान्तस्मृत्तिः श्रीमद्भगवद्गीता, वेदान्तसूत्रञ्च ब्रह्मसूत्रम्। एष्वेव सर्वेऽपि आचार्याः स्वस्वसम्प्रदायानुसारं भाष्यं विरचय्य स्वस्वसम्प्रदायं मण्डयामासुः। भारतवर्षस्य सौभाग्येन अस्मिन् कराले कलिकालेऽपि पुनरिमां प्राचीनपरम्परां मण्डयन्तः पण्डितप्रवराः पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरू-रामानन्दाचार्याः स्वामि श्रीरामाभद्राचार्याः स्वकीयया सोपज्ञप्रतिभया न केषाञ्चिद्विदुषां मनांसि समाह्लादयन्ति । एभिर्विरचिते प्रस्थानत्रयीभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु श्रीराघवकृपाभाष्यनामकं अन्यतममिदं नूतनं कृतिरत्नं नूनमेव भारवर्षस्य गौरवाय भविष्यति। अत्र आचार्यचरणानां कीदृशं पाण्डित्यमिति विलोक्यैव ग्रन्थमेतं भवन्तोऽनुभविष्यन्ति। एतद्ग्रन्थस्य प्रकाशनदायित्वं समर्प्य श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय आचर्यचरणाः सन्यासिनोऽपि न्यासिनः, ऋणिनो व्यदधुः । धन्यवादान् व्याहरामि पण्ड्याऑफसेटमुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनासहिताय श्री विपिनशंकरपण्ड्यामहोदयाय येन महता परिश्रमेण गुरुगौरवेण ग्रन्थ एषः सकौशलं मुद्रितः। श्रीशिवरामशर्मभ्यश्च समनेकशः साधुवादान् वितर्तुं समीहे। यैः ग्रन्थोऽयं मुद्रणदोषपरिहारपुरःसरम् पुरस्कृतः । अनन्तरमाचार्यदिवाकरशर्मभ्यः आयुष्मते आचार्यचरणे विधेयाय चन्द्रदत्त सुवेद्याय मङ्गलाशासनं व्याहरामि। यल्लेखनवाचनपरिश्रमसुफलमिदं वितनोति शं ब्रह्मसूत्रश्रीराघवकृपाभाष्याम्।

अन्ततो निवेदयामि सविनयं विदुषः—

मोदन्तां पण्डिताः सर्वे लभन्तां साधवः सुखम् ।
पश्यन्तु गतमात्सर्या रामभद्रसरस्वतीम् ।।

जयतु राघवः

इति निवेदयते
राघवीया
कु० गीता देवी
प्रबन्धन्यासी, श्री तुलसीपीठसेवान्यासस्य

।। श्रीराघवोविजयते ।।

प्राग्वक्तव्यम्

मन्दाकिनीपुण्यतटे विहारी सीतामनोम्भोनिधिमोदकारी ।
भग्नत्रिकूटः श्रितचित्रकूटः श्रीराघवो मङ्गलमातनोतु ।। १ ।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं ब्रह्मसूत्रेषु भाषितम् ।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तविशिष्टाद्वैतभूषितम् ।। २ ।।

नेहास्ति पक्षपातो मे नैव कश्चिद् दुराग्रहः ।
संग्रहःसद्विचाराणां बुद्धेः फलमनाग्रहः ।। ३ ।।

विशिष्टाद्वैतवादस्य दर्पणं बुधतर्पणम् ।
अर्पणं दिव्यभावानां रामभक्तिसमर्पणम् ।। ४ ।।

क्वचित्पदानांविच्छेदः क्वचिद्वाक्यसमन्वयः ।
क्वचित्सिद्धान्तनैपुण्यं क्वचिन्मन्त्रैकवाक्यता ।। ५ ।।

क्वचिन्नवीनसूक्तीनां बुद्धिपूर्वनिदर्शनम् ।
क्वचित्प्रतिभया भाता अर्थाश्चातीव नूतनाः ।। ६ ।।

श्रुतिस्मृतिपुराणानां प्रामाण्यमिहदर्शितम् ।
श्रीरामभक्तिसिद्धान्तसर्वस्वं च निदर्शितम् ।। ७ ।।

मर्यादाचोपनिषदां यथाशक्ति सुरक्षिता ।
मानसादिप्रमाणानि दर्शितानि पदे पदे ।। ८ ।।

श्रीभागवतपद्यानि प्रतिसूत्रं यथामति ।
विन्यस्तानि विचार्यैव वैष्णवानां मुदे मया ।। ९ ।।

प्रतिसूत्रं मया भक्त्या श्लोकबद्धमनूदितम् ।
छन्दोभिर्विविधैर्भक्त्या स्वान्तःकरणतुष्टये ।। १० ।।

आचार्याणाञ्च सर्वेषामाशीर्वादाः मया धृताः ।
शिरसा नाक्षराण्येषां चोरितानि कदाचन ।। ११ ।।

नामूलं भाषितं किञ्चिन्न विरुद्धं प्रजल्पितम् ।
श्रुतिः समर्चिता भक्त्या नाशास्त्रीयं प्रकल्पितम् ।। १२ ।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तसारसर्वस्वमण्डितम् ।
श्रीराघवकृपाभाष्यं ब्रह्मसूत्रष्वखण्डितम् ।। १३ ।।

वेदव्यासवचोमञ्जुपीयूषं मद्वचोलसत्- ।
कलशेसंभृतं प्रेम्णा पीयन्तां वैष्णवाश्चिरम् ।। १४ ।।

रामभद्रो हि जानाति रामभद्रसरस्वतीम् ।
रामभद्रो हि जानाति रामभद्रसरस्वतीम् ।। १५ ।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीराघवकृपाफलम् ।
श्रीराघवकृपा रातु श्रीराघवकृपाकृतम् ।। १६ ।।

इतिमङ्गलमाशास्ते, राघवीयो

जगद्गुरूरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यः,

श्रीचित्रकूटीयश्रीतुलसीपीठाधीश्वरः



वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)



पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रस्थानत्रयी भाष्कार –

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री १००८ स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आर्विभाव

आपका अर्विभाव १४ जनवरी १९५० तद्नुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वशिष्ठ गौत्रीय उच्च धार्मिक शरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र-आत्म-दर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा देश भक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी मां को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की सम्पदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवद् कृपा से किसी विरली मां को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरुप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमति शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्री राजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने अपनी शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं प्रियजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाए अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मंण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बांटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व सकेंत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैलू गई, और यह धारणा बन गई की यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपन्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्यवर

के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महिने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आखों को रोहुआ रोग रुपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्म-नेत्र बन्द हो गए। यह ह्दय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बिंत होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवद् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तमुर्खता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधा शक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कन्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्य श्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमवद्ध पक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ करली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेंढ़ पर बिठाकर आपको एक एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृतिकरा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठथ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानस-सरोवर के राजहंस बन कर श्री सीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्य श्री को वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्री ईश्वरदास जी महाराज जो अवधं-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्री रामवल्लभाशरण महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपने श्री रामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय

में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्री प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति इन पाँच प्रथम पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किए।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातुः परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंह—गर्जन पूर्वक तत्कालीन विद्वान मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं० सं० वि० वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष पं० श्री राम प्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे— अपाणिनीय प्रयोगाणां विमर्शः' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर ''अष्टाध्याय्याः प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा'' इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पत्ति'' (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्गन्थों के अनुशीलन ने आचार्य—चरण को प्रथम से ही श्री सीताराम—चरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम—पावन दिवस की श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आयार्चश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्री रामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय

वहाँ के सभी सन्त-महन्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद एवं अन्य सन्त-महन्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पद पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्री महन्तों चतुः सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिसमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुन कर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामवरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र नारद-भक्तिसूत्र, सम्पूर्ण भगवत्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्तांकमलवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वशिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्री राघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद पर आकर भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करूणा, श्रीराम प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक। **आप अपनी विलक्षण कथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्य शास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकार पूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति है। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्य निष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र प्रेम का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रृद्धालु श्रोतागणों को पान कराते रहते है।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं

वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्‌गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणी! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित है।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये हैं। काव्य, लेख निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्य श्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

इस प्रकार आचार्य श्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व, से श्री राम प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहत्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्म-पीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यशः सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे है। तब कहना पड़ता है कि :—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ।।

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रहि देहु ।।

धर्माचार्य परम्परा :-

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही हैं कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद् गीता तथा बह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्री राघव कृपा भाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पुज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित 'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर रामानन्दीय श्री वैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्‌गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए, सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्य श्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरण् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग—१—२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुन्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति—गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्री नारद भक्ति सूत्रेषु राघव कृपा भाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगा महिम्न स्लोत्रम् (संस्कृत)
२० आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभुकरिकृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संसकृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ :

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (१) आर्याशतकम् (२) सीताशतकम्
(३) राघवेन्द्र शतकम् (४) मन्मथारिशतकम् (५) चण्डिशतकम्
(६) गणपतिशतकम् (७) चित्रकूटशतकम् (८) राघव चरणचिह्नशतकम्
३. गंगा महिम्न स्तोत्रम् (संस्कृत) ४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि ६. श्लोकमौक्तिकम्
७. कवित भाण्डागारम् (हिन्दी)

।। श्री राघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुज श्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपदपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्तवैश्ण-वालंकारभूताः आर्षवाङ्गमयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहित गम्भीरतत्वान्वेषणतत्पराः पदवाक्यप्रमाण पारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिपूर्वमीमांसावेदान्तनारदशाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधिकृता-शेषतुलसीदाससाहित्य सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातन-धर्मसंरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षण विचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्न-सद्गुरुपरम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्ति भागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्-रामचरितमानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्य-विद्याविनोदित विपश्चितः राष्ट्रभाषागिर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याःश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्य महाराजाः विजयन्तेतराम्।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।।श्रीराघवो विजयतेतराम्।।
।।श्रीमद् रामानन्दाचार्याय नमः।।

श्री ब्रह्मसूत्रे

(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

मङ्गलाचरणम्

यस्माज्जन्मास्यभूम्नोऽवनमथजगतो येन यस्मिन्निवास-
स्त्रैगुण्यात् संविधत्ते विधिहरिहरतां यस्य माया मनोज्ञा।
यच्छ्रौतं पाति धर्मं सगुणमवतरद्यच्च वेदान्तवेद्यं,
तत्सीतारामसंज्ञं प्रणतभयहरं भावये ब्रह्म भक्त्यै।।१।।

श्यामां श्यामाभिरामामभिनवजलदश्यामरामाभिरामां,
रामारामां विरामां पदनतविपदां दामिनीवल्गुवामाम्।
वामां कामारिवामावननिधितनयावाक्प्रणीतप्रणामां,
सीतां शोभापरीतां मनसि भगवतीं भावये वेदगीताम्।।२।।

कौसल्यानन्दसिन्धूदितसुधितकरोन्मेषपूर्णोडुपेशः,
कान्तः कान्तालकान्तो दशरथसुकृताम्भोजबालोऽस्त्रकेतुः।
श्यामो रामोऽभिरामो जनतृषितदृशां बाललीलारसालो,
बालो बालानुजाढ्यो विहरतु सुमनो मन्दिरे राघवो मे।।३।।

विभ्राणश्चण्डचापं निशितशरवरं बाणसङ्गे निषङ्गे,
राजीवाक्षः कटाक्षक्षपितभवभयो वल्कलीकन्दनीलः।
रामः सौमित्रिमित्रो धृतरूचिरजटो ब्रह्मपूर्णोऽविनाशी,
सीता हृत्कञ्जकाशी कशतु कलिकषां चित्रकूटाद्रिवासी।।४।।

दीव्यन्तं देवदेहं शुभगुणनिलयं कान्तिकारुण्यगेहं,
दीव्यन्तं दण्डकेलामनुकपटमृगं शाबरेयायमाणम्।

दीव्यन्तं दिव्यशस्त्रैरथरजनिचरान् बद्धवारीशसेतुम्,
दीव्यन्तं वानरेन्द्रैर्हतदशशिरसं तं च दीव्यामि रामम्।।५।।

वन्दे वन्दारुवृन्दारककुलनिचितस्मेरमन्दारमञ्जु-,
व्यालोलद्शृङ्गमालामुखरितयशसं ध्वस्तपौलस्त्यवंशम्।
वामाङ्कासीनसीताननविधुविलसद्दृक्चकोरं किशोरं
रामं सिंहासनस्थं मरकतमहसं कोसलाधीशमीड्यम्।।६।।

वामं श्रीपाणिपद्मं किणयदवनिजावल्लभस्यामरं,ध्रुग्-
गर्वाम्भोराशिकौर्वप्रथितगुणरवं नन्दनं नन्दनानाम्।
दुर्धर्षं शात्रवाणां दिगधिपशिरसश्चण्डकार्तान्तदण्डं,
प्रोद्दण्डं चण्डिचण्डीपतिसुखदरणं शार्ङ्गमव्याद् भयान्नः।।७।।

रक्षो नष्टेशयोषारूदितजलनिधेरंशुमज्जोष्ठधर्मा,
शार्ङ्गज्यालब्धवेगो जवजितगरुडो दारूणोऽमोघलक्ष्यः।।
संग्रामे शत्रुसेनाक्षतजह्रततृषो रङ्गनैष्याङ्गसङ्गी।
प्रालेयज्वालितेजा जयति दशमुखद्वेषिणो बाणसंघः।।८।।

लोलल्लाङ्गूलशोभाविजितहरिधनुर्धन्विधुर्याङ्घ्रिपद्म-।
व्यालुभ्यच्चञ्चरीको रघुवरमधुपाध्यास्तहृत्पुण्डरीकः।।
दोर्दण्डोद्दण्दण्डप्रहतारिपुगणो दग्धलङ्केशलङ्को,
वीतातङ्को विशङ्को मम कलिकुटिलान्हन्तु हन्त्रीन् हनूमान्।।९।।

सीतारामांघ्रिसेवार्पितवचनमनः कर्मकान् कान्तिभाजः।
स्वेष्टान् श्रीरामनिष्ठान् सुविशदयशसः कन्दकुन्दावभासान्।।
वीरान् विष्णुस्वरूपान् शुभरतभरतं लक्ष्मणं लक्ष्मवन्तं।
शत्रुघ्नं तान् सदारान्जनहितनिरतान् नौमि रामानुजाँस्त्रीन्।।१०।।

वासिष्ठीवीचिविश्वग्विरजितरजसं नित्यसाकेतभूतां,
वन्दे श्रीरामचन्द्रप्रणिहितनमसं जन्मभूमिं विभून्मः।
वैकुण्ठं व्रीडयन्तीमनुदिनसरयूकूललीलारसज्ञां,
सीतासीमन्तपुष्पप्रणयपरिचित्तां वेदबोद्ध्यामयोध्याम्।।११।।

सीतासौमित्रिचित्रं सुरमुनिमहितं रामपादाम्बुजाङ्कं,
शान्तं सत्कामदश्रीवनतरूहनुमद्धारयापूतपापम्,
मन्दाकिन्यम्बुवाहं शुभमधितुलसीपीठमानन्दकूटम्।
भक्त्याभग्नत्रिकूटं किमपि विजयते चिन्मयं चित्रकूटम् ।।१२।।

वन्दे वेदानखेदान् रघुपतिचरितं गायतो भग्नभेदान्,
निःश्वासानस्तपाशान् भुवनरचयितुर्धर्मसन्तापनाशान्।
सत्काण्डान् सत्रिकाण्डान् लसदुपनिषदो ब्रह्मविद्यात्मभूतान्,
नित्यान् श्रीरामरूपान् हिरुगथचतुरो भग्नसंसारकूपान् ।।१३।।

पाराशर्यं द्विजार्यं रघुतिलककलामार्यसत्कार्यमर्यं,
वेदव्यासं विलासं श्रुतिगहनगिरं सृष्टवेदान्तसूत्रम्।।
वासिष्ठं सद्वरिष्ठं शुकमुनिजनकं रामभक्तं पुराणा-
चार्यं द्वैपायनं तं तरणितनुरूचं कृष्णमीडे प्रपत्यै ।।१४।।

रामानन्दार्यपादान् बुधनिकरनतान् वैष्णवान् रामभक्तान्।
स्वाचार्यं देवमीशं गुरुमथहुलसीनन्दनं नन्दिताशम्।।
पारम्पर्यं प्रकृष्टं हरिनिरतसतां सम्प्रदायं, श्रियोऽथ।
प्रेम्णा नत्वा मुदाहं विवृतिमथ दधे सादरं ब्रह्मसूत्रे ।।१५।।

स्वर्भाषा वासवाशासमुदयचतुरध्याययामाभिरामं,
वेदव्यासात् त्रिबोधाम्बकभवमतुलं भक्तिराकानिशेष्टम्।।
रोचिष्णुं भावरश्मिं कलपदकलकं ब्रह्मविद्याप्रकाशं।
सेवन्तां सच्चकोराः श्रुतिरसरसिकाः ब्रह्मसूत्रामृतांशुम् ।।१६।।

।। इति शम् ।।

।। अथ प्रतिज्ञाकारिका ।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं श्रीराघवकृपाफलम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण ब्रह्मसूत्रेषु भाष्यते ।।१।।

क्वाहं मूढः क्व चैवायं बादरायणवारिधिः ।

तर्तुकामस्तथा पीत्त्वा सीतारामपदप्लवम् ।।२।।

सम्प्रदायानुरोधेन विशिष्टाद्वैतदर्पणम् ।
भाषे भाष्यं सतां प्रीत्यै ब्रह्मसूत्रेषु सादरम् ।।३।।

नैव रागान्न च द्वेषान्नाग्रहान्न च मत्सरात् ।
राघवप्रेरितो भाषे शास्त्रसिद्धं यथाश्रुतम् ।।४।।

श्रुतीनां गूढभावानां गवामिव रसं पयः।
वत्सोऽहं वत्सलानां च स्नापयन् भाष्यमारभे ।।५।।

समन्वयो विरोधश्च साधनं फलमेव च।
चतुर्भिर्नामभिश्चात्र चत्वारोऽध्यायकाः स्मृताः ।।६।।

एषु षोडशपादेषु ब्रह्मविद्याविचारतः ।
रामेन्दुः षोडशकलो मया भाष्येण गीयते ।।७।।

श्री सीतापतिः पतितपावनपादारविन्दनिष्यन्दमानप्रेममकरन्दविलुब्धकोटिकीटिपरमहंस- परिव्राजकाचार्यविमलात्ममहात्मयोगी-न्द्रमुनीन्द्रयतीन्द्रशुकसनकादिनारदादिशिवब्रह्मादिपरमभागवत शिखामणि-प्राभञ्जनिप्रभृतिपरमप्रेमपात्रपरिकरनिकररोलम्बनिकुरम्बो निसर्गविभग्ननिजपदपद्मप्रपन्न विपन्नजनजन्मादिजनिविपत्कदम्बः कोटिकोटिकंदर्पदर्पदल-ननिसर्गसुन्दरसकलगुणमन्दिरभववारिधि मन्दरपुरन्दरपुरपुरन्ध्रिमनोनयनाभिरामनीलोत्पन्न नीलमणिनालजलदतरुणतमालातिसिपुष्पसजल नीलघनतरणितनयाजलश्यामशरीरः करकमलमण्डितकोटिकोटितिग्मदीधितिप्रतापभग्नभक्तभीषण पापसमर्जितसकलभुवनशक्तिकलापचापशायकोऽनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकः सीतासमलंकृतवामभागो नित्यमुक्तविशुद्धपरमकृपापात्रप्रणयिजनपरिपीत पदपद्म परागानुरागो रमयन् सकल गुणातीतनिजसेवानिरततृणीकृत स्वर्गापवर्ग परमैकान्तिक जनान्। कृपादृष्टि निष्टान्दसुधया तिरस्कृतैधात्र रचनाचातुरीकतुरीयकारुणीकादम्बिनाहृतसुजनपापतापकलापभगवत्कृपाप्रसादैकलभ्यसकललोकातीतवीतरागभयद्वेषविहतैषणात्रितयक्लेषसीतेशशेष निःशेषपरमेश्वरानुकम्पाभाजनाभूतपूतात्ममहात्म- निकरसेवित बिबुधेशपुरीसमातुरीकरणकुशलकलितकलाकौशलनिरस्तसकलकश्मलनिटिल- लोचननयननिचयनीराजितपरमपावनप्रकाशसंराधितनिखिलनिकेते श्रीसाकेते वेदान्तवेद्यो विगलितखेदो

नीरागनीरसनिजसेवारसिककारूण्यकल्लोलिनीपरिवर्तपरिश्रमविभ्रममनोरमभावुकपरिचर्यमाणपदपद्मयुगलो रामाभिधानो हरिर्महाविष्णुः श्री राघवो विजयतेतराम्।।

स च निरस्तसमस्तहेयगुणको नितान्तनिरपेक्षो निर्ममो निरहंकारो विभुर्व्यापकोऽपि श्री दशरथकौसल्याभक्तिभागीरथीललितकीलाललालितश्रीमच्चरणतामरसः, भक्तिवशः पुरुषः भक्तिरेवैनं नयति इत्येवं प्रभृति श्रौतवचनानि-चरितार्थयन् व्यापकोऽपि स्वीकृतकोसलाधीशपट्टमहिषीगर्भाशयो निराशयो, निराशीरपि चरितार्थितदशग्रीवनिधनेच्छुकब्रह्मादिविबुधवरूथयक्षगन्धर्वकिन्नरनरयोगीन्द्रमुनीन्द्रविप्रवृन्दवृन्दारकाशीर्निरतिशयनिरवधिकसकलकल्यागुणगणैकनिलयः निर्गुणो निराकारोऽपि सगुणः साकारः सकलश्रीवैष्णवसमपह्नतदुरितसुकृतपुञ्जीभूत परमपूतनिराकृतपञ्चभूतप्रणतप्रेमभूतभक्तभावाभिभूतधर्मवर्मसत्कर्मसंग्रहमनुजायमानश्रीविग्रहो विहित-प्रपन्नजनपीडकखलाग्रगण्यासुरस्वभावनिरन्तरनिगूढराक्षसभावदशग्रीवप्रभृतिसततकृतभागवतभजनपप्रत्यवायनिखिलनीचनिकायनिग्रहो विधित्सितनिजचरणसरोरूहपरागरागरसिकमनोरोलम्ब भजनाबलम्बसंकलितसमस्तभक्तसद्गुणकदम्बगौतमदारजनकभार्गवगुहकोलकिरातवनचरव्रातशबरीजटायुप्रभञ्जनतनयतनयसुग्रीवनतग्रीवविभीणणादिनितान्तप्रीतिभाजनसमधिकानन्यभगवत्समर्पणैकसाधनधनधन्यवदान्यसम्मान्यकपिभल्लूकतारेयप्रभृतिपशुवृत्तिश्रीमुखमृगाङ्कनिर्गलत्सौन्दर्यसुधापाननिवृतिनिरतवन्यानुचरवानरप्रवरपरमानुग्रहः संस्कृतसंसारसागरबैदिकधर्ममर्यादासेतुसकलजगज्जन्मादिहेतुरपि काश्यपेयकुलकेतुःश्रीरामाभिधानश्रीहरिः प्रतिकल्पं प्रतिसप्तममन्वन्तरं प्रतिचतुर्विंशत्रेतं समधिश्रीमदायोध्यकश्रीचक्रवर्तिदशरथराजनिकेतं परिपूर्णतमः सद्गुणसम्पन्नः कोटिकोटिकन्दर्पकमनीयः परमरमणीयः श्रीभरतलक्ष्मणशत्रुघ्ना-भिधानस्वानुजैरनुगम्यमानो वीरवरिष्ठः निरभिमानो धनुर्वेदनिष्ठो, वीरवरिष्ठः सम्मानितवसिष्ठो मैथिलीदारो जिहीर्षितभूतलभूरिभारो भुवनाभिरामो भगवानरामः श्रीसीताभिरामः समाविर्भवति।

स च राजाधिराजो सकलविलक्षणोऽपि महाराजलक्षणः सत्कुर्वाणोऽनुकृतोपकुर्वाण- मर्यादामानदण्डोविलसद्वामकरकञ्जचण्डकोदण्डो महाविष्णुः वसिष्ठविश्वामित्रभरद्वाजवाल्मीक्यगस्त्यप्रभृतिमुनीन्द्रान् निवृत्तिलक्षणम् श्रीमदायोध्यकजनकाहल्याप्रभृतीन् प्रवृत्तिलक्षणम् श्रीमन्मारूतिजटायुशबरीविभीषणादीन् प्रपन्नान् प्रपत्तिलक्षणधर्मं लोकसंग्रहैकलक्ष्यं ग्राहयति। तस्यैवभगवतो मैथिलीपतेः प्रणतदुरितभञ्जनस्य जनार्दनस्य जगज्जनिमतो निसर्गनिश्श्वासभूतवेदानां चरमकाण्डसिद्धान्तसंग्रहो जागर्ति जगतीतले उपनिषदिति समनादिकालतो

श्री भागवतशिखामणीन् भूरिभागभाजनी कुर्वन्।

स एवोपनिषद्भागो "वेदान्त" इत्यभिधीयते; वेदानां चरमभागत्वाच्छिशिरोभूतत्वाच्छ्रुतीनाम्, 'वेदानतति महातात्पर्यनिरूपणेन बध्नातीति' व्युत्पत्तेः, सुष्पष्टं वेदसिद्धान्त प्रतिपादकत्वाच्च। तत्राज्ञातज्ञापकत्वरूपरहस्यमण्डिते समुपरज्यमानपण्डिते परिष्कृतपरभागे समुपजृम्भमाणानां परःशतानां सामान्यमस्तिष्वमानवमनीषादुर्ज्ञेयभूतानां निजभजनोपयोगिनां नितान्तनिगूढसिद्धान्तप्रकाण्डानां समाविष्करणाय स एव भगवान् रामः सत्यवतीगर्भतो महर्षिपाराशरं निमित्तीकृत्य स्वकलया वेदव्यासरूपयानुरूपया विज्ञानरूपया समवतीर्य सप्तचत्वारिंशदधि-कपञ्चशतसंख्यकसूत्रैः समुपनिबबन्ध वेदान्तदर्शनापरनामधेयं भिक्षुसूत्रापरपर्यायं संकलितभगवद्भक्तिप्रपत्तिसहस्त्राधिकसदुपायं ब्रह्मसूत्राख्यं ग्रन्थरत्नम्। तस्यैव भगवतो व्यासस्य बादरायणाचार्याख्यया विपश्चिन्मचर्चिकाचर्याविषयस्य चैतस्य ब्रह्मसूत्रस्य निगूढरहस्यं बोधयितुकामैर्निष्कामैरपि चिकीर्षितश्रीसीतारा-पदपद्मवाक्यप्रणामैर्भद्रपरिणामैः श्रीबोधायनश्रीराघवानदसुशीलानन्दवर्धनपुण्यसदनपुण्यशरीर-परमधीरजगद्गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यचरणप्रमुखविद्वन्मुखैर्मुखतो लेखतश्च समनेकान्यनेकधा व्याख्यानानि व्यधायिषत। तदीयमेव पन्थानमनुसरता संस्मरता च श्रुतिसिद्धान्ताननुस्मरता च श्रीसीताभिरामं श्रीरामं पिपावयिषता च सता शताधिकदूषणदूषितां स्वगवीं निर्जरगव्या श्रुतिसुरगवीपञ्चगव्यमिव मयापि श्री राघवकृपाभाष्यं भाषितुं श्री राघवकृपयैव प्रक्रम्यते।

अथेदं ब्रह्मसूत्रं पाराशरात्मजवेदव्यासवर्यैः प्रणीतमुताहोऽपरेण केनचिद् बादरायणाचार्येण? इति चेत्, पाराशर्यकृष्णद्वैपायनभगवद्वेदव्यासवर्यैः बादरायणाचार्यापरनामधेयैः प्रणीतमेतद्ब्रह्मसूत्रमिति वयम्। अत एव श्रीमद्भगवद्गीतासु "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (गी० १३/४) इति प्रण्यगादिभगवता। यत्तु ब्रह्मसूत्रपदैरित्यस्य ब्रह्मवाचकसूत्रात्मकपदैरिति केनचिद्वान्तं तन्नास्तिकप्रलपितमिति नितरामुपेक्षणीयम्। विशेषस्त्वत्रैव गीतासु मद्विहिते श्रीराघवकृपाभाष्ये द्रष्टव्यः। वस्तुतस्तु भगवान् व्यास एव बादरायणापरनामा, बदराणां समूहो बादरम्, बादरम् अयनं यस्य सः बादरायणः। अत एव श्रीमद्भागवते-

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः।
अत एव शुकाचार्योऽपि बादरायणिः।।

(भा० १/७/१)

एवमाभाषितः पृष्टः स राजा श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः।।

(भा० १/१९/४०)

अत एव श्रीभाष्यमङ्गलाचरणे साटोपमुदघोषयत् ब्रह्मसूत्रप्रणेतृत्वेन भगवतो वेदव्यासस्य नाम विख्यातलक्ष्मणनामा शेषांशो भगवान् रामानुजाचार्यः-

पाराशर्यवचःसुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृतां।
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसंजीवनीम्।।
पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिता-
मानीतां तु निजाक्षरैः सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम्।।

स पाराशर्यो वेदव्यास एव, प्रमाणञ्चात्र श्रुतिः-

"स होवाच व्यासः पाराशर्यः।"

तथैवाह भागवते भगवान्नारदः-

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मनस एव वा ।।

१/५/२

अत एव भगवान् पाणिनिरपि पाराशर्यकृतं भिक्षुसूत्रं स्मरति-

"पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः"।

(४/३/११०।)

यत्तु कैश्चिदुच्यते यद् भिक्षुसूत्रं ब्रह्मसूत्रात् पृथक्, तन्न रोचयामहे। भिक्षवो विरक्ताः सन्यासिन इति श्रुतिपुराणेतिहासप्रसिद्धम्। भिक्षूणां सूत्रमिति भिक्षुसूत्रम्। सम्बन्धश्चाध्येयाध्येतृभावः। भक्तिपक्षेऽपि भिक्षन्ते याचन्ते भगवच्छरणागतिं ये ते भिक्षुकाः। **"सनाशंसभिक्षउः"** (पा० ३/२/१६८) इत्यनेन **"उप्रत्ययः।** अत एव" 'तवास्मीति च याचते' इति वाल्मीकीयं सङ्गच्छते। अत एव च-तूँ दयाल दीन हौं तू दानि मैं भिखारी (वि० प०-७८) इति श्रीविनये गोस्वामितुलसीदासः। तथा च श्रीभागवते भ्रमरगीते गोपिकाः-

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्।
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृत्य दीना।
बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति।।

(१०/४७/१८)

तस्माद् भिक्षुसूत्रं ब्रह्मसूत्रमेव। यत्तु केचन नास्तिकाः प्रच्छन्नबौद्धाः कालकूटं वमन्तिस्म यद् बादरायणाचार्योव्यासात् पृथक् कश्चिदन्यः, तत्सर्वथैवानुचितम्। ननु महर्षीणां त्रिकालज्ञत्वाद् द्वापरेऽपि बौद्धमतसमुपस्थापनस्य सर्वथैवोपयुक्तत्वात्, 'अपि च स्मर्यते' इति ब्रह्मसूत्रे, "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी० १५/७) कथं सङ्गतिः। न हि खलु कोऽपि सुधीः स्वस्य कृतौ स्वकृतेरेव प्रमाण्यमुपस्थापयितुं प्रभवेत, तस्मात् वेदव्यासात्पृथग्बादरायण इतिचेन्मैवम्, श्रीगीतायाः भगवदुक्तत्वात्तस्यां वेदव्यासकर्तृत्वाभावात् तत्प्रामाण्यस्य च ब्रह्मसूत्रे सर्वथैवौचित्यात्। श्रीमद्भगवद्गीता हि भगवतः कृष्णस्य मुखारविन्दान्निःसृता वेदव्यासेन मध्येमहाभारतं ग्रथिता। अत एव "व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्" इति पैशाचभाष्यम्। किञ्च महाभारतरचयिता भगवान् वेदव्यासोऽपि श्रीमद्भगवद्गीतां स्वरचितां न स्वीकरोति। अत एव प्राह-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।।

(म० भ० भी० पर्व ४३/४)

इति स्वयं पदोपादानेन वेदानामिव श्रीगीताया अप्यपौरूषेयत्वं सिद्धम्।

ननु बौद्धजैनादीनां खण्डनं द्वापरे तदनाविमावादसम्भवमिति चेन्मैवं भ्रमितव्यम्। वेदव्यासस्य चिरजीवितत्वात् त्रिकालज्ञत्वाच्च तत्सम्भवोपपत्तेः। तथा ह्यभियुक्ताः स्मरन्ति-

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमाँश्चविभीषणः। कृपः परशुराश्च सप्तैते चिरजीविनः।। इति

किञ्च शाङ्करभाष्ये टीकाकृच्छिरोमणीनां श्रीवाचस्पतिमिश्रवर्याणामपि ब्रह्मसूत्ररचयितृत्वे वेदव्यासस्यैवाभिमतिः। तथा हि तत्रत्यं भामती मङ्गलाचरणम्-

ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे। ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भागवतो हरेः।। (ब्र० सू० शां० भा० भा० मं० ५)

यच्च-ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणिः "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १/४/७) इत्यादिभिर्हि ब्रह्मसूत्रत्रपदैरात्मा ज्ञायते (गीता० शा० भा०

१३/४) इति। तत्तु मायावादमलीमसमस्तिष्कज्वरप्रलपितमेव। को नाम शास्त्रज्ञः सूत्रशब्दस्य वाक्यार्थत्वं मन्वीत। को नाम चन्द्रशब्दस्य पावकाभिधेयं समध्यवस्यति। तस्माद् ब्रह्मसूत्रमेतद् वेदव्यासप्रणीतमित्येव समाकूतम्। अत एव गरुडपुराणे भगवान् वेदव्यासः श्रीमद्भागवतं ब्रह्मसूत्राणामर्थं मन्यते। तद्यथा-

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।।
पुराणां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः।
द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेदसंयुतः।।
ग्रन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः।

किञ्च श्रीमद्भागवतेऽपि वेदान्तशब्देन वेदान्तसूत्राणां स्मरणम्। यथा-

सर्ववेदान्तसारं हि श्री भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्।।

(भा० १२/१३/१२)

किञ्च गारुडे भागवतं ब्रह्मसूत्राणामर्थं कथयित्वा वेदव्यासेन स्वयमेव भागवतादपि ब्रह्मसूत्राणां प्राचीनत्वं स्वकर्तृत्वञ्चोक्तम्। यदि व्यासतः स्यादर्वाचीनो बादरायणस्तर्हि भागवतं ततः प्राचीनं तद्रचितसूत्राणमर्थरूपं कथं मन्येत वेदव्यासः। नहि कोऽप्याचार्यः स्वस्मादत्यन्तमर्वाचीनस्य सामान्यस्य कृतिनः भविष्यतां सूत्राणामर्थसंग्रहरूपं भागवतसदृशं विशालं ग्रन्थं निर्मायेत। न हि भगवान् जीवकृतिव्याख्यां करोति। जीवो भगवन्तं भगवत्कृतिं वा व्याचक्षीत नाम। अत एव श्रीगीता पञ्चदशे स्वयमेव वेदान्तकृदिति प्राह। यथा- **"वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्"** (गी० १५/१५)

'वेदान् अन्तति तात्पर्यनिर्णयत्वेन सिद्धान्तयति सूत्रच्छलेनेति वेदान्तं' ब्रह्मसूत्रम्, तद्वेदान्तं ब्रह्मसूत्रं करोति रचयति चतुर्भिरध्यायैर्वेदव्यासो भूत्वा यः सः वेदान्तकृद्वेदव्यासोऽहमेव। कृष्णस्य वेदव्यासावतारत्वं भागवते प्रसिद्धम्। यथा-

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोःशाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः।।

(भा० १/३/२१)

अत एव श्रीगीतायामपि भगवान् श्रीकृष्णः व्यासं स्वतेजोमयांशत्वेन प्राह- **"मुनीनामप्यहं व्यासः"** (गी० १०/३७)।

न च वेदान्तशब्देनोपनिषद्गृह्यतामिति वाच्यम्। तथा सति भगवतो वेदान्तकर्तृत्वे श्रुतीनां पौरूषेयत्वापत्तिः न चेष्टापति; तर्हि श्रुतिविरोधः श्रुतिर्हि वेदं भगवतो निश्वासमाह न तु रचनाम्। तथाहि 'अस्य महतो निश्वासमेतत् ऋग्वेदोयजुर्वेदः समाथर्ववेदौ' इत्यादि। न चोपनिषद्भागो वेदबहिर्भूतमिति वाच्यम्, तथा सति तासु श्रुतित्वानापत्तिः। तस्माद् मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्येवाह पारस्करः। तस्माद् वेदान्तं नाम ब्रह्मसूत्रमिति सिद्धम्। अत एव वेदान्तं वेदात् पृथङ्मन्यते भगवान् वेदव्यासः पाद्मे। यथा-

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः।
बोध्यमानौ तदा तेन कथञ्चिच्चोत्थितौ बलात्।।

(प० पु० उ० २/२७)

यत्तु वेदान्तकृदित्यस्य वेदान्त सम्प्रदार्यार्थकृत् तत्रु तदीयदुराग्रहादन्यन्न किञ्चित् । वेदान्तशब्दस्य वेदान्तसम्प्रदायार्थः कुतो गृहीतः शङ्कराचार्येण? तस्माद् वेदान्तकृदित्यस्य ब्रह्मसूत्रकृद् बादरायणो व्यासोऽहमेवेत्येव सिद्धान्तः। इति विरम्यते।

"श्री राघवः शन्तोनु"

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।

।।श्रीमद् रामानन्दाचार्याय नमः।।

।। प्रथमाध्याये ।।

प्रथमपादः

अथ जिज्ञासाधिकरणम्-

कस्य जिज्ञासा? प्रत्यक्षतः सिद्धस्य? नहि तावदिन्द्रियैरेव ज्ञातत्वात्। नवानुमानगोचरस्य, तत्रैव प्रमितत्वेन गतार्थत्वात्। न चोपमानेन, निरूपमत्वाद् ब्रह्मणः। अत एव श्रुतिः- **न तस्य प्रतिमास्ति**। तर्हि कुतोऽस्य जिज्ञासा? इति चेदागमात्। अत एव प्रोक्तम्-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्योपायो न विद्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

कस्य जिज्ञासा? परमेश्वरस्येति ब्रूमः। किं नहि जीवस्य न वा प्रकृतेः? इति चेत्, नानयोः स्वातन्त्र्येण। पारतन्त्र्येण इति चेत्, प्रकामम्। तत्र राजा गच्छतीति वाक्ये विशेषणतया राज्ञीसैन्यसचिवसुतबलवाहनगमनस्य राज्ञो गमने गतार्थत्वादिहापि विशेषणीभूततयोः जिज्ञासायाः ब्रह्मणो जिज्ञासायां स्वयमेवान्तर्भावोपपत्तेः। इह त्रीणि तत्वानि ब्रह्म जीवः प्रकृतिरिति। ब्रह्मणो विशेषणत्वेन प्रकृतिजीवयोः गौणत्वव्यपदेशः। द्वयोश्च ब्रह्मणा सह शरीरशरीरिभावः। बृहदारण्यके अन्तर्यामिब्राह्मणे **'यस्य पृथिवी शरीरं', 'यस्यात्मा शरीरम्'** इत्यादि निर्देशात्। **जगत्सर्वं शरीरं ते** इत्येवं बहुत्र स्मृतत्वाच्च। यत्त्वध्यासवादाश्रयणेन समध्यस्तेन जीवीभूतेन अज्ञानोपहितचैतन्येन विस्मृतस्वस्वरूपेण प्रत्यगात्मना परमात्मनो जिज्ञासा। तत्तु दुराग्रहग्रहिलमस्तिष्कज्वरज्वालाविप्लुष्ट विवेकभूरुहग्रैष्मभूमिका-रूढमतिभूमिसमुत्क्षिप्तरजःसमुपद्रवमिव सर्वथैव निरर्थकम्। परमप्रकाशे ब्रह्मण्यविद्यायाः प्रसरानुपपत्तेः।

पूर्वं तावद्विचारणीयं यदविद्या किंरूपा, प्रकाशाकारा तमोरूपा वा? आद्या चेत्समानशीलत्वाद् ब्रह्मणः समावरणे नितरामनीशा। अन्त्या चेत्, क्षोदीयस्त्वाद् ब्रह्मणः न प्रभवा तिरोधातुम्। न ह्यल्पपरिणामो मेघः प्रचण्डज्योतिर्मण्डलं मार्तण्डं समाच्छादयितुं प्रभवेत्। पुनः सत्या असत्या वा? सत्या चेदविद्या, द्वित्वताङ्गतं भवतामद्वैतम्। असत्या चेत् सत्यस्य ब्रह्मणस्तिरोधाने

कथङ्कारं क्षमेत। किमाश्रया सा? ब्रह्माश्रया सा चेत्, स्वाश्रयं कथं विमोहयेत्। निराश्रया चेद् वस्तुत्ववत्येव न सा। तस्मान्निर्मूल एव मायावादिकल्पितोऽध्यासवादः। अतोऽभेदवादे न घटते ब्रह्मजिज्ञासा।

ब्रह्मजीवभेदवादे तु जीवस्याणुत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च ब्रह्मकर्मिका जिज्ञासा सुसङ्गतैव। तत्र सर्वज्ञं ब्रह्म, अल्पज्ञमिव स्वमेव कथं जिज्ञासेत? यद्यसत्यं जिज्ञासनं तर्ह्यलं शास्त्रोपदेशेन, सोऽप्यसत्य, इति चेत्तर्हि त्वदद्वैतवादोऽप्यसत्यो, ऽसत्येन त्वयोद्भासितत्वात्। तस्माद् "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया," "ऋतं **पिबन्तौ सुकृतस्य लोके"** इत्यादि श्रुतिसहस्रानुरोधादल्पज्ञो जीवः स्वाचार्यं समधिगम्य भवबन्धनविमोक्षाय ब्रह्म जिज्ञासत इति सर्वमनवद्यम्। तत्र नित्यप्राप्तत्वेऽपि सेव्यत्वेन तस्य प्राप्यता। अतः प्राप्यस्वरूपं प्राप्तिप्रयासनिरस्तस्य स्वस्य स्वरूपं ब्रह्मप्राप्तेरूपायानां स्वरूपं ब्रह्मप्राप्तिफलस्वरूपम्। ब्रह्मप्राप्तौ प्रत्यर्थिभूतायाः मायायास्तु स्वरूपमित्यवान्तरतया ब्रह्मकर्मकजिज्ञासायां क्रोडीकृतानि जिज्ञास्यानि। तदर्थं ब्रह्ममीमांसेयं प्रारभ्यते भगवता परमकारूणिकेन बादरायणेन। तस्याश्च प्रथमोऽयं समन्वयाध्यायः। तस्य च प्रथमे पादे प्रथममिदं जिज्ञासाधिकरणम्। तस्य च प्रथममिदं सूत्रम्।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा/१/१/१

तैत्तरीयोपनिषदि भृगुवल्ल्यां भृगुः निजपितरं समुपसृत्य ब्रह्मोपदेशाय प्रार्थितवान्। तं महर्षिर्वरूणः पञ्चस्वनुवाकेषु **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'** इति पञ्चकृत्वो निरदिशत्। तत्र विजिज्ञासस्वेति क्रियाघटितजिज्ञासा शब्दं ब्रह्मशब्दञ्च अथ- अतः शब्दौ योजयित्वा प्रथमं सूत्रं समसूत्रयद् भगवान् वेदव्यासः। अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति।

अथ अतः ब्रह्मजिज्ञासा। अथ इत्यव्ययम्, अतः इति सर्वनामप्रतिरूपकव्ययम्। ब्रह्मजिज्ञासा इति समस्तं पदं प्रथमान्तम्। त्रिपदमेतत् सूत्रम्। सूत्रत्वं नाम अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वम्। तथा चाहुः-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

"सूत्रवेष्टने" (पा० धा० १९०८) इत्यस्माद्धातोः पचाद्यच् प्रत्ययान्तः कर्तरि निष्पद्यते सूत्रशब्दः। "सूत्रयति वेष्टयति सम्पूर्णसिद्धान्तानेकत्र संकलयति यत्तत्सूत्रम्। अथशब्दोऽत्रानन्तर्यपरः। कस्मादनन्तमिति चेत् कर्मकाण्डात्।" वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरमिति भगवत्पूज्यपादबोधायननिर्देशात्, तथैवौचित्याच्च। तथा

हि षोडशाध्यायीयं मीमांसा। तत्र द्वादशभिरध्यायैर्वेदविहितकर्मप्रतिपादकवाक्यानां पूजितविचारैस्तात्पर्यं मीमांसितम्। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्येवमादिभिः तत्समाप्तौ तस्यैव पूर्ववृत्तत्वात्। तस्मात् धर्मादथ अनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासाया एव सर्वथैवौचित्येन प्राप्तत्वात्। **"तमेतं ब्राह्मणाः विविदिषन्ति वेदानुवचनेन, यज्ञेन, दानेन, तपसा नाशकेन"-** इति श्रुतावपि धर्मतात्पर्यकाणां वेदानुवचनयज्ञदान-तपोऽनाशकानांकरणमूलकतृतीयानिर्दिष्टानां विविदिषारूपक्रियायाः परिनिष्पत्तिविषये प्रकृष्टोपकारकक्रियाजनकत्वावच्छेदककारकत्वेन विहितत्वात्। काठकेऽपि ब्रह्मप्राप्तौ दुश्चरितानां प्रतिबन्धकत्वेनोक्तत्वात्। तद्यथा-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

(कठ० १/२/२४)

सुचरितदुश्चरितानाञ्च धर्ममीमांसैकसमधिगम्यत्वात्। ब्रह्ममीमांसायाः पूर्ववृत्तत्वेन धर्ममीमांसायाः न्याय्यत्वात्, तस्याः ब्रह्ममीमांसापूर्ववर्तित्वं युक्तम्। तस्माद्धर्मजिज्ञासापरिसमाप्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति वयम्। यतोहि धर्मजिज्ञासाफलभूतवेदविहितवाक्यनिःसन्दिग्धतात्पर्यसमाश्वासितान्तः करणेन विहितधर्मानुष्ठानजनितवैराग्यरागसमासादितभगवच्चरणारविन्दसम्बन्धापरपर्याययोगं युञ्जानो ब्रह्म जिज्ञासितुं प्रभवति। अननुष्ठितशास्त्रीयधर्मानुष्ठानो न विषयेभ्यो विरज्यते अनासादितविरागो हि नानुरज्यते ब्रह्मजिज्ञासायाम्। यथोक्तं श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यपरम्परीपारदृश्वहुलसीहर्षवर्धनश्रीमत्तुलसीदासचरणैः श्रीमन्मानसे-

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना।।

एवमग्रेऽपि भक्तिसाधनवर्णनप्रकरणे गोस्वामिचरणाः-

प्रथमहि बिप्रचरण अति प्रीती। निज निज कर्मबिरत स्रुति नीती।।
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपजि अनुरागा।।

(मा० ३/१६/६-७)

रूपान्तरम्-

पुरा स्याद्विप्रचरणे प्रीतिर्निरतिशायिनी।
ततो श्रौत्या भवेन्नीत्या निष्ठापि स्वस्वकर्मणि।।
एतस्य च फलं तावद् विषयेभ्यो विरागता।
ततो मत्प्रापके धर्मे ह्यनुरागः प्रजायते।।

तस्माद् धर्मजिज्ञासायाः अनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा। मायावाद्याचार्यैः ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्तत्वं नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रफलभोगविराग-शमादिषट्सम्पन्मुमुक्षुत्वानामुक्तं तत्वापातरमणीयम्। एषु सम्पद्यमानेषु नैरर्थक्यापत्तेर्ब्रह्मीमासायाः। ब्रह्ममीमांसयैव ब्रह्मणो नित्यत्वं संसारस्य चानित्यत्वं विवेच्यते। जगदनित्यत्वविवेकेनैव सांसारिकस्वर्गीयफलेभ्यो वैराग्यं जायते। जगतः क्षणभङ्गुरत्वबोधेनैव शमादिषट्सम्पत्तिरूदेति। शमदमतितिक्षोपरति-श्रद्धासमाधानानां स्वत एव समुद्भावात्। यद्यप्युपरतेर्द्वितीयसाधनान्तर्भावात् पृथक्त्वेन तार्तीयक्यां तदुपादानं नोचितम्। किञ्च मुमुक्षा जिज्ञासानन्तरं भवति, मुमुक्षुर्हि परमात्मानं शरणं प्रपद्यते। **"मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"** (श्वेताश्व० ६/१८) प्रपत्तिश्च प्रशान्तप्रपद्यजिज्ञासस्यैव भवति, अजिज्ञासितवतः प्रपत्याश्रयं तस्मिन् महाविश्वासासम्भवात्। किञ्चेमानि वैशिष्ट्यानि जिज्ञासायां न हेतुभूतानि, किं तर्हि? ब्रह्मविद्यागृहीतस्वाभाविकसमुपादानि। तथा हि तत्रस्या श्रुतिः-

तस्मै स विद्वान्नुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।

(मु० उ० १/२/१३)

किञ्च जिज्ञासाशब्दो विविदिषापर्यायः, ज्ञाविदोरवबोधनार्थत्वात्। ननु ज्ञाधातुर्न विदः समानार्थः, 'ज्ञो विदर्थस्यकरणे' (पा० अ० २/३/५१) इति निर्देशात्, इति चैन्नैवम्; अविदर्थस्य ज्ञः करणे षष्ठीनिर्देशाज्ज्ञा-धातुर्विदर्थोऽप्यवगम्यते। अन्यथा अविदर्थस्येति पर्युदासो व्यर्थः स्यात्। विविदिषायाञ्च तमेतमिति श्रुत्या हेतुभूतत्वेन निगादितानि वेदानुवचनयज्ञतपोऽनाशकानि, तेषाञ्च परिशोधिका धर्ममीमांसा, ततो ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्तत्वं तस्या एव समुचितम्। किञ्च अथातो धर्ममीमांसा इत्यारभ्य "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" इत्येवमन्ता मीमांसा शोडषाध्यायी चैकैव। तत्र द्वादशभिरध्यायैर्वेदव्यासशिष्येण महर्षिणा जैमिनिना लोकधर्मो विचारितः। तदनन्तरं तद्गुरुणा जगद्गुरूणा वेदव्यासेन वेदानां परमतात्पर्यत्वेन भागवतधर्मो विचारितः। अत एव प्रकरणस्याभिधानियामकत्वादानन्तर्यं ब्रह्ममीमांसायाः धर्मजिज्ञासायाश्च पूर्ववृत्तत्वम्। यद्वा मङ्गलार्थोऽप्यथशब्दः।

यथोक्तम्-

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणाः पुरा।
कण्ठं भित्वा बहिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।

एवं परममङ्गलमयी ब्रह्मजिज्ञज्ञासा कर्तव्या। ब्रह्मणः श्रीरामापरपर्यायस्य

परममङ्गलमयत्वेन तज्जिज्ञासाया अपि सुतरां मङ्गलमयत्वात्। यथोक्तं कालिदासेन रघुकाव्ये-

राम इत्यभिरामेण वपुषा तेन चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्।।

(रघु० १०/६७)

अत एव स्मार्ता आमनन्ति-

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनं हरिः।।

यत्तु कैश्चिदत्रत्यवाक्ये समन्वयाभावादथशब्दस्य मङ्गलार्थत्वं प्रत्याख्यायि तत्तु सततममङ्गलमयचिन्तनचर्वितभक्तिभावकुत्सितमस्तिष्कजन्य विप्रलपितत्वादुपेक्ष्यम्। निपातानां वाचकत्वद्योतकत्वान्यतरपक्षस्वीकारेऽपीह सुतरां समन्वयः। मङ्गलत्ववाचकत्वेऽप्यथशब्दस्य तदर्थान्वयो वाक्येऽस्मिन् समुदायावयवयोरुभयत्र सुगम एव। तथाहि- कर्मकाण्डानन्तरं परममङ्गलमयी ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। अवयवेऽन्वये सति कर्मकाण्डादनन्तरभाविनी परममङ्गलमयस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा कर्तव्या।

अथ नित्यमङ्गलमयत्वे ब्रह्मणः किमनेनाथशब्दद्योतितमङ्गलार्थेनेति चेदधिकस्याधिकं फलमिति गृहाण। कोपादेयतात्रेति चेत्पामराणामपि ब्रह्मजिज्ञासाप्रवृत्तिप्रयोजकत्वम्। संसारजिज्ञासातो ब्रह्मजिज्ञासायाः वैलक्षण्यद्योतनार्थञ्च। सततममङ्गलस्य संसारस्य जिज्ञासाप्यमङ्गलमयी। ततो विलक्षणा निरस्तसमस्तामङ्गला संकलितसकलमङ्गला ब्रह्मजिज्ञासा माङ्गलिकेन जनेन कर्तव्यैवेति तस्यां जिज्ञासुप्रवृत्तिं प्रयोजयन् समुपयुक्तोऽयं ब्रह्मसूत्रे प्रारम्भे प्रयुक्तोऽथशब्दो मङ्गलार्थः।

अथ प्रारम्भार्थोऽप्यथशब्दः स च तव्यार्थसमन्वितवाक्ये समन्वेतव्यः। कर्मकाण्डादनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा प्रारम्भणीयेति वाक्यार्थः। यद्वा तिङन्तार्थोऽयं, कर्मकाण्डादनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासाप्रकारः प्रारभ्यते। एवमेव पुरोदितेषु समस्तेष्वर्थदर्शनेषु दृष्टत्वात्। यथा- **अथातो भक्तिजिज्ञासा** (शा० सू० १/१/१) **अथातो धर्मजिज्ञासा** (पू० मी० १/१/१) **अथ योगानुशासनम्** (यो० सू० १/१/१) अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः (ना० भू० सू० १/१/१) **अथ शब्दानुशासनम्** (पा० अ० पा० म० भा० १/१/१)

किञ्चाधिकारार्थोऽप्यथ शब्दः समुपयुज्यत एवात्र। यत्तु ब्रह्मविद्याया

अनधिकार्यत्वान्नाधिकारार्थोऽयमथशब्द इति- कश्चनालपत्तन्मन्दम्; नात्र ब्रह्मजिज्ञासायामधिचिकीर्षया समन्वेतुं समीहामहे, किन्त्वध्याहृतजिज्ञासुपदार्थेन। जिज्ञासुर्जीवः, स चानादिकालेन वासनाप्रबलतरतरलतरङ्गपापपाथोराशिभग्न-परमहंसपरिव्राजकप्रभृतिधैर्यपोतसंक्षपितनिरू, पास्तिक- विज्ञानदिवाकरोद्योतषडूर्मिन-क्रसंकुलविषयविकारदुर्विचारदुराचारमहामकराकुलकदाचारावर्तभीष णक्षणभङ्गुरम-नोभवमहातिमिङ्गिलविश्रम्भणगभीरधीरहृदय क्षोभणमोह-जलजन्तु-नागरदुष्पारसंसारसागरतितीर्षुः परमप्रचण्डव्यामोहचण्ड-दीधितित्रितापता-तप्यमानमायाभुजङ्गिनीभयभीतामित- सन्तापपरीतजीवो समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुं ब्रह्मजिज्ञासमानो निरभिमानः समुपसर्पति। तत्र स जीवः ब्रह्मजिज्ञासायामधिकृतः न द्विजातीतरो भवति समित्पाणिः। तस्य जीवस्य नैसर्गिकाधिकारद्योतनार्थं समुपयुक्तोऽयमथशब्दोऽधिकारार्थः।

यद्वा ब्रह्मजिज्ञासा नाम परमेश्वरप्रपत्तिप्रारम्भिकावस्था, तस्यां सर्वेषामधिकारः। यथा प्राहुः पुण्यसदनशर्मपुण्यपुञ्जभूता अस्मत्सम्प्रदायाचार्यचरणाः जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्याः-

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः शक्ता अशक्ता पदयोर्जगत्पतेः।
अपेक्षते तत्र कुलं बलञ्च नो न चापि कालो न विशुद्धतापि वा।।

इति प्रपत्तौ जीवमात्राधिकारं सूचयन् नितरां समुपयुक्तसंकल्पो निर्विकल्पोऽधिकारार्थोऽथशब्दः समशब्दि शब्दप्रमाणपारावारीधुरीणेन भगवता बादरायणेन। अत्रायं संग्रहः-

आनन्तर्येऽधिकारे च प्रारम्भे चापि मङ्गले।
अथशब्दः प्रयुक्तोऽयं प्रथमे प्रथमो मतः।।

एतस्मादित्यतः, इह एतच्छब्दाद्यादित्वात्तसिः, **"एतदोऽन्"** (पा० अ ५/ ३५) इत्यनेनैतच्छदस्य अनादेशः अत्र हेतौ पञ्चमी एतच्छब्दवाच्यं कर्म, तस्य सर्वनामत्वेन बुद्धिस्थत्वोपलक्षितधर्मशक्यवात्। कर्मणामनित्यत्वम्। यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। (छान्दोग्य ८/१/६) इति श्रुतेः। अत एतस्माद् दृश्यमानात्कर्मणामनित्यत्वाद्धेतोः। यथोक्तं मुण्डकोपनिषदि-

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेव यन्ति।।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।।

(मुण्डकोपनिषद् १/२/७-१०)

इत्येवं श्रुतिदर्शितात् एतस्मात् कारणात् कर्मानित्यत्वरूपात्। यद्वा एतच्छब्दः मुण्डकोपनिषदः प्रथममुण्डकस्य द्वितीयशकलीयद्वादशमन्त्रपरामर्शकः। ब्रह्मजिज्ञासा मन्त्रो हि एतच्छकलीयत्रयोदशः ततः पूर्वमन्त्रस्यैव सर्वनाम्नः परामशौंचित्यात्। सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शित्वस्य नैसर्गिकत्वात्। तद्यथा-"**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणे निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन**" इति

(मुण्डक १/२/१२)

इह मन्त्रे वर्णितात् लोकपरीक्षारूपाद्धेतोः संसारनिस्सारता-निरीक्षणसंजातनिर्वेदाद्वा हेतोः। निर्विण्णो हि संसाराद् ब्रह्मजिज्ञासितुमुत्कण्ठते। संसारासक्तचेतसस्तदसम्भवात्। यथोक्तं भगवता मानसकारेण-

कामेक्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुःखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ परे तम कूप।

(मानस ७/६३ क)

रूपान्तरम्-

काम क्रोधे वै मदे चैव लोभे रक्ताः सक्ता दुःखरूपा गृहेषु।
किं जानीयुर्जानकीजानितत्वं ते ये मग्ना मोहमायान्धकूपे।।

यद्वा ल्यब्लोपपञ्चम्येषा। एतं श्रुतिचतुष्टयं विभाव्य। यद्वा एतं लोकं परीक्ष्य, यद्वा एतं श्रुतिसम्प्रेरितं कर्मानित्यत्वसंजातं वैतं निर्वेदमासाद्य। अत इति तसिलन्तमेतच्छब्दाप्रकृतिकम्। इदं सर्वं प्राचामनुरोधेन। वस्तुतस्तु तस्यन्तमेतच्छब्द प्रकृतिकम् अत इति। तथा च नात्र पञ्चमी। का तर्हि? तृतीयेति ब्रूमः। एव मत इत्यस्यैतेनैतच्छब्दभिलप्य एष ग्रन्थः। एवं धर्म जिज्ञासानन्तरमेतेन ग्रन्थेन करणीभूतेन चतुरध्यानेन वेदव्यासप्रणेष्यमानेन ग्रन्थेन ब्रह्मणि जिज्ञासा कर्तव्या। अशास्त्रीया खलु कल्पेत समुत्पाताय। यद्वा एतेन कर्मानित्यत्वसेतु रूपेण हेतुना, हेतौ (२/३/१३) इत्येन तृतीया '**दण्डेन घटः**' इत्यादिवत्। एतच्छब्दो हि श्रौतस्मार्तविपुलस्थलसंसूचितकर्मानित्यत्व सूचकः। श्रुत्युदाहरणं दत्तपूर्वम् । अथ स्मृतिः-

तत्र वेदान्तदर्शनस्मृतिशिखामणिभूतासु श्रीमद्भगवदगीदासु नवमे-

त्रै विद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः
गतागतं कामकामा लभन्ते।।

गीता ९/२०-२१।।

यद्वा एतच्छब्दः ब्रह्मसन्निकृष्टजीववाचकः। सन्निकर्षः सम्बन्धः, स च शरीरशरीरिभावरूपः सेव्यसेवकभावरूपः भोक्तृभोग्यभावरूपः विशेष्य-विशेषणभावरूपश्च एवं एभिस्सम्बन्धैः परमात्मनः सन्निकृष्टो जीव एव एतच्छब्दवाच्यः। ननु जीवो ब्रह्मतः पृथगुताहोऽज्ञानोपहितान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं ब्रह्मैव जीवः? इति चेत्, पृथगिति ब्रूमः। उदाहरणञ्चात्र सहस्रशः श्रुतिजातम्। तत्र कानिचित् प्रस्तूयन्ते। तद्यथा-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशाति।

(मुण्डक ३/१/१)

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।

(कठ १/३/१)

अत्र श्रुतौ स्पष्टतया जीवब्रह्मणोः पृथङ्निर्देशः। तथाहि- सुकृतस्य शुभकर्मार्जितशरीरस्य गुहां हृदयं प्रविष्टौ, परमे श्रेष्ठे परार्धे हृदयाकाशे वर्तमानौ, ऋतं सत्यं पिबन्तौ-स्वादयन्तौ विराजेते-जीवात्परमात्मानौ तिष्ठतः। ननु विरुद्धमेत दृतपानं परमात्मनः, 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यत्र परमात्म-नोऽभोक्तृत्वनिर्देशात्, इति चेन्मैवम्; तत्र कर्मफलाभोक्तृत्वनिर्देशेऽपि ऋतपानानिषेधस्य स्वत एव सिद्धत्वेनादोषात्। किं रुपौ तौ सलक्षणौ विलक्षणौ वा? इत्यत आह- छायातपयौ। जीवात्मा छाया रुपः अज्ञानबहुलत्वात् परमात्मा च परमप्रकाशरूपत्वादातपरुपः छायातपाविति निर्दिश्य श्रुतिः सुस्पष्टं

घोषयति- छायातपयोरि जीवब्रह्मणोः स्वाभाविकं परस्परं भेदम्। न वा छाया आतपो भवितुं शक्नोति न वातपः छाया। तथैव न वा जीवो ब्रह्म भवितुं शक्नोति न वा ब्रह्म जीवः। न वा सूर्यः छायां विहन्तुमीष्टे तथैव जीवब्रह्मणोः स्वभावसिद्धोऽयं भेदः। के वदन्ति इत्यत आह- ब्रह्मविदो, ये ब्रह्मावेदिषुस्ते वदन्ति। ये वा पञ्चाग्नयः कृताग्निहोत्रादिवैदिकर्माणः। इह छायातपोपमानाभ्यां स्पष्टं जीवब्रह्मभेद उक्तः। एतावत्स्पष्टेऽपि श्रुतिव्याख्याने यदि केचन ब्रह्म जीवभिदां निरस्यन्तः मिथ्यैवैक्यं प्रलयन्ति तान् प्रति सविनयं निवेदयामहे यत्-

सूर्ये सत्यपि चण्डदीधितिमये नोलूककः पश्यति।
चन्द्रे मञ्जुमयूखमण्डितकरे चेत्स्यन्दनाङ्गोव्यथी।
सत्यां देवसरित्यहो यदि तृषा नामीषु दोषस्तदा।
तेषामेव निरस्तभाग्यविभवं दौर्भाग्यकाडम्बरम्।।

किञ्च 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' (ब्रह्मसूत्र १/२/११) इति ब्रह्मसूत्रेऽपि द्वयोः पार्थक्यं सुस्पष्टमेव। किञ्च यदि जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं ब्रह्मसूत्रकृदभिमतं स्यात्, तदा आत्मानौ इत्येकशेषघटितौङविभक्त्यन्तं न ब्रूयात्। तथा हि आत्मा च आत्मा च आत्मानौ **"सरुपाणामेकशेष एक विभक्तौ"** (पा० अ० १-२-६६), इत्यनेनैकशेषः। इह सरुपत्वं नाम समानरुपत्वं तच्च शब्दतः। अर्थतो विरुपत्वेऽपि आनुपूर्वीतः समानरुपाणामेकशेषदर्शनात्। यथा-बालकाः यान्ति, इह आकृतितो भिन्नानामपि संज्ञानुपूर्वीसमानत्वेनैकशेषः। एवमेव यथा- **'रामाः'** अत्र **'भृगुवरत्व रघुवरत्व-यदुवरत्व'** जातीनां वैलक्षण्येऽपि संज्ञानुपूर्वीसमानत्वादेकशेषः। किंच यदि जीवात्मपरमात्मनोरैक्यं स्यात्तदा भगवता बादरायणेन 'आत्मानौ' इति न प्रयुज्येत, संज्ञिभेदे संज्ञासरुपत्वे सत्येवैकशेषो भवति, इह आत्मानावित्येकशेषदर्शनात् सिद्धो जीवात्मपरमात्मभेदः। ननु अध्यासमूलकौपचारिको भेदः, इति चेन् मैवम्; औपचारिकत्व पारमार्थिकत्वयोरुभयोरवच्छेदकयोः धर्मयोर्द्वित्वात् एकधर्मावच्छिन्नत्वाभावात् सह विवक्षितत्वाभावे तदेकशेषानुपपत्तेः। न च **"धवखदिरौ छिन्धि"** इत्यादौ विरुद्धयोरपि घवत्व-खदिरत्वयोः। सतोः समुदायत्वरूपैकधर्मावच्छिन्नत्वमादाय यथैकशेषस्तथेहापि इति वच्यम्, इह जीवात्मपरमात्मनोरेकत्वे समुदायत्वस्यैवासम्भवात्। किंच **"गौणमुख्ययोर्मुख्येकार्यसंप्रत्ययः"** इति न्यायात् वास्तविकभेदे एकशेषसंपत्तौ सिद्धायामौपचारिके तदनुपत्तावेकशेषानुपपत्तेः।

किञ्चाध्यासस्यापि सर्वसम्मत्या पारमार्थिकत्वमेव नास्ति। अथ च भेदाभेदयोरन्यतराध्यस्तत्वे विवदन्ते विचारकाः। तद्यथा अद्वैतिनः भेदमध्यासते,

ततोऽन्ये वेदान्तिनो वैयाकरणाश्चाभेदम्। अत एव **'श्लोकोऽवबुद्धः'** **'अर्थः श्रुतः'** इत्यादिप्रयोगाः संगच्छन्ते। इतरथा अर्थस्य बोधरूपत्वात् तस्य च शब्दत्वावच्छिन्नत्वात् स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्षत्वानापत्तेः। श्लोकस्य च शब्दत्वात् तस्य श्रावणप्रत्यक्षगोचरत्वेन बुद्धिविषयतानापत्तिः। भेदस्य पारमार्थिकत्वाभावेऽग्नि शब्दोच्चारणेन मुखे दाहापत्तिः, मधूच्चारणेन माधुर्यापत्तिश्च, सा न दृश्यते न वा श्रूयतेऽत एव **"स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"** (पा० अ० १-१-६८) इति भगवतः पाणिनेर्वचनं संगच्छते, अन्यथा स्वमित्येव व्याहरेत्। अत एव च **"वृद्धिरादैच्"** "अदेङ गुणः (पा० अ० १-१-१-२) इत्यादयः संज्ञासंज्ञि व्यवहाराः संगच्छन्ते। अत एव च श्रीनागेशभट्टः प्रतीयमानत्वमभेदस्यैव प्राह। तथा हि तत्रत्या मञ्जूषा। **"तादात्म्यं च तद् भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्। अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः"** (वै० लघु म० १-९६)।

अथाद्वैतिनो भेदाध्यासं वैयाकरणाश्चाभेदाध्यासं मन्यन्ते, उभयोः कतरस्य ज्यायस्त्वं, कतरो वा प्रामाणिकतरः पक्ष इति चेद्वैयाकरणानामभेदाध्यासपक्ष एवेति ब्रूमः। ननु व्याकरणं शब्दसाधुत्वे प्रमाणम्, न तु ब्रह्म मीमांसायामिति चेन्मैवं प्रलपीः। ब्रह्म हि वेदवेद्यम् वेदवेद्ये परे पुसि जाते दशरथे हरौ" इत्यभियुक्तोक्तेः।

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्योपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।

इत्याम्नायाच्च। विदन्ति जानन्ति ब्रह्मतत्वं येन स वेदः, विन्दन्ति लभन्ते ब्रह्म येन स वेदः, विङ्क्ते विचारयति ब्रह्म येन स वेदः, विद्यते विराजते ब्रह्मतत्वमर्थरूपेण यस्मिन् स वेदः इत्येवमादिकरणाधिकरण-घञ्मूलकव्युत्पत्तिभ्यश्च। अतएव गीतायां सस्मार स्मरहरपूजितचरणः स्मरपितृचरणः श्रीभगवान्-

कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्-

(गीता ३-१५)

'अक्षरं ब्रह्मतत्वं समुद्भवति प्रकाशते यस्मात्तत् अक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद' इति तदर्थः। किञ्च "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १-१-३) इतिः समसूत्रयद् भगवान् बादरायणः। शास्त्रं वेदः शंसशनाच्छाशनाच्च, योनिः प्रतिपादकं पयस इव यस्य तच्छास्त्रयोनिः, तस्य भावस्तत्वं, तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्, इति तत्र सर्वे आचार्याः। तस्मात् ब्रह्म प्रतिपादकत्वं वेदस्य शास्त्रसंज्ञस्य सर्वराद्धान्तसिद्धं, तस्य च वेदस्य रक्षा व्याकरणमधिशेते। अत एव पशपशह्निके प्राह भगवान् पतञ्जलिः व्याकरण प्रयोजनपञ्चकं निरूपयन्-

"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" (अ० पा० म० भा० व्या० प्रयोजनवार्त्तिक १)। रक्षार्थं वेदानाञ्चाध्येयं व्याकरणमिति तत्र पाताञ्जलव्याख्यानम्। वेदो निष्प्रत्यूहं ब्रह्मविचारेण सुरक्षितः स्यात्, तस्मात् वेदस्य प्रथमाङ्गत्वाद्व्याकरणस्य मीमांसायाश्चोपाङ्गत्वात् तदपेक्षया पूर्वं वेदमुखत्वेन तदर्थनिर्णये प्रथमप्रमाणभूतत्वात् व्याकरणस्यैव प्रामाणिकतरत्वौचित्यात्।

किञ्च ब्रह्मविचारस्य शब्दप्रमाणैकगम्यत्वाच्छब्दस्य च वेदमयत्वात् तत्प्रतिपादकशब्दशास्त्रस्यैव प्रमाणविचारणायां प्राथम्येनैवाधिगमनीयत्वात्।

किं च शब्दमन्तरेण कस्यापि प्रत्ययस्य नास्त्यस्तित्वम्, अतएव भर्तृहरिर्वाक्यपदीये-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते।

किं च मुखमिव व्याकरणं वेदतात्पर्यभूतं परमात्मानं शंसति; परमात्मा हि वेदान्तवेद्यः "वेदान्तवेद्यं विभुम्" (मानस ५ मंङ्ग १) वेदान्तो नाम वेदानाम् अन्तिमोभागः। स च ज्ञानकाण्डीयौपनिषदमन्त्रग्रामः वेद एव। व्याकरणस्य तदीयप्रथमाङ्गत्वेन तस्यैव सर्वतोऽधिकप्रामाणिकता, संशब्दने हि ब्रह्म संशब्दाते, संशब्दनं च व्याकरणायत्तम्। यथोक्तं श्रीमद्वाल्मिकीरामायणे तुर्ये काण्डे भगवता रामचन्द्रेण लक्ष्मणं प्रति हनुमद् विषये-

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किं चिदपशब्दितम्।।

(वा० रा० ४-३-३०)

तस्माद्ब्रह्मणः शब्दप्रमाणकत्वाच्छब्दस्य च व्याकरणाधीननिरुक्तिकत्वात् वेदमुखत्वाच्च, प्रथमाङ्गत्वेन श्रुतिमूलकत्वात् तस्य प्रामाणिकतायां सर्वातिशायित्वे तत्प्रतिपादितस्याभेदमूलकाध्यासस्यैव ब्रह्मविचारणायां परमसिद्धान्तता, अध्यासस्य च सर्वत्रैवारोपितत्त्वादभूतार्थत्वं सर्वदार्शनिकसिद्धान्तसिद्धम्। अतो जीवात्मपरमात्मभेद एव पारमार्थिको, नत्वभेदः। अध्यासस्य च मिथ्यात्वं मायावादप्रचारचणाः श्री शङ्कराचार्या अपि साटोपमुद्घोषयन्ति, **अतस्मिन्तद्बुद्धिरध्यासः इत्यसकृदवोचामः**"। (ब्र० सू० १-१-१ शाङ्करभाष्यम्)। एतेन भेदाध्यासवादिनः परास्ताः।

ननु श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।

इत्यभियुक्तवचनस्य व्याकोपः स्यात्, इति चेत् व्याकुप्येयुर्नामैवञ्जातीयका असमासादितकिञ्चिच्छास्त्रपृष्टास्पदाः भण्डप्रलपिताभाणकविशेषाः। वयं विषयवारूणीजडीकृतबुद्धिप्रलपितेषु नाद्रियामहे। वस्तुतः नायं श्लोकः क्वचिद् ग्रन्थेषूपलभ्यते। तस्मात् नेदं वाक्यं प्रमामणं। ननु **"अयमात्माब्रह्म," तत्वमसि "अहं ब्रह्मास्मि"** - इत्यादीनामभेदप्रतिपादकानां वचनानां का गतिः? इति चेत् दत्तोत्तरम्। तथाप्यभ्यस्यतेऽभेदस्याध्यस्तत्वात्. तस्य चापारमार्थिकत्वादभेदाध्यासप्रतिपादकत्वेन सुसमाहितत्वात्। यत्तु भेदस्याध्यासः नत्वभेदस्य तन्न, पूर्वमेव दत्तोत्तरोऽयं प्रश्नः। द्वासुपर्णा सयुजा सखाया इत्यादौ च ब्रह्मजीवयोः पृथक्-पृथक् स्वरूपनिर्धारणस्य श्रुतत्वात्। स्वस्मिन् द्वित्वं स्व सखित्वं च नाध्यस्तुं शक्यते, तत्रैकस्मिन्नेव भोक्तृत्वाभोक्तृत्वे कथं सङ्घटेताम्। नह्यतिचतुरोऽपि नटः स्वेन स्वस्कन्धमारोढुमर्हति। किं च ब्रह्मणि जीवाध्यासः सर्वथैवानुपपन्नः, नह्यंशि न्यंशाध्यासः, न वा सिन्धुबिन्दुत्वमध्यास्ते, यथा स्वयमेव शङ्कराचार्यः षट्पद्यामाह-

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गःक्वचित् समुद्रो न तारङ्गः।।

अज्ञानवत्यन्यथा भानं भवति, न तु नित्यज्ञानवति, तैत्तिरीये **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** इति मन्त्रे ब्रह्मसमानाधिकरणविशेषणत्रयमुपन्यस्तम्। विशेषणानि च सतोस्सम्भवव्यभिचारयोः प्रभवन्ति। **संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्।** यथां-नीलोत्पलमित्यत्र नीलत्वमुत्पले संभवति उत्पलत्वञ्च श्वेतादौ व्यभिचरति। तथैव ब्रह्म सत्यं ततो ज्ञायते यत् ब्रह्मातिरिक्तमसत्यम्। ब्रह्मज्ञानं नित्यज्ञानवत्, ततोऽतिरिक्तमज्ञानवत्। एवं ब्रह्म अनन्तं, ततोऽतिरिक्तं सान्तमिति। यदि चेत् ब्रह्मातिरिक्तवस्त्वभावः तदा असंगतानीमानि त्रीण्यपि विशेषणानि यद्यपि जगदसत्यं किन्तु रामरूपेण सत्यम्।

एवं ब्रह्मातिरिक्तयोरपि प्रकृतिजीवयोः सत्तयोः स्वीकृतयोः सत्योः **"अयमात्मा ब्रह्म"** इत्यत्राभेदाध्यासः। यद्वा शरीरशरीरिभावेनाभेदः **"गौरोऽहं, कृशोऽहम्"** इत्यादि व्यवहारात्। ननु ब्रह्मविचारे व्यवहारस्य मिथ्यात्वेन नैवोपयोगः। तथा हि भागवते-

अकोविदः कोविदवादवादान् वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः। -
न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति।।

(भाग० ५-११-१)

इति चेत! तर्हि श्रुतिप्रमाणं गृहाण-

"यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं

शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः।।"

(बृ० उ० ३-७-२२)

एवम् अयमात्मा विज्ञानापरपर्यायः भगवच्छरीररूपः ब्रह्मात्मकः। यथा जगति **श्यामोऽहं गौरोऽहम्** इत्यादौ गौरश्यामशरीरावच्छिन्नस्य जीवात्मनोऽहमास्पदता तथैवात्रापि, **न हि लोकाद्भिद्यते" शास्त्रम् इति नियमात्।**

यद्वा अयमिति शब्दो न सर्वनाम, किं तर्हि गत्यर्थकाय्धातु-निष्पन्नःपचाद्यजर्थः। तथा हि- **अयते-भक्तानां कष्टनिवारणार्थं स्मर्यमाणं सत् धनुर्बाणाद्युपलक्षितं श्रीरामचन्द्ररूपं गच्छतीत्ययम्।** नपुंसके स्वन्तमेतत्। आत्मनीत्यात्मा ङिविभक्तेः पूर्वसवर्णादिशः। यद्वात्र **सुपां सुलुक्** (पा० अ० ७/१/३९) इति सूत्रात् सप्तमी, सा चौपश्लेषिक्युपश्लेषश्च संयोगात्मकः। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (मु० उ० ३/१/१) इति श्रुतेः।

तथा ह्यात्मन्ययं ब्रह्मेत्यन्वयोऽर्थश्चात्मानमुपश्लिष्यत् तेन संयुञ्जानामिदं सर्वत्रगतिशीलं ब्रह्मेति वयम्। एवमेव त्वमसीत्यत्राप्यध्यस्तत्वात्, कृष्णोऽहमित्यादिवद् व्यवहारः, भक्तेरियं परा-काष्ठा, यदा भक्ते भगवदावेशः, यथा श्रीमद्भागवते-

गतिस्मितप्रेक्षणभाषाणादिषु, प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका, न्यवेदिषु कृष्णविहारविभ्रमाः।।

(भाग० १०-३०-३)

एवं तत्पदं तच्छरीरे लाक्षणिकम्, हे श्वेतकेतो! तदभिन्नः तच्छरीरभूतो वा त्वमसि भवसि। **यस्यात्मा शरीरमिति** शतपथब्राह्मण उक्तत्वात्। यद्वा समस्तत्वादेक एव शब्दस्तत्त्वमिति। इह तृतीयामारभ्य पञ्चविभक्तिषु तत्पुरुषसमासः। तथाहि तेन ब्रह्मणा कर्तृभूतेन सञ्चालितः, करणीभूतेन प्रत्येकं क्रियाणां परिनिष्पत्तौ प्रकृष्टमुपकृतस्त्वं भवसि, इति तत्त्वमसि। यद्वा चतुर्थी समासोऽत्र, ननु केन सूत्रेण? **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुख रक्षितैः** (पा० अ० २-१-३६) इति।

ननु अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितशब्दानां परकत्वाभावात् तदर्थेत्यनेनैव परिशेषात् समासः करणीयो भविष्यति। बलिहितसुखरक्षितज्ञापकेभ्यः तदर्थेत्यत्र प्रकृति-विकृतिभाव एव तात्पर्यत्वेन गृह्यते। यत्र प्रकृतेर्विकारः तत्रैवैष तदर्थसमासः तेन **यूपाय दारुः यूपदारूः** इत्यादि सिध्यति। चतुर्थ्यन्तं विकृतिः प्रथमान्तं च प्रकृतिः, अनया व्यवस्थया प्रकृते समासे **"तस्मै त्वं तत्वम्"** इत्याकारके

तत्पदार्थस्त्वत्पदार्थविकृति? स्यात्ः इति चेत् साध्वाशङ्कितम्, इह चतुर्थी इति योगविभागात् समासः। तस्मै परब्रह्मणे त्वं जीवो भवसि तत्त्वमसि, अथ् तत्त ब्रह्मणः सकाशात् त्वं जीवः असि भवसि। जीवस्य खलु परमात्मनः सकाशात् जायमानत्वात्।

ननु **"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"** (क० उ० १-२-१) **"न जायते म्रियते वा कदाचित"** (गीता २-२०) इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु जीवस्य जायमानत्वनिषेधाद् अनुपपन्न एष समासः, इति चेन्मैवं, तत्र शरीरनिरपेक्षजीवात्मजन्म-निषेधविवक्षणेनादोषात्। शरीरसापेक्षजीवात्मजन्मनस्तु श्रुतिष्वसकृतसमर्थनस्य दृष्टवात् **यतो वा इमानि भूतानि जायन्त** (वै० ३०-३-२) **"तस्मादश्वादजायत"** (शु० य० वै० २१/८) **"ततो विराडजायत"** (शु० यजुर्वेद ३१-५) यत्येवं विपुलश्रुतिप्रमाणानुरोधात्। अत एव तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाज्जातस्त्वमसि इति तत्वमसि। नित्यत्वेऽपि महाप्रलयानन्तरं जायमानेनाचिच्छरीरेण संयुक्तः त्वत्पदार्थो जीवः परमात्मनः सकाशाज्जगतीतलमागच्छतीति श्रौतं हार्दम्।

एवं षष्ठी समासोऽपि- **"तस्य ब्रह्मणः त्वमिति तत्वं,"** सम्बन्धञ्च **"पाल्यपालकभावः।"** एवं सप्तमी समासोऽपि- **"तस्मिन् ब्रह्मणि त्वमिति तत्त्वम्,"** तदाधारक स्त्वमिति संकलितार्थः। एवं मध्यमपदलोपोऽपि-तदाश्रयस्त्वमिति तत्त्वम्।

इत्थम् अहं ब्रह्मास्मीत्यत्र ब्रह्म पदं लक्षणया ब्रह्मशरीरपरम्। तथा हि परमलघुमञ्जुषायां नागेश भट्टः तात्स्थ्यादि लक्षणाबीजमाह-

तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च।
तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः।।

(प० ल० म० लक्षणाप्रकरणम्)

एवम् अहं ब्रह्मास्मि इत्यत्राप्यहं ब्रह्मात्मकोऽस्मीत्येवार्थः। यद्वा अहं ब्रह्मास्मीत्यत्र लुप्ता चतुर्थी **"सुपां सुलुक्"** इत्यनेन! अथवा ब्रह्मेति पदं दर्शितचररीत्या **"सुपां सुलुक्"** इत्यनेन लुप्ततृतीयाचतुर्थीपञ्च-मीषष्ठीसप्तम्यैकवचनान्तम्। अनन्तरं च अस्मि घटकाकारेण सह सवर्णदीर्घः। अहं जीवः ब्रह्मणा, ब्रह्मणे, ब्रह्मणः सकाशात्, ब्रह्मणः सम्बन्धी ब्रह्मणि स्थितः अस्मि इति **"अहं ब्रह्मअस्मि,"** इतिवाक्यार्थः।

अथवा **"टाङेङसि-ङस-ङीनां-सुपां सुलुक्"** इत्यनेन डादेशः डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपो ब्रह्मघटकस्य **"अन्"** इत्यस्य। **"अहं ब्रह्मा**

अस्मि" इति स्थिते पुनः अस्मि घटकाकारेण सह सवर्णे दीर्घे **"अहं ब्रह्मास्मि"**।

एवमेव **"सोऽहमस्मीति"** वाक्यं शुक्लयजुर्वेदीवाजसनेयमाध्यान्दिनीसंहितायां चत्वारिंशाध्याये चतुर्दशे मन्त्रे विद्यते **"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"** इह असौ असौ इति वीप्सा असु शब्दः प्राणवाची सामीप्यं च सप्तम्यर्थः। एवं प्रतिप्राणसमीपवर्ति यः पुरुषः सः विवर्जितसकलानात्मनिकरो विशुद्धभगवत्परिकरो जीवात्मा अहमस्मि। यदवा पूर्ववद् यः प्राणसमीपवर्ती पुरुषः तच्छरीरभूतोऽहम् इति वाक्ययोजना।

किंच जीवब्रह्मणोः सुस्पष्टं पार्थक्यं वर्णयति भगवती गीता-

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।

(गीता २-१२)

अत एव श्वेताश्वतरश्रुतिरपि प्राहः **"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा"** (श्वे० उ० १-६) किं च ब्रह्मसूत्रेऽपि बहुत्र सूत्रेषु जीवात्मनोः स्पष्टं भेद उक्तः। **"नेतरोऽनुपपत्ते"** (ब्र० सू० १-१-१७), **"शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते"** (ब्र० सू० १-२-२०)" **विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ** (ब्र० सू० १-२-२२) इत्थं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहाससमुपबृंहितस्वतःपरतःप्रामाण्यसाहस्रीबलेन सूपपादिते प्रत्यगात्मपरमात्मभेदे प्रकृतसूत्रे एतच्छब्दार्थः प्रत्यगात्मैव। तस्मादेव **आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्"** इत्येनेन तसि, तथा च कर्तव्या इत्यध्याहारः। येन कृदन्तेन योगे **"कृत्यानां कर्तरि वा"** इति सूत्रेण तृतीया तदर्थे तसि।

एवं हि शास्त्रीयकर्मानुष्ठानानन्तरं संजातनिर्वेदेन विज्ञातकर्मानित्यत्वहेतुना कर्त्रा प्रत्यगात्मनैतेन ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या, इति संकलितार्थः।

यद्वा एतच्छब्दः श्रुत्युक्तवेदानुवचनादिपरामर्शकः। एवमेतच्छब्दाद् भिसर्थेऽत्र तसिः स च करणे। तथा हि कर्मानुष्ठानानन्तरमत एतैर्वेदानुवचनयज्ञदानतपोऽनाशकैः ब्रह्मजिज्ञासा भवतीति सूत्रार्थः।

तथा च श्रुतिः **"तमेतं ब्राह्मणाः विविदिषन्ति वेदानुवचनेन यज्ञेन तपसाऽनाशकेन"** वेदानुवचनयज्ञदानतपोऽनाशकविमलीकृतमनसो महात्मनः प्रत्यगात्मनः शुद्धान्तःकरणे स्वत एव ब्रह्म जिज्ञासा जागर्ति। यथोच्यते श्रीगीतासु भगवता-

यज्ञ दानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।

(गीता १८-५)

अथवा नैवायमतःशब्द एतच्छब्दप्रकृतिकः। कस्तर्हि? क्विबन्तप्रकृतिकः **''अत सातत्य गमने''** इत्यस्मात् कर्तरि क्विप् ततः कर्तव्येति कृत्त्यान्तयोगे पुनः कर्तर्येव षष्ठी, **''अतति सततं देहाद्देहान्तरं याति इत्यत्''** तेन तस्य वा कर्तृभूतस्य। अतः जीवात्मनः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।

यद्वा नेयं तृतीयार्था षष्ठी। का तर्हि? **''षष्ठी शेषे''** (२/३/५०) इत्यनेन शेषषष्ठी, एवमतः सततगमनशीलस्य जीवात्मभूतस्य सम्बन्धिनः ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या। ब्रह्मेति लुप्त षष्ठीकम्। यद्वा **''अत्र कर्मणि अत्यते सततं सद्भिर्गम्यते** इति अत् यथोक्तं श्रीमद्बाल्मीकीयरामायणे-

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः।।

(बा० रा० १-१-१६)

पुनश्च'' अत्यते सततं जनैः प्राप्यते सेव्यते ज्ञायते च यः स अत्-चराचरप्राप्तिसेवाज्ञानविषयो भगवान् श्रीरामः। तदभिन्नस्य ब्रह्मणः जिज्ञासाकर्तव्या, इत्यनेन भगवता बादरायणेन स्वयमेव ब्रह्मणः सगुणत्वं सूचितम्।

ननु-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते

(क० उ० ३/१५)

इति श्रुतौ ब्रह्मणः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धातीतत्वनिगदात् सकलधर्मवर्जितत्वे सति निर्गुणत्वे सिद्धे, कथं तस्य सगुणत्वं भवद्भिर्व्याख्यायते? इति चेत सत्यं, तत्र प्राकृतशब्दस्पर्शरूपरसगन्धराहित्यार्थकत्वव्याख्यानेनादोषात्।

एवं न विद्यते प्राकृतः शब्दः, स्पर्शः, रूपं रसो, गन्धश्च यस्मिन् तत्तथाभूतम् इति तत्र विग्रहः करणीयः। अत एव श्रीगीतासु स्वयमेव विश्वरूपो भगवान् प्राकृतचक्षुषात्मनो दर्शनाशक्यतां प्रत्यपीपदत्।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम

।। (गीता ११-८)

न च माण्डुक्योपनिषदि- **"नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यभव्यवहार्थमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।"** (मा० उ० ।।७।।) इत्यस्मिन् मन्त्रे सर्वधर्मनिषेधश्रवणात् ब्रह्मणो निर्धर्मकता सिद्धेति वाच्यम्। तत्र निषेधस्य इदमित्थंत्वनिषेधे तात्पर्येणादोषात्। सर्वव्यापकस्य इदंत्वेनेत्थंत्वेन वा कथनमिह निषिद्ध्यते।

तथा हि सर्वरूपत्वात् सर्वमयत्वान्नैकतरगुणपक्षपातित्वं ब्रह्मणः संसारवस्तुन्यतीतत्वात्। एवंमन्तःप्रज्ञा यस्मिन् बहिःप्रज्ञा यस्मिन् उभयतःप्रज्ञा च यस्मिन् एवं भूतेभ्योऽन्तःप्रज्ञबहिःप्रज्ञोभयतःप्रज्ञजीवेभ्यः बहिर्भूतम् न केवलं प्रज्ञानघनं प्रज्ञाप्रज्ञातीतं प्राकृतचक्षुर्गोचरानर्हम्। अथवा अन्तःप्रज्ञात् स्वप्नात् बहिःप्रज्ञात् जागरितात् उभयतः प्रज्ञात् द्वयोरन्तरालवर्तिनः प्रज्ञानघनात् सुषुप्तात् प्रज्ञात् मुक्तजीवात् अप्रज्ञात् बद्धजीवाद् विलक्षणम्। अत एव जीवेषु व्यवहारायोग्यं व्यापकत्वात् बृहत्वाच्च न ग्रहीतुं शक्यं, विलक्षणत्वात् सकललक्षणातीतं निरतिशयत्वात् चिन्तनतो बहिर्भूतम्। अत एव सीमितबुद्धिना व्यपदेष्टुमनर्हम्। एकः परमेश्वरप्रपन्नो यः प्रत्यगात्मा तस्य यः प्रत्ययः अनुभूतिजनितविश्वासः सारः स्वभावो यस्य तत् स्वभक्तानुभूतिविश्वासगोचरत्वत्तादृशम्। प्रपञ्चस्य पुत्रकलत्रादिपरिवारस्योपशमो विस्मरणात्मको विरामो यस्माद्यस्मिन् वा, एवं भूतं शान्तं शान्तिमयं शिवं सकलकल्याणगुणगणैकनिलयम् अद्वैतं द्वाभ्यां मातपितृभ्यामितं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं मिथुनसृष्टिरूपं जगत्, तद्भिन्नभवि-विर्भूतत्वात्। यद्वा द्वैतं नानात्वं तद्रहितं, एवं भूतम् चतुर्थं तुरीयं चतुर्ण्णमपत्यानां पूरणत्वेन दशंरथस्य चतुर्थकुमारं श्रीरामं मन्यन्ते उपासते। अत एषाअत्मत्वेन परमात्मत्वेन, विज्ञेयः- विशिष्टाद्वैतपद्धत्या ज्ञेयः। इत्येवं श्रुत्यक्षरव्याख्यानेनापि न ब्रह्मणो निर्विशेषत्वं विभावयामहे। प्रत्यक्षादिप्रमाणान्यपि सगुणं सविशेषमेव विषिण्वन्ति।

ननु मुण्डकोपनिषद्यपि ब्रह्मणो निर्धर्मत्वमेव प्रतीयते। तथा हि- **"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्** (मु० उ० १-१-६)

इति चैन्मैवं भ्रमीः, अत्रापि निषेधानां प्राकृतगोत्रादिनिषेधतात्पर्यवत्वात्। तथा हि- अगोत्रं- न विद्यते हेयगोत्रं यस्य तत् अगोत्रम्, सूर्यगोत्रसमुद्भवत्वात्,

अजन्मत्वाच्च गोत्रातीतम्, यद्वा न विद्यते गोत्र विशेषं यस्य विविधगोत्रेषु गृहीतावतारत्वात् तदगोत्रम्।

एवं न विद्यते वर्णविशेषः यस्य तत् अवर्णं, गृहीतानेकवर्णत्वात्। यथा श्रीमद्भागवते-

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।।

(भागवत १०-८-१३)

अथवा अप्राकृतो नीलवर्णो यस्य तदवर्णं, न मानवो नीलवर्णो भवति, रामरूप ब्रह्म तु नीलवर्णं जगत्प्रसिद्धम्। यथोक्तं गोस्वामिचरणैः **"नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्।"**

चक्षुषोः श्रोत्रयोः समाहारः चक्षुःश्रोत्रम् अप्राकृतं चक्षुःश्रोत्रं यस्य तत् अचक्षःश्रोत्रम्। एवमप्राकृतपाणिपादम् अपाणिपादम्। किं बहुना **"अपहतपाप्मा विज्वरो विमृत्युर्विशोकोऽपिपासोऽविजिधित्सः सत्यसङ्कल्प सत्यकामः सर्वगन्धः सर्वरसः"** इत्यादिभिः श्रुतिसहस्रैः भगवतः सगुणत्वमेव सूच्यते। वेदे नैको मन्त्रो निर्गुणत्वमभिव्यनक्ति भगवतः, निर्गुणे ब्रह्मणि न किमपि प्रमाणमुपलभामहे सर्वेषामपि वेदानां सगुणविषयत्वात्।

यद्वा अत्ति चराचरं भक्षयति इति अत् भगवान्, कर्तरि क्विप् तस्य अतः, सकलचराचरभक्षणशीलस्य अतः ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या। ननु ब्रह्मणः सर्वभक्षकत्वे किं मानम्? श्रुतिसूत्र उभेऽपि। तथा च श्रुतिः-

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।

(क० उ० १-२-२५)

अत्ता चराचर ग्रहणात् (ब्र० सू० १-२-९) ननु एवं तर्हि परस्परविरोधः कठश्रुत्या ब्रह्मणो भोजनकर्तृत्वं प्रतिपाद्यते, मुण्डकश्रुत्या च भोगो निषिद्ध्यते। एवं परस्पर विषमवादेनोभयोरप्रामाण्यम्। तथा हि- **"यस्य ब्रह्म चक्षत्रं च उभे भवत ओदनः"** अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति (मु० उ० ३/१/१) इति चेन्नैवम्; प्रसंङ्गभेदात् विरोधपरिहारेणादोषात्। कठोपनिषदि चराचरस्य भगवति लयप्रतिपादनात् अत्तृत्वमालङ्कारिकम्। यथा कोऽपि सूपादिव्यञ्जनै सह ओदनं मुखे निक्षिप्य भुङ्क्ते तथैव परिपक्वे कर्मविपाके। एतदुपमानानि भगवान् प्रविलापयति स्वस्मिन्। अत एव श्रीगीताया एकादशे पार्थवचनं सङ्गच्छते-

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं; भासस्तवोग्रा प्रतपन्ति विष्णो।।

(गीता ११-३०)

मुण्डके च कर्मफलभोगमात्रं निषिद्ध्यते। अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। ननु तर्हि-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्।।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति।।

(गीता ५-१-२८)

इति भगवद्वचनविरोधः, इति चेन्नः यज्ञफलभोक्तृत्वेऽपि अनशितृत्वाक्षतेः। यज्ञतपांसि न तावत् वैयक्तिकशुभाशुभपरिणामभूतानि विशेषविधानत्वात् नैमित्तिकत्वाच्च, इह नित्यशुभाशुभकर्मणोर्भोक्तृत्वनिषेधः।

ननु 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इति श्रुतिविरोधः, अत्र जीवात्मपरमात्मनोः समानतया सुकृतऋतपानस्य विवक्षणात्, इति चेन्मैवम्;"तत्र ऋतशब्दस्य जीवपक्षे भगवदानन्दः ब्रह्मपक्षे च सत्यसंकल्पानन्द एवार्थः। यद्वा स्वयं भगवान् किमपि न भुङ्क्ते, भगवतकर्मणां फलजनकत्वाभावात्।

यथोक्तं श्रीगीतासु-

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते

।।गीता ४/१४)

अतएव श्रीमानसे-

करम शुभाशुभ तुमहि न बाधा। अब लगि तुमहि न काहू साधा।।

(मानस १-१३७-४)

एतत्रूपान्तरम्-

"शुभाशुभानि कर्माणि त्वां न बाधन्त ईश्वरम्।
अद्य यावन्न केनाऽपि साधितो मायिनां वरः।।

किन्तु भक्तार्पितं सर्वं भुङ्क्त एव, तदेवात्र ऋतम्। एवं प्रत्यगात्मा सुकृतस्य शोभनं प्रतिपादितस्य कर्मणः ऋतरूपं शुभं फलं पिबन् आस्वादयन् तिष्ठति। परमात्मा च सुकृतस्य- 'शोभनानि कर्माणि भगवदाराधनरूपाणि प्रेमभक्तिलक्षणानि कृतानि अनुष्ठितानि येन सः सुकृतः तस्य'-सुकृतस्य

निजसेवकस्य ऋतं प्रेमरससम्पन्नं नैवेद्यं पिबन् आस्वादविषयङ्कुर्वन् तिष्ठति। नन्वस्मिन्नर्थे किं मानम्? इति चेत्; तैत्रिरीयमौपनिषदं वचनमेव तथा- **"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति"** (तै० उ० २-१) इह सह ब्रह्मणा इति सहार्थे तृतीया, स चाप्रधाने **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** (२-३-१९) इति पाणिनि सूत्रनिर्देशात्। अप्रधानत्वं च ब्रह्मणि ब्रह्मणेति तत्रैव तृतीया निर्देशात्। इत्यनेन स्वयमेव भगवतो मुख्यभोक्तृत्वं प्रतिषिद्धम्। अत एव भगवता स्वभोजनस्य श्रीगीतासु भक्ताधीनत्वमभ्यधायि-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

(गीता ९-२६)

अत एवाग्रे पार्थाशनस्य स्वार्पणत्वकथनं संगच्छते-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

(गीता ९-२७)

इत्थं सर्वमनवद्यम्, अथ **"अत्तीति अत् तस्य अतः"**-इत्यस्यां व्युत्पत्तौ व्याकरणदोषः- दकाराश्रवणात् । इति चेन्न; **"छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति"** इति नियमेन छान्दसत्वात् पदत्वाकल्पनया चर्त्वेन समाधानम्। 'इको यणचि' इत्यत्र सत्यामपि योग्यतायां नित्य प्राप्तौ च ङमुडभाववत्। एवं कर्मफलभोक्तृत्वाभावेऽपि चराचरग्रहणलक्षणभोक्तृत्वस्वरूपयोग्यतावतः, अतो ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या इति सूत्रार्थः।

यद्वा अतति स्मर्यमाणः सततं भक्तानां समक्षं गच्छति इति अत्, तस्य अतः। कीदृशस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या कूटस्थस्य, चित्रकूटस्थस्य वा? इत्यत आह- अतः चित्रकूटस्थस्य तस्यैव सगुण ब्रह्मणः भक्तानां समीपङ्गमनस्य पुराणादौ प्रसिद्धेः। यथा स्मरन्ति श्रीवैष्णवाः गजेन्द्रं प्रति भगवदागमनम्-

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मरन्।
उत्तानोऽपि गदा गदेति निगदन् पद्मामनालोकयन्।।
निर्गच्छन्न परिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽवतु।
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः।।

अत एव श्रीमद्भागवते-

''तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः।
स्तोत्र निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः
(भाग० ८-३-३१)

इह छन्दोमयेन इति स्वेच्छामयेन, इत्येव भगवतः सातत्यगमनं वाहननिरपेक्षम्। अन्यथा गरुडं त्यक्त्वा स्वेच्छामयगरुडं न निर्मायेत्। छन्दः शब्दस्य इच्छार्थत्वे कोषः प्रमाणम्- छन्दः अभिलाषे।

अतएव महाभारते शान्ति पर्वणि वृहस्पतिं प्रति मनुः-

**कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी; नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति**
।। (म० भा शान्ति पर्व २०१-१२)

अत्र श्रीधरः- छंदोमयेन छंदांसि सामानि तन्मयेनेति शैछयायोक्तम्।। वंशीधरस्तु छंदोमयेन छंदसामुच्चारणवज्झटिति गमनशीलेन गरुडमपि मन्दगतिमालक्ष्य तत्पृष्ठादुत्तीर्य सहसा झटित्येव। यद्यपि श्रीधरवंशीधरयोर्द्वयोरपि व्याख्यायोः भगवतो झटिति गतिरिष्टा, तथापि छंदोमयेनेति विशेषणसाफल्य-स्वारस्यादनयोर्व्याख्यानं न रोचयामहे।

गमनशैघ्र्ये सामादीनां छन्दसाम् अप्रासंगिकत्वात्। यत्तु छन्दसामुच्चारणमिव गमनशैघ्र्यमिति वंशीधरो व्याख्याति तदपि न प्रतिभावन्मनोरमम्। छन्दसां विलम्बितोच्चारणस्यपि श्रुतत्वात्। अन्यथा प्लुतादिव्यवस्थाव्याकोपस्तस्मात् हलायुधोऽत्र मानम्, छन्दः अभिलाषः तन्मयेन गरुडेन। अत एव सूरदासाद्युक्तः गरुडयागोऽपि संगच्छते- ''**द्वारका मे शब्दभयो गरुड तजि पधारे**। (सू० सा० ८-३ गजेन्द्र मोक्ष) किंच अमरकोषोऽपि छन्दस् शब्दमभिलाषार्थकं प्राह ''छन्दः पद्येऽभिलाषे च'' इत्यमरः। अत एव भगवान् पाणिनिरपि इच्छावाचितृतीयान्तछन्दश्शब्दाद्यत् प्रत्ययमाहः तथा च सूत्रम्- ''**छन्दसो निर्मिते**'' (पा० अ० ४-४-९३)

छन्दसा निर्मितं छन्दस्यम्। इच्छया कृतमित्यर्थः, इति व्याचष्टे भट्टोजिदीक्षितः वै० सि० कौ० प्राग्घितीयप्रकरणे। एवं सातत्यगमनं च भगवता स्वयमेव गीतायां प्रण्यगादि-

अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।

(गीता ८-१४)

अत्र यः सततं स्मरति तस्याहं नित्यशः सुलभ इति योजना। एवं भक्तं प्रति सततं गमनशीलस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या इति सूत्रार्थः।

अथवा- **"अद्यते भुज्यते रसरूपत्वात् रसिकैरास्वाद्यते इति अत् तस्य अतः।** कीदृशस्य ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्तव्या इति चेत्; अतः- नामरूपलीलाधात्मात्मदिव्यरसमयविग्रहस्य भक्तैरास्वाद्यमानस्य। अतएव श्रुतिः **"रसो वै सः (तै० उ० २-७ "रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति"** (२१६) यद्यसौ रसरूपस्तर्हि भुज्यमानत्वं संगछत एव। स्वादार्थो हि रसधातुः रस्यते स्वाद्यत इति रसः। अत एव श्रीभागवते वेणुगीते वेणुकर्तृक- भगवत्कर्मकस्वादनीयत्वापरपर्यायभोग्यत्वं संगच्छते-

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्मवेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथाऽर्याः

।। (भा० १०-२१-९)

अथवा **"अत्यते ज्ञायते यः स अत्"** तस्य अतः, ज्ञानविषयस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या। इह गत्यर्थो ज्ञानार्थः, इति वैयाकरणसमयात्। इत्यनेन परमात्मनो ज्ञेयत्वं जीवस्य च ज्ञातृत्वं सूचयाते-

ननु **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।।** (वृ० उ० २-४-५) इत्यस्मिन् मन्त्रे आत्मनो दर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनानां विहितत्त्वात् दर्शनस्य च ज्ञानार्थकत्वेन च सिद्धान्तिततत्वात् कथं परमात्मज्ञानस्य विधेयता? इति चेन्न, तत्र आत्मशब्दस्य परमात्मार्थकत्वेनादोषात्; **आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि** इति कोषाच्च। ननु सत्स्वप्यनेकेष्वर्थेष्वात्मशब्दस्य ग्रन्थेऽत्र परमात्मार्थकत्वमेवेति का वाचो युक्तिः? इति चेत्, **"द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः"** इति विधेयचतुष्टयमेव। न हि एकस्मिन् विरुद्धधर्मवत्यौ उद्देश्यताविधेयते संगच्छेते एकस्मिन्नेव द्रष्टृत्वदृश्यत्वादयः सर्वथैवानुपपन्नाः। किं बहुना यदि प्रत्यगात्मपरमात्मभेदो नाङ्गीक्रियेत तदा सर्वज्ञपरमात्मनः कृते उपदेश्यत्वमनुपपन्नम्। सर्वज्ञस्य परमात्मनः

श्रोतृत्वं मन्तृत्वं निदिध्यासितत्वञ्च परिहासायैव। ननु नटस्याभिनय इव इदं सर्वं काल्पनिकमितिचेत्, तदा तु तत्प्रतिपादकानां शास्त्राणां काल्पनिकत्वात् स्वयमेवापौरूषेयाणां वेदानां भूतार्थवादोऽपि न सिद्ध्येत्। किं च वेदानामसत्यवादित्वे तत्प्रतिपाद्यब्रह्मणोऽपि निर्व्यलीकत्वात् युष्माकमद्वैतवादोऽपि निर्व्यलीक एवेत्यमलमतिबालुकाभित्तिनिर्मितप्रासादरक्षणेन। अत एव संहिताभागेऽपि तत्पदाभिलप्यस्यैव परमात्मनो वेदनं विहितम्। यदि जीवात्मनो वेदनं विधित्सितं स्यात्, तदा तं पदमनुक्त्वा स्वमिति व्याह्रियेत। तथा हि-

"वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णनमसः परस्तात्।
तमेवविदित्वा-तिमृत्यु मेतिनानान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय।।

(शु० यजुर्वेद ३१-१८)

किंचाध्यासवादोऽपि भवतां निर्मूल एव, लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः। अत एव पूर्वमध्यासवादस्य लक्षणं वाच्यम्। अतस्मिंस्तदबुद्धिरध्यास इति चेत्, ब्रह्मातिरिक्तस्य कस्यचित् स्वीकारे सत्येव संभवत्येतल्लक्षणम्। किन्तु **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा० उ० ६/२/१) इत्यस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो व्यतिरिक्तवस्तु निषेधात् तेनैव स्वत एव जगदभावे सिद्धे ब्रह्मणि जगदारोपः कथम्? किञ्च शारीराणि कर्मापेक्षाणि, ब्रह्मणि कर्मणामभावः, एवं कर्माभावे तज्जनितशरीरानापत्तौ तेषामेव जननमरणललत्वात् कथमध्यस्तता। प्रसिद्धस्य प्रसिद्धे आरोपो भवति। द्वयोः सत्तयोः स्वीकृतयोरेवे सम्भवत्यारोप्यारोपकभावः। यथा शुक्तिरजतयोः, अत्र द्वे सत्ते पृथक्। तथैव यद्यात्मन्यनात्मवस्त्वारोपः तर्हि निश्चिते द्वे सत्ते, एवञ्च विखण्डितोऽयमद्वैतवादः। यदि चेत् कर्मनिरपेक्षशरीराणामध्यासः, तर्हि वैषम्यनैर्घृण्यापत्तिः,- अत एव सूत्रयति **"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्** (ब्र० सू० २-१-३५) तस्मात् विशिष्टमेवाद्वैतं ब्रह्मतच्च चिदचिद्भ्यां, वैशिष्ट्यं चात्र शरीरशरीरि- भावेन। नन्वस्मिन् वैशिष्ट्ये किं विनिगमकम्? इति चेत्, श्रुतयः स्मृतयश्चापि। तथा हि उद्दालकप्रश्नमुत्तरयतः भगवतो याज्ञवल्क्यस्य अन्तर्यामि ब्राह्मणोऽस्मिन्नेवार्थे संगच्छते।

यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः
पृथिवीमन्तरो यमयत्येष न आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।।

(बृ० उ० ३-७-३)

एवमेव यस्यापः शरीरं, यस्याग्निः शरीरं, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्य विज्ञानं शरीरम्" इत्यादयः श्रुतयः। एवं वेदावतारभूतं श्रीमद्रामायणमपि-

जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्।
अग्निःकोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलाञ्छन

(वा० रा० ६-११७-२७)

एवमेव त्रीणि तत्वानि ब्रह्म जीवः प्रकृतिश्च। तत्र जीवः चित् प्रकृतिः अचित ताभ्यां विशिष्टं ब्रह्म, तच्च द्विविधम् कारणं कार्यञ्चेति द्वयमपि चिदचिद्विशिष्टं सूक्ष्मं स्थूलं च। एवं **'विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे तयोरद्वैतं विशिष्टद्वैतम्।'** तत्र सूक्ष्मावस्थापन्नं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणं शरीरि, स्थूल चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कार्यं शरीरं तदेव परिणामि। प्रमाणञ्चात्र श्रुतिः। तथा हि-

अजामेकां लोहिशुल्ककृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

(श्वेता० उ० ४-५)

अस्यार्थः- लोहित शुक्लकृष्णां रजस्सत्वतम स्वभावां, सरूपाः निजत्रिविधस्वाभावानुरूपाः, बह्वीः असंख्या प्रजाः, सृजमानां स्वगुणैरूपेतां कुर्वतीम्, एकाम् अपूर्वां काञ्चित्, अजां जन्मरहिताम् अनादिप्रकृतिं जुषमाणः प्रीतिपूर्वकं सेवमानः, एकः अजः अजन्मा अनादिः जीवात्मा, अनुशेते संसारासक्तो भवति। अन्यः एतस्मात् जीवात्मनः विलक्षणः, अजः जन्मरहितोऽनादिः परमात्मा जीवात्मना भुक्ता भोगाः यस्याः तां भुक्तभोगाम्, एनां प्रकृतिं जहति त्यजति। इह स्पष्टमजाम् एकाम् अजः एकः पुनश्च अजः अन्यः इति पृथक् त्रीन् निर्देशान् कृत्वा श्रुतिः स्पष्टं क्रमात् प्रकृतिप्रत्यगात्मपरमात्मनां वैलक्षण्येन विभागं दर्शितवती। तत्र प्रकृतिनिर्देशाय स्त्रीत्वं जीवात्मपरमात्मनिर्देशाय च पुलिङ्गनिर्देशः कृतः, अजत्वनिर्देशश्च त्रिषु समान एव। प्रकृतिसेवनादेव जीवस्य बन्धः, वैमुख्याच्च, परमात्मनश्च तदतीतत्वम्। एवमेव भगवती गीतापि त्रिभिः श्लोकैः प्रकृतिपुरुषपरमात्मात्मनादित्वमुक्तवती। तथा हि,

"यो मामजमनादिञ्च वेत्तिभूतमहेश्वरम्।।"

(गीता ९-३)

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादीवुभावपि।"

(१३-१९),

एवमस्मिन्नये प्रमेयासिद्ध्यै त्रीणि प्रमाणानि-प्रत्यक्षमनुमानं शब्दश्च। प्रमेयश्च परमात्मा विशेषणतया प्रकृतिपुरुषौ च स्वत एव प्रमेयाङ्गत्वमवाप्तौ, राजगमन `परिकरगमनान्तरभाव इव। न च अजो ह्येको (श्वेता० उ० ४-५) इति वाक्यखण्डो

बद्धजीवपरः अजोऽन्यो इति वाक्यशकलश्च मुक्तजीवपरः इति वाच्यम्, वाक्येन त्यागहेतुकमुक्तत्वस्य लपितुमशक्यत्वात्। त्यागानन्तरमुक्तत्वं ततः पूर्वमुभयोः समानत्व प्रतीतेः समानत्वप्रतीतेः। प्रकृते तु त्यागमन्तरेणापि अजोऽन्यः इति जीवात्मतो वैलक्ष्यण्योपपादनात् तादृक् कल्पनाया अनवकाश एव। किञ्च यद्यस्मिन् एकस्यैव जीवस्य भोगित्याग्यवस्था स्यात्तदा, एकः अन्यः इति पार्थक्यवाचिसर्वनामद्वयम् न व्याह्रियेत। अथ च पक्षिद्वयोपमानेन तमेवार्थं स्पष्टं द्रढयति। तथा हि श्रुतिः-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

(श्वेता० उ० ४-६)

एतदर्थस्तु व्याख्यातपूर्वः। नहि एकस्मिन् काले कोऽप्येकः द्वौ भवितुं शक्नोति। अतिनिपुणोऽयैन्द्रजालिक आत्मानं विरुद्धधर्मतया विभाजितुं न प्रभवति। कदात इमौ विभक्तौ इति जिज्ञासायामाह- परिषश्वजाते। अत्र परोक्षलिटः प्रयोगात् श्रुतिरनयोः परिष्वङ्गमनादिकालिकं सूचयति। एवं श्रुतिस्मृतिप्रमाणसाहस्रीबलेन सिद्धान्तिते विशिष्टाद्वैतवादे जीवात्मपरमात्मभेदे च सुस्पष्टीकृते।

कस्य जिज्ञासा? इत्यत आह- अतः इहातिर्गमनार्थ एव, अत्यते शरण्यत्वेन गम्यते शरणमङ्गीक्रियते यत् तत् अत्, तस्य अतः सर्वलोकशरण्यस्य भगवतः सीतापतेर्रामचन्द्रस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या इति सूत्रार्थः।

कथमिति चेत् विश्वासार्थमिति ब्रूमः। विश्वासो हि शरणागतिमूलम् तथा हि-

अनन्येसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः।।

मुमुक्षुभिर्ब्रह्मणः प्रपद्यमानत्वं श्रुतिस्मृतिषु प्रसिद्धम्। तथा हि श्वेताश्वतरश्रुतिः-

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।

(श्वे० उ०-६-१८)

स्मृतावपि शरण्यस्य नामरूपलीलाधाम्नां जिज्ञासा सुतरामपेक्षिता वर्णिता। अत एव मानसकाराः निर्णिन्युः-

जाने बिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होई नहि प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

(मा० ७/८९/७-८)

एतद्रूपान्तरम्-

अन्तरेण हरेर्ज्ञानं प्रतीतिर्नैव जायते अन्तरेण प्रतीतिं च प्रीतिर्न भवति प्रभो।।
ऋते प्रीतेर्हरेर्भक्तौ दृढ़ता नैव लभ्यते। चिक्कणतानुभूयेत यथा पक्षीन्द्र वारिणि।।

अत एव ज्ञातभगवन्माहात्म्यो दृढीकृत भगवत्पदपद्मभक्तिः परमभागवत उद्धव! प्राह विदुरं प्रति-

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभेगतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं, कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।।

(भागवत-३-२-२३)

अतएव ब्रह्मसूत्रे समसूत्रयत् भगवान् बादरायणः- "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्" (ब्र० सू० १-३-२) तस्मात् "अत्यते मुक्तैरपि शरणमीयते इति अत्" सर्वशरण्यं राघवारण्यं ब्रह्म, तस्य अतः। अत एव श्रीमद्रामायणे प्राह विभीषणः-

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्।।

(वा० रा० ६-१७-१७)

अथवा अतिर्गमनार्थोऽप्ययन्तर्भावितण्यर्थः। 'अतति आतयति गमयति नाशयति शरणागतदोषान्, अत्ति खादति विनाशयति च प्रपन्नदोषान् यः स अत्,' तस्य अतः प्रपन्नदोषविनाशकस्य। यद्वा- आतयति सकृदेव प्रपन्नं तवास्मीत्येव याचमानम् अभयं पदं गमयति योऽसावत्' तस्य अतः प्रपन्नायाभयदातुः ब्रह्मणः श्रीरामस्य जिज्ञासा कर्तव्या। यथा जनकेन हनुमता च व्यधायि। यथोक्तमत्रैव श्रीमुखेन प्रतिज्ञां कुर्वता भगवता-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(वा० रा० ६-१८-३३)

पुनश्च कीदृशो ब्रह्मण इत्यत उच्यतेऽपरः पक्षः, अतिर्हि प्राप्त्यर्थे, गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वात्। जिज्ञास्यं ब्रह्म प्राप्तुं शक्यं न वेति संशीतिः, यदि न तर्ह्यलं जिज्ञासया तद्विषयिण्या आकाशपुष्पीय एव इति सन्देहं निराकरिष्णुराह अत इति। अत्यते लभ्यते योऽसौ अत्, तस्य अतः सर्वथैव प्रेमलक्षणभक्तिमता, लब्धुं शक्यस्य, अतो ब्रह्मणो राघवस्य जिज्ञासा कर्तव्या। प्रेम्णैव सः प्राप्यते, यथोक्तं, नवयोगेश्वर सम्वादोपक्रमे योगेश्वरेण हरिणा-

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।

प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः।।

(भागवत ११-२-५५)

किमिदं जिज्ञास्यमस्मद्भवबन्धनं छेत्तुं प्रभवति नवेति विचारणायां प्राहः- अत इति। प्रकामं भगवानेव जीवं भवबन्धनान्मोक्तुं प्रभवति। तथा हि अतिरत्र मोक्षार्थः गत्यर्थस्य तथाविधत्वात्। अत्यते मुच्यते जीवो भवबन्धनान्मुक्तः क्रियते येनासौ अत् तस्य अतः, मोक्ष प्रदातुः ब्रह्मणः जिज्ञासा कर्तव्या। यथोक्तं गीतासु चरमोपदेशे-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

(गी० १८/६६)

इह ब्रह्म जिज्ञासेति पदद्वयं ज्ञातव्यं पूर्वेषु व्याख्यानेषु, षष्ठी विभक्तेश्च छान्दसो लुक्। अथ किमिदं ब्रह्म किं रजोगुणावच्छिन्नविरिञ्चिरूपं, यद्वा तमोगुणावच्छिन्नशिवरूपं, उताहो शङ्खचक्राद्युपलक्षितविष्णुरूपम् इति मीमांसायां प्राह अत इति- **'अकारो वासुदेवः', "अक्षराणामकारोऽस्मि"** ।।गीता १०/३३)। इतिस्मृतेः। तम् अकारं वासुदेवं तनोति विस्तारयति दिव्यशक्तिप्रदानेन इति अत् भगवान् रामः। इह अकारोपपदात् तनु धातोः कर्तरि क्विप् सर्वापहारिलोपे अनुनासिकलोपः तस्य अतः विष्णोरपि कीर्तिविस्तारकस्य महाविष्णोः श्रीरामस्य जिज्ञासा कर्तव्या। ननु श्रीरामस्य महाविष्णुत्वे किं मानम्? इति चेत् सन्ति सहस्रशः प्रमाणानि श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु ग्रन्थगौरवभीतोऽपि वैष्णवोपचिकीर्षया। आवश्यकानि दीयन्ते प्रमाणानीह कानिचित्।। तत्र यद्यपि सम्पूर्णोऽपि वेदः साक्षात् परंपरया च श्रीराममेवाभिधत्ते। तथापि स्पष्टप्रतिपत्तये तत्राथर्ववेदे श्रीरामतापनीयोपनिषदि-

चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।।

(श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषत्-१)

एवं "ब्रह्मविष्णुमहेशाद्याः यस्यांशा लोकपालकाः।। इति पुराणे। अथ श्रीमद्रामायणे वनवासप्रकरणे सुमित्रा सुस्पष्टं प्राह-

सूर्यस्यापि भवेत सूर्यो ह्यग्नेरग्नि प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्या कीर्तिः क्षमाक्षमा।।
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे।।

(वा० रा० २-४४-१५)

सूर्यस्यापि सूर्यः प्रकाशको महाविष्णुरेव, अग्नेरप्यग्निः, आदिकारणम्, प्रभोः विष्णोरपि प्रभुः स्वामी महाविष्णुः भगवान् राम एव। अथ कथं विनिगमनामन्तरेणापि प्रभोः इत्यस्य विष्णोरित्यर्थः क्रियते? इति चेच्छृणु। अनुपदं वक्ष्यमाणस्य श्रियः इति लक्ष्मीवाचकशब्दस्यानुरोधात्। एवं शब्दार्थानवच्छेदे अन्यशब्दसन्निधिरूपविशेषस्मृतिहेतुसद्भावादपि, श्रियोः क्ष्म्याः, श्रीः महालक्ष्मीः सीतातश्चापृथक्त्वात् रामः सीता जानकी रामचन्द्रः इति श्रौतप्रमाणाच्च। कीर्त्या कीर्तिः महाकीर्तिरिति भावः। क्षमायाः पृथिव्याः। अपि क्षमा पृथ्वी आधारशक्तिः।" **देवि त्वं विष्णुना धृता इति**" श्रुतेः। दैवतानां ब्रह्मविष्णुशङ्कराणामपि दैवतम् इत्यादि। अथ कथं तर्हि **'विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्'** इति? नायमर्धशब्दः नेमवाची, किं तर्हि- **'विष्णुमपि अर्ध्नोति ऋद्धिमन्तं करोति इति अर्धयति अर्धयतीति अर्धः'**, पचादित्वादच, तं विष्णोरर्धं नारायणस्यापि समृद्धिकर्तारम् अत एव **'जज्ञे विष्णुः सनातनः'** इत्यत्र सनातनविशेषणस्य चरितार्थता। एवमेव श्रीवत्सवक्षाः इत्यत्र श्रीः लक्ष्मीः उरसि यस्य स श्रीवत्सः नारायणः, श्रीवत्सो वक्षसि यस्य सः श्रीवत्सवक्षाः। अत एव गोस्वामितुलसीदासः प्राह मनुशतरूपातपःप्रसंगे-

शंभु विरञ्चि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।।

(मानस १-१४४-६)

एतद्रूपान्तरं-

शंकरश्च विरिञ्चिश्च भगवान् विष्णुरेव च।
अनेके संभवन्त्येते यस्यांशादेव सर्वदा।।

अत एव श्री विनयपत्रिकायाम्-

हरिहिं हरिता शिवहिं शिवता विधिहिं जो विधिता दई।
सो जानकी पति मधुर मूरति मोदमय मंगलमयी।।

रुपान्तरम्-

हरेर्हरित्वं विधये विधित्वं शिवाय योऽदात्न्नितरां शिवत्वम्।
माधुर्यमूर्तिः स च मंगलाढ्यः सीतापतिर्मोदमयो हि रामः।।

विस्तरस्त्वन्यत्र। अथवा- **अकारो वै सर्वा वाक एवम्** ' अं वेदं ब्रह्मणे अतनोत् इत्यत् यो वै वेदांश्च प्रहिणोति **तस्मै'** (क० उ० ६-१८) इति श्रुतेः **"तेनेब्रह्म हृदाय आदिकवये"** (भागवत ९-१०-३) तस्य अतः-वेदमयस्य वेदवेद्यस्य श्रीरामस्य ब्राह्मणो जिज्ञासा कर्त्तव्या। अत एव श्रीभागवते अवतारप्रसङ्गे प्राह भगवान् शुकाचार्यः- **"तस्यापि भागवानेव साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः"** (श्रीभगवत० ९/१०/३), ब्रह्म वेदस्तन्मयो भगवान् राम एव, अवैदिकस्य हि जिज्ञासने पुण्यजनकता न

स्यात्। तस्याः वेदाधीनत्वात्।

यद्वा- अं वेदमेव तनोति निजचरित्रेण रामायणात्मना विस्तारयति इति अत् तस्य अतः रामायणेन वेदार्थविस्तारकस्य रामस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा कर्तव्या। वेदस्य रामायणात्मकत्वप्रसिद्धौ अभियुक्ताः पठन्ति-

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षात् रामायणात्मना।।

अथ पक्षांतरम्गुरुमूलं हि ब्रह्मविचारशास्त्रम्। न खलु गुरुमन्तरेण साधको ब्रह्मज्ञातुं प्रभवति, तद् वाक्यानामेव निखिलमन्त्रमूलत्वात्। यथोक्तं गुरुगीतासु-

ध्यानमूलं गुरोमूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

तस्मात् क्व ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यत आह- अतः- अत्ति शिष्याणामज्ञानं खादति समापयति इति अत्' तस्य अतः, शिष्याणामज्ञाननाशकस्य श्रोत्रियस्य ब्रह्मनिष्ठस्य तपःसंस्कारसद्योनिसम्पन्नस्य श्रीमद्रामचन्द्रपदपद्मप्रपन्नस्य प्रत्युत्पन्नस्य ब्राह्मणस्य सद्गुरोः पार्श्वे ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या इति सूत्रार्थः। तथा च मुण्डक श्रुतिः-

''परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठम् ।।

(मु० उ० १-२-१२)

इह वैराग्यपुरःसरसद्गुरूपसत्तिप्रकारो वर्णितः। ब्रह्म परमात्मानम् अणति गच्छति इति ब्रह्मणः पचादित्वादच् शकध्वादित्वात्पररूपं, ब्रह्मण एव ब्राह्मणः। कर्मभिश्चितान् क्षणभंगुरान् लोकान् परितो विभाव्य अकृतः नित्यो भगवान्, कृतेन अनित्येन वस्तुना नास्ति, न लब्धुं शक्यते, तस्मात् तस्य परमात्मनः विज्ञानार्थं विशेषवेदनाय समित्पाणिः श्रोत्रियं चतुर्भिप्रकारैः संपरीक्षितं ब्राह्मणेतरस्य श्रोत्रियत्वासंभवात्। तथा हि याज्ञवल्क्यः

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारात् द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेद्विप्रः श्रोत्रियो वेदपारगः।।

एवं ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाल्लब्धजन्मानं पुनश्च यथाकालं कृतजातकर्मनामकरण-बहिर्निष्क्रमणान्नप्राशनचूड़ाकरणकर्णवेधलिप्यारंभव्रतबन्धवेदारंभसमावर्तनादिसुसंस्कारं द्विजं पुनश्चाधीतसकलवेदं सततं परिपठ्यमानश्रुतिमन्त्रं भूयो

विज्ञातसकलवैदिकरहस्यं श्रोत्रियं, ब्रह्मणि वेदे परमात्मनि च निष्ठा यस्य तं ब्रह्मनिष्ठं गुरुं गृणातीति गुरुः तं, अथवा गुः अन्धकारः तं रुणद्धीति गुरुस्तम्। यथोक्तं गुरुगीतासु-

गुः शब्दोऽन्धकारः स्यात् रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते।।

अभिगच्छेत् अभीष्टं गच्छेत् उपसर्पेत इति तदर्थः। इयं सकलापि श्रुतिः सूत्रेऽस्मिन् वेष्टिता। तथा हि- **"अत्यते ब्रह्मविज्ञानार्थं शिष्यैः सततमुपसद्यते गम्यते प्रपद्यते वा यः स अत् तस्य अतः"**। ननु प्रौढमनोरमादौ सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वनिषेधात् कथमत्र सामीप्यं षष्ठ्यर्थत्वेन स्वीक्रियते? नैष दोषः, वृत्तौ सामीप्यस्य षष्ठयर्थत्वनिषेधेऽपि वाक्ये दोषाभावात्। अथवा स्थान इव सामीप्यस्य अध्याहारः। अथवा नात्र षष्ठी, का तर्हि? सप्तमी, किमर्थे? सामीप्यार्थे; कतमा सा? औपश्लेषिकी। उपश्लेषश्च द्विधा भवति, संयोगात्मकः सामीप्यात्मकश्च, संयोगात्मकः **'आश्रमे तिष्ठति,'** सामीप्यात्मकः **"गुरौ वसति।"** तथैवात्र सामीप्यार्थे औपश्लेषिकी साप्तमी। ननु भो अत इत्यत्र न श्रूयते सा, अनभिज्ञो भवान् वैदिकव्याकरणे, इह **"व्यत्ययात्"** ङेः स्थाने ङस्। तथापि आतयति ब्रह्मतत्वं गमयति इति अत्, तस्मिन् अतः सद्गुरौ ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। अथवा एतच्छदादपि सप्तम्यर्थे आद्यादित्वात्तसि परमात्मनोऽपि गुरुः सन्निकृष्टतरो भवति, तस्मात् एतस्मिन्निति अतः, अतिशयेन सन्निकृष्टे गुरौ ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। यथोक्तं भगवता मानसकृता-

गुरु बिनु भवनिधि तरई न कोई। जौं विरञ्चि शंकर सम होई।।

(मानस ७-९३-५)

एतद्रूपान्तरं-

विरिञ्चिना न समोवापि शंकरेण समोऽथवा।
न तरेद् भवपाथोधिं गुरुपादप्लवं विना।।

किं बहुना औपनिषदनामौपनिषदार्थानामपि प्रकाशकत्वस्य सद्गुर्वधीनत्वं कठोपनिषदि, श्वेताश्वतरोपनिषदि च सबलं प्रत्यपादि- **यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः। प्रकाशन्ते- महात्मनः।।** (क० उ० १-३-२५) (श्वे०३-६-२३)।

अत एव श्रीमद्भागवतेऽपि, औपनिषदार्थानां सद्गुरुसापेक्षप्रकाशत्वमुक्तम्- तथा हि-

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्।।

(भाग० १०-१४-२४)

अथ पुनः पक्षांतरम्- न खलु वेदमन्तरेण ब्रह्मजिज्ञासोपशमः, ब्रह्मसत्तायां वेदानामेव परमप्रामाण्यात्। तस्मान्नैयायिका अपि **द्यावा भूमिं जनयन्देव एकः** इति श्रुतिमाधारभूतां मत्वा परमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वं साधयन्ति। अत एव गदाधरभट्टाचार्यः **'वेदाः प्रमाणम्'** इत्यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्धसंख्यायाः एकत्वाख्यायाः विवक्षणादेव शब्दत्वरूपप्रामाण्यस्य सार्वजनीनत्वेन समानवचनाभावं साधुत्वेन सिद्धान्तयन्ति। अत एव 'अम् ब्रह्म तनोति प्रामाणिकतया तद्‌गुणगणगानेन विस्तारयति इति अत्' तस्मिन् अतः, तस्मात् अतः वेदात् ब्रह्म जिज्ञासा कर्तव्या। एवमेव 'अं वेदार्थं तनोति इति अत्' अष्टादशपुराणानामितिहासानाञ्च समूहः अत् तस्मात् अतः वेदानुमोदितपुराणेतिहासेभ्यश्च परतः प्रमाणभूतेभ्यः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। अत एव महाभारते-

इतिहासपुराणेभ्यो वेदार्थमुपबृंहयेत।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मय्यसौ प्रहरिष्यति।।

यद्वा 'अं श्रीरामचन्द्रं तनोति विस्तारयति इति अत् रामायणम् तस्मात् अतः रामायणात् ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या, तस्य वेद सम्मितत्वात्। यथोक्तं तत्रैव-

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वैदेश्च सम्मितम्।
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

एवम् अं रामचन्द्रं तनोति वर्धयतीति अत् अयोध्या, तत्र अतः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या, धाममाहात्म्येन श्रीसरयूसेवनेन शीघ्रमेव भगवत्तत्त्वज्ञानं भवति। अत एव व्याहरन्ति-

यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्‌घनतामुपैति।।

अत एव प्रणिगदति हुलसीहर्षवर्धनस्तुलसीदासोऽपि-

कंवनेहुँ जन्म अवध बस जोई। राम परायन सो परि होई ।।

(मानस ७-९६-६)

एतद्रूपान्तरम्-

अयोध्यायां वसेद्यस्तु कस्मिंश्चिदपि वैभवे।

स जनो नूनमेव स्यात् रामपारायणो मुहुः।।

किञ्च, अं रामचन्द्रं तनोति लीलया विस्तारयति यः स अत् "चित्रकूटः" तस्मिन् अतः चित्रकूटे ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। यथोक्तं श्रीमद्रामायणे भरद्वाज महर्षिगणा-

यावता चित्रकूटस्य नरः श्रृङ्गाण्यवेक्षते।
कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः।

(वा० रा० २-५४-३०)

यद्‌वा, अं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म तनोति विस्तारयतीति अत्-ः श्रीब्रजमण्डलं वृन्दावनादिकं, तस्मिन् अतः ब्रह्म जिज्ञासा कर्तव्या। अत एव व्याहरन्ति-

परमिममुपदेशमादृयध्वं, निगमवनेषु नितान्तखे खिन्नाः।
विचिनुतभवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्।।

अथ **'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'** इति नियमात् ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रयोजनं वाच्यम्। तदन्तरेण तस्यां प्रवृत्यसंभवादिति चेत उच्यते- अतः इह एतच्छब्दात् चतुर्थ्यर्थे आद्यादित्वात्तसि किमर्थं ब्रह्म जिज्ञासाकर्तव्या? इत्यपेक्षायां आह- अतः एतस्मै परमात्मने ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। ज्ञाते ब्रह्मणि एष प्राप्तो भविष्यति। क एषः। इति चेदुच्यते-

सैष दाशरथी रामः सैष रामो धनुर्धरः।
सैष सीतापति रामः सैष ब्रह्ममयो हरिः।।

अथ कथमेतत् पदवाच्यो भगवान् रामः? इति चेदुच्यते-इह भागवतं प्रमाणम्-

"तस्यापि भगवानेष साक्षात् ब्रह्मयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्न इति संज्ञया।।

(भाग ९-१०-३)

अथ कस्मिन्नर्थे चतुर्थी? तादर्थ्ये क्रियार्थोपपदार्थे वा, एतमनुकूलयितुं ब्रह्म जिज्ञासा कर्तव्या। जिज्ञासया कथमनुकूलतैतस्य भगवतो रामस्य? इति चेदुच्यते-

पूर्वं जिज्ञासा पदार्थो विचार्यते। का नाम जिज्ञासा? ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। इच्छायां सन्। **"धातोः कर्मणः समान कर्तृकादिच्छायां वा"** (३/१/९) इत्यनेन। ज्ञानंञ्च वेदनम्, वेदनञ्चोपासनम्। अत एव भगवान्बोधायनः प्राह- **'सिद्धं**

तूपासनशब्दात्' (बोधायनवृत्तिः) अथ किमाधारमेतत्? इति चेतछ्रुतिमेव ब्रूमः। तथाहि- तद्विजिज्ञासस्व तदेव ब्रह्म (तैत्तरीयोपनिषद २/३) एवमेव "तज्जलानीति शान्त उपासीत" (छा० उ० ३-१४-३) इत्यनयोरपि ऐक्यार्थात्। ज्ञानोपासनयोरैक्यम्। एवमेव मानसकाराः अप्यामनन्ति तथाहि तन्मते साध्यज्ञानं भगवान् रामचन्द्रः साध्या भक्तिश्च सीता यथा-

सानुज सियसमेत प्रभु राजत परनकुटीर।
भक्ति ज्ञान वैराग्य जनुशोभित धरे शरीर।।

(मा० २/३२१)

रुपान्तरम्-

स भार्यया सह भ्रात्रा भाति रामस्तृणालये
भक्तिवैराग्यसंयुक्तं यथा ज्ञानं सविग्रहम्।।

इह ज्ञान भक्तिभ्यामुपमितयोः श्रीरामसीतयोः पुनर्बालकाण्डे-

गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौं सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।

(मानस १/१८)

रुपान्तरम्-

गिरार्थयोः पयोवीच्योः समौ भिन्नावभिन्नकौ।
सीतारामपदे वन्दे खिन्ना बहुमता ययोः।। इति

द्वयोरभेदं कथयता उपमेययोरिव उपमानयोरपि भेदाभावः साधितः। इति हुलसीहर्षवर्धनतुलसीदासः सर्वथैव बोधायनंजगद्गुरुरामानन्दाचार्यञ्चानुसरति। तस्माज्जिज्ञासोपासनापरपर्याया। एवं ज्ञातुमुपासितुमिच्छा जिज्ञासा। सा च भक्तिः, किं प्रमाणमिति चेत् श्रीगीतायां भगवद्वचनमेव ब्रूमः। तत्र भक्तचातुर्विध्यं दर्शयता भगवता जिज्ञासुरपि द्वितीयभक्ततया संकीर्तितः। यथा-

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।

(गीता ७/१६)

जिज्ञासते इति जिज्ञासु "**सनाशंस भिक्ष उः** इत्यनेन उ प्रत्ययः कर्तरि। यदि जिज्ञासाकर्ता भक्तः, तर्हि जिज्ञासुक्रिया जिज्ञासा भक्तिः। भक्त्यैव भगवतोऽनुकूलता, अत एव एतमनुकूलयितुमिति एतस्मै। एतस्मै इति अतः।

"आद्यादित्वात् तसि" एतदश्च इति अनादेशः। एतं निरस्तसमस्तहेयगुणक-सततनिहितनिरतिशयनिरुपद्रववनिरवधिकनिष्पापकल्याणगुणगणैकनिलयं परमानन्दसुधैकसारं परमकरुणाकृपाकूपारं भगवन्तं सीताभिरामं श्रीराममममनुकूलयितुं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। भक्त्यैव भगवाननुकूल्यते **"भक्तिरेव एनं नयति"** इंति श्रुतेः। किञ्च श्रुतिः परमात्मवरणाश्रयेणैव जनेन तत्प्राप्तिमाह तद्यथा-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन-
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृण्वते तनुँ स्वाम्।

(कठ २/२३)

श्रीमद्गीतायामपि स्वज्ञानस्य भगवता भक्तिमूलकत्वमुक्तम् तथाहि-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः। (गीता १८/५५)

एवं विधा भगवदनुकूल्यैकसाधनापरपर्याया भक्तिः का नाम? इति चेत्, विप्रतिपद्यन्त आचार्याः। केचन भगवदाकाराकारितां वृत्तिं मन्यन्ते। तथाहि मधुसूदन सरस्वती-

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनुषी वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

श्रीरुगोस्वाभिपादास्तु आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिं मन्यन्ते। यथा-

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकमाद्यपावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

पाञ्चरात्रकृत्तु-हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिमङ्गीकरोति। तथाहि

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।।

हृषीकाणि इन्द्रियाणि तैः भगवतो नामरूपलीलाधामास्वादनं भक्तिः।, शाण्डिल्य ईश्वरे परानुरक्तिं भक्तिमङ्गीचकार सा तु परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यसूत्र १/१/२)

श्रीमन्नारदोऽपि **सा तस्मिन् परमप्रेमरूपा** (१/१/२ नारदभक्तिसूत्र) इत्थं रामानुजाचार्याः ध्रुवानुस्मृतिं भक्तिं स्वीचक्रुः। वयमिह श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य-चरणारविन्दमकरन्दरोलम्बायमानचेतसः श्रीमत्तुलसीदासमनुसरन्तेः भगवति परमासक्तिं भक्तिं सिद्धान्तयामः। तथाहि-

आसक्तिः परमाभक्तिः सा च सीतपतौ मता।
श्रीरामभद्राचार्यस्य शास्त्रसिद्धो विनिश्चयः।।

उपस्थापयमासुश्चोदाहरणं तुलसीदासमहाराजाः मानसस्य चरमदोहायाम्

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।

(मानस ७/१३०ख)

रुपान्तरम्-

कामिने च यथा नारी प्रिया लुब्धाय वै धनम्।
तथा निरन्तरं रामो रघुनाथः प्रियोऽस्तु मे।

अत एव भगवान गीतायामासक्तिमभ्यसति "**मय्यासक्तमना पार्थ।**" (गीता ७/१)

अथ का व्युत्पत्तिरेतस्याः? करणभावभेदाभ्यां द्विधा। **भज्यते अनया सा भक्तिः। भजनं भक्तिरिति**" नन्ववैदिक्येषा। मैवम्; यस्य देवे परा भक्तिः (कठ १/३/२५) इत्यादौ श्रौतत्वेन क्रीर्तितत्वात्। एवं जिज्ञासया भंक्त्या एतमनुकूलयितुमित्यतः। यद्वा तादर्थ्ये चतुर्थी एतस्मै एतदर्थंइत्यतः **ज्ञानेनैष तुष्यति, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः** (गीता ७/१७) इति भगवदुक्तेः।

अथ कस्य जिज्ञासा? अत आह- ब्रह्म जिज्ञासा। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा। " **इह कर्तृकर्मणोः कृति**" (पा० अ० २-३-६५) इति सूत्रेण षष्ठी। अनन्तरं षष्ठी समासः? इति चेत् **कृद्योगात् षष्ठी समस्यत एवेतिवाच्यम्** इति वार्तिकेन तस्य निषेधस्य प्रतिप्रसवात् समासः। ननु शेषत्वविवक्षायां समासः? इति चेन्मैवम्; उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितपरिकल्पने मानाभावात्। शास्त्रतः समुपस्थितस्य कर्मणस्त्यागस्य अनौचित्यात्। वस्तुतः "**तद्विजिज्ञासस्व**" इति श्रुतेरर्थानुवादभूतत्वात् सूत्रस्य। तत्र च विजिज्ञासस्व इति जिज्ञासनक्रियायाः कर्मत्वेन ब्रह्म शब्दस्य निर्देशात् तत्परित्यागे श्रुत्यपमानप्रत्यवायः इति मम नवीनम्। ननु ब्रह्मणो जिज्ञासायां सूत्रितायां प्रकृतिपुरुषौ जिज्ञास्यविषयौ न स्याताम् तदभावे च न सिध्येत् विशिष्टाद्वैतवादः? मैवं वादीः, ॰यथा **'राजा गच्छति'** इत्यत्रानुक्तमपि तत्सैन्यमन्त्रिमहाराज्ञिगमनं राजगमनेऽन्तर्भूतत्वात् स्वतः सिध्यति, राज्ञा सह तेषामपृथग्भावसिद्धेः, तैः विशिष्टत्वाद् राज्ञः। तथैव इहापि ब्रह्म सह जीवप्रकृत्योः अपृथग्भावसिद्धेः तज्जिज्ञासन एवैतयोर्जिज्ञासागातार्थ्यम्। अपृथग्भावो नाम अविनाभावसम्बन्धः।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्। (गीता १०/३९)

इति भगवता समर्थितत्वात्। एवमविनाभावसम्बन्धेन सहभूतत्वात् ब्रह्मणा तज्जिज्ञासनविशेषणीभूतयोरनयो सुतरां जिज्ञासितत्वम्। वस्तुतस्तु तदङ्गीभूतानां पञ्चज्ञेयानां जिज्ञासितत्वम्। तानि च तावत् स्वस्वरूपपरस्वरूपोपायस्वरूपविरोधिस्वरूपफलस्वरूपाणि। इदमेवार्थपञ्चकं-

स्वस्येह जीवस्य किल स्वरूपं तथा स्वरूपं परमात्मनश्च।
प्राप्तेरुपायस्य च वै स्वरूपं तत्प्राप्तये यद् गदितं श्रुतिज्ञैः।।
पुनः स्वरूपं परमेश्वरस्य प्राप्तौ स्थितानां च विरोधिनां वै।
तथैव तत्प्राप्तिफलस्वरूपपं जिज्ञास्यमेतत् खलु पञ्चकं तत्।।

एवं ब्राह्मणः जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। किंरुपस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा सगुणस्य निर्गुणस्य वा त्वदभिमतस्य निर्गुणस्य चेत् तर्ह्यलमनया। यत् स्वजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं सत्तामात्रं निष्क्रियं किं तेन जिज्ञास्येन। यदस्मान्न भीषणभवाग्नेस्त्रायेत। ननु भोः तदतिरिक्तं किञ्चिदपि वस्तु नास्ति तर्हि विफलोऽयं ब्रह्मजिज्ञासारभ्भः? यतो हि पूर्वमिदं वक्तव्यम् यत् तद्ब्रह्म अल्पज्ञं सर्वज्ञं वा, यद्यल्पज्ञं तर्हि अस्मदादेरिवाल्पज्ञसदृशस्य को लाभः जिज्ञासया। चेत् सर्वज्ञं, **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** तर्हि नूनम् तस्य जिज्ञासुना केनचिद् भक्तिव्यम्! यदि नास्ति ब्रह्मातिरिक्तं किमपि तदेव जिज्ञास्यं तदेव जिज्ञासितृ तर्हि तवैव सिद्धान्तः परिहासास्पदमभूत्। पूर्वं स्व एव स्वं कथं जिज्ञासेत, यदि स्वमेव न जानाति तर्हि इतरः कथं विजानीयात् स्वातिरिक्तवस्त्वभावे तज्जिज्ञासितं कः शमयेत्? किञ्च, ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा सा च ज्ञानविषयिणी इच्छा। सकलधर्मवर्जिते निर्गुणे निष्क्रिये तव ब्रह्मणि इच्छा जातैव कथम्। मिथ्याभूता तस्मिन्नध्यस्ता सा, तर्हि तदतिरिक्तवस्तभावात् कुत आगता? कल्पिता चेत् तर्हि कल्पयिता कः? ब्रह्म इति चेत्, तर्हि **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इति श्रुतिनिगदितं ब्रह्म **कथमासादितभ्रमम्।** तदप्यसत्यञ्चेत् तर्हि, एतस्मिन् महति पातके वयं कथं प्रवृत्ताः? यथोक्तमभियुक्तैः-

नह्यसत्यात्परं पापं सत्यात् पुण्यं परं नहि।
यस्यास्ति हृदये सत्यं तस्यास्ति हृदये हरिः।।

एवं सततमसत्यसंधानां निरन्तरमसत्यवादजनितमहापातककूटानां कूटभाषिणां मायारजोराशिमलिनीवृतमानससरोवराणां सदैव भगवद्भजन-विमुखकलितकपटकलेवराणां प्रच्छन्नबौद्धानां बालुकाभित्तिसदृशसिद्धान्तचिन्तनेनालम्। अस्माकं तु सीतरामविशिष्टाद्वैतवादे निर्विवादे विगलितसकलश्रुतिविषादे जीवस्य ब्रह्मणः पृथक सत्ता। सा च नित्या भगवदधीना च **'नित्यो नित्यानाम्'** इति श्रुतेः। स च जीवस्त्रिधा बद्धो मुक्तो नित्यश्च। नित्यस्तावत् भगवतो नित्यकैंकर्य्यवान्; **"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।"** (तै० उ० १/१) मुक्तस्तावत् भग्नभवबन्धनो भगवत्सामीप्यभाक्।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

(मु० उ० २-२-८)

इति श्रुतेः। बद्धस्तावत् विस्मृतार्थपंचकस्वरूपः। तथा च श्रुतिः-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः

(१/२/८ क०उ०)

बद्धोऽयं बुभुक्षमुमुक्षुभेदेन द्विधा। तत्र मुमुक्षुणामेव कल्याणार्थं भगवता बादरायणेन ब्रह्ममीमांसैषा प्रारभ्यते। मुमुक्षुणा जीवेन ब्रह्म जिज्ञासा कर्तव्या। कस्य जिज्ञासा? अत आह ब्रह्मणः, ब्रह्म पदेन निरस्तसमस्तप्राकृतगुणः सत्वरजस्तमोविवर्जितः परमकरुणावरूणालयः विहितजगज्जन्मस्थितिलयः कोदण्डदीक्षागुरुः परमेश्वरः सर्वसर्वेश्वरो भगवान् राम एवात्राभिहितः। तथा च श्रुतिः-

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते।।

(श्रीराम पू० उ० १/६)

एवं श्रीमद्रामायणेऽपि-

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनचतुर्भुजः।।

(वा० रा० ६/११७/१५)

अत एव मानसकारोऽपि-

रामब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अकथ अनादि अनूपा।।

(मानस २/९३/७)

रुपान्तरम्-

परमार्थ स्वरूपो हि रामो ब्रह्म सनातनः।
अविगतो ह्यकथ्यश्च अनाद्यनुपमस्तथा।।

किञ्च बृँहतीति ब्रह्म। अत एव कौशल्यां विराड्रूपं दर्शयति-

दिखरावा मातहि निज अद्भुत रुप अखण्ड।

रोम-रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्राह्मण्ड।।

(मानस १/२०१)

रूपान्तरम्-

सो ऽदर्शयत् स्वां जननी स्वरूपं विराट् तथात्यद्भुतमप्यखण्डम्
विराजमाना प्रतिरोम यस्य ब्रह्माण्डसंख्यामितकोटिकोटिः।

किञ्च- बृँहयतीति ब्रह्म! अत एव श्रीचित्रकूटयात्रायां भरतः प्राह-

प्राननाथ रघुनाथ गुसाई। जो बढ़ होत सो राम बढ़ाई।।

रुपान्तरम्-

स प्राणनाथो रघुनाथ एष स्वामीगवां श्री जनकात्मजायाः।।
यो गौरवं कोऽपि कदापि धत्ते स रामचन्द्रात् गुरुतामवाप्य।।

ननु कथं श्रीरामचन्द्रस्य ब्रह्मत्वम् तत्र श्रुतिसमीरितब्रह्मगुणानां कतमस्याप्यभावात्? इति चेन्मैवं जल्पीहि। तत्र श्रीरामेऽपहतपाप्मत्वमत एव तस्मिन्नहल्योद्धारः संगच्छते। यथोक्तं श्रीमद्रारामायणे विश्वमित्रेण-

तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः।
तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम्।।

(रामायण १/४९/१२)

अत्र तारयेति पदम् स्पष्टं रामस्य ब्रह्मत्वं व्यनक्ति। अस्मादृक्षेषु जीवेषु तारणधर्मस्य सर्वत्रानुपपत्तेः। 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतौ जीवे तरणधर्म उक्तः न च तारणधर्मः। एवं निर्जरत्वम्, यथा गुणमणि वर्णन प्रसङ्गे-

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः।।

(रामायण २/१/१८)

विशोकत्वमत्रैव अरोग इति पदेन। स्वयं श्रीमानसे भगवान् शंकरः प्राह-

काशी मरत जन्तु अवलोकी। जासु नाम बल करहुं विसोकी।।

(मानस १/११९/१)

रुपान्तरम्-

म्रियमाणानहं काश्यां जन्तून् समवलोक्य च।

यस्य नाम बलेनैव विशोकां वितनोमि तान्।।

एवं विमृत्युत्वं, तत्रैव गुणमणिप्रसंगे रामायणे- **नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः** (वा०रा०२/१/२९) एवमविजिघित्सत्वमपिपासितत्वञ्च तत्र तत्र चारित्रेषु क्वापि क्षुत्पिपासयोः प्रसङ्गो न दृश्यते। सत्यकामत्वं सत्यसंकलपत्वञ्च तत्रैव विभीषणशरणागति प्रसङ्गे यथा-

पिशाचान्दानवान्यक्षान्पृथिव्यां चैव राक्षसान्।
अङ्गुल्यग्रेण तान्हन्यामिच्छन्हरिगणेश्वर।

(वा० रा० ६/१८/२३)

सत्यसंकल्पत्वमत्रैव-

अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रजनबान्धवम्।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे ।।

(वा० रा० ६/१९//२१)

इत्येवमपहतपाप्माविजरोऽविमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः- इत्येवं श्रुतिनिगदितगुणाः सर्वेऽपि सीताभिरामे श्रीरामे संघटन्ते। तस्मात् "**राम एव परं ब्रह्म रामादन्यन्न विद्यते** इति सनत्कुमारवचनं भूतार्थमेवेति विरम्यते।

तच्च रामाख्यं ब्रह्म निर्गुण सगुणञ्चेत्युभयम्। निरस्ताः हेयगुणाः येन तन्निर्गुणं, वात्सल्यादिभिः गुणैः सह वर्तमानं सगुणम्। यद्वा निराकृता सत्वरजस्तमोगुणाः येन तन्निर्गुणम्। यद्वा गुणो बन्धनं रज्वात्मकम् निराकृतः गुणः येन तन्निर्गुणम्। यद्वा निरुपमा अव्यभिचारिणः वात्सल्यादयोऽनन्यसाधारणाः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्। यद्वा निश्शेषाः गुणाः सारल्यादयो यस्मिन् तन्निर्गुणम्। यद्वा निरूपद्रवाः निरतिशयाः निरुपाधिकाः गुणा यस्य निःश्रेयष्कराः गुणाः यस्य तन्निर्गुणम्। वस्तुतस्त्वेककालावच्छेदेनैकाधिकरणतावच्छेदेनैकसंसर्गावच्छेदेन सकलविरुद्धधर्माश्रयतावच्छेदकतावत्वमिति दृष्ट्या यौगपद्येनैककाल एव निर्गुणत्वं सगुणत्वञ्चेति मिथोविरुद्धधर्मद्धेयत्वम्- भगवति श्री सीतारामे संघटते। प्रकटित- गुणापेक्ष्यं सगुणत्वं, निर्लीनगुणापेक्ष्यं च निर्गुणत्वम्। लीलायां भक्तोपयोगितासापेक्षगुणानां प्राकट्यानुरोधेन सगुणत्वम्। यथा श्रीमिथिलामण्डपे तदानीन्तनलीलोपयोगिप्रकटितसौन्दर्यादिगुणानपेक्ष्य सगुणत्वं, तस्मिन्नेव समये तदानीन्तनलीलानुपयोगिशूरत्वरौद्रत्वादितिरोहितगुणानपेक्ष्य निर्गुणत्वम्। एवं रणलीलायां युद्धलीलानुपयोगितिरोहितमाधुर्यादिगुणानपेक्ष्य निर्गुणत्वं तदानीन्तन लीलोपयोगिप्रकटितशौर्यधैर्यपराक्रमोत्साहादिगुणानपेक्ष्य सगुणत्वञ्च। अत एव श्री मानसे सुतीक्ष्णः-

निर्गुण सगुण विषय समरूपम्। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपम्।

(मानस ३-११-११)

एवं विधस्य सगुणसाकारस्य हृतसकलभारस्य सीताश्रृङ्गारस्य शरीरसुषमा-निहतमनोभवाहङ्कारस्य कौसल्याकुमारस्य ब्रह्मणः श्रीरामस्य प्रभावस्वभावात्मिका नामगुणलीलाधामसम्बन्धिनी दृप्तशरणागत्युपयोगिनी जिज्ञासा भक्तिरूपा कर्तव्या।

यत्तु केचित् अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति मीमांसासूत्रकृतोऽन्धानुकरणमिति प्रालपन, तत्तु पाश्चात्यचिन्तन विदूषितान्तः करणानां सनातनधर्मसिद्धान्तानभिज्ञानां प्राज्ञंमन्यमनसां कुमनसां कुत्सितप्रलपितम्। नैतदन्धानुकरणं केषांचित् किन्तु श्रुतेः शब्दानुकरणम्। **'तद्विजिज्ञासस्व' तद्ब्रह्मेति** (तै० उ० ३-२)। इह जिज्ञासस्वेत्यत्र जिज्ञासेतिभावधञन्तप्रयोगः ब्रह्मेति। कर्मद्योतकस्य जिज्ञासाशब्देन षष्ठीतत्पुरुषसमासे ब्रह्मजिज्ञासेति तद्विजिज्ञासस्व इति **लोट् च** इत्यनेन विद्ध्यर्थे लोडन्तप्रयोगः। विधिश्चात्र प्रवर्तना सा च अत्यन्तमप्राप्तौ। जीवः खलु अनादिवासनामलीमसान्तःकरणः स्वीकृतसप्तावरणः जन्मजरामृत्युजर्जरितशरीरो विस्मृतरघुवीरो दन्दह्यमानो विषयाग्निना मृगमरीचिकायां पुनः पुनर्म्रियते जायते च पुत्रकलत्रादिमायिकसम्बन्धिषुविश्राणितसकलसमयः सभयोऽयं विविधसांसारिकजिज्ञासासंशक्तचेतस्तया ब्रह्म जिज्ञासितुं समयमेव न लभते। तस्मादत्यन्तमप्राप्तौ विधिः।

यत्तु जिज्ञासा ब्रह्मविचार इति केचन, तदनुचितम्। इच्छायां विहिततस्य सनः नैरर्थक्यकल्पने शास्त्रमर्यादोल्लङ्घनम्। ब्रह्मविचारश्च न शास्त्रार्थमतिशेते न च 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० अ० १-४-४९) इति सूत्रे यथा षष्ठ्यर्थमोषः तथैवात्रापि इच्छाख्यस्य सनर्थस्य मोषः स्यादिति वाच्यम्। अनुपपत्त्यभावेन तथाविधकल्पनानौचित्यात्। तत्र ह्येकस्य कर्तृरूपार्थस्योभाभ्यां कर्तृपदषष्ठीविभक्तिभ्यां निगद्यमानत्वे तदन्यतरस्य षष्ठ्यर्थस्य मोषः साधुत्वप्रयोजना च विभक्तिः स्वीकृता। नैषा तथाभूता परिस्थितिः **'तद विजिज्ञासस्व'** इति कंठरवेणैव श्रुत्या ब्रह्मज्ञानेच्छाया विहितत्वात्। संसारेच्छानिरासाय ब्रह्मज्ञानेच्छाया विधेयत्वस्य सुतरामुपादेयत्वात्। किंच यदीच्छार्थो नेष्टःस्यात् तदा **तद् विचारय तद ब्रह्म** "इत्यभिदध्याच्छ्रुतिः। अथातो ब्रह्मविचारः **अथातो ब्रह्म ज्ञानं वा** "इत्येवमादि सूत्रयेत सूत्रकारः। अत एवैतस्य ब्रह्मसूत्रस्य परमप्रामाणिके भाष्यरूपे श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्दे सूतमुखेनैतस्य प्रथमसूत्रस्य यथानुपूर्वी सानुवादः स्पष्टं निगदितोऽर्थो भगवता व्यासेन-

धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

(भागवत १-२-९, १०,११)

एवं कर्मकाण्डविचारानन्तरमनेन जीवेन मुमुक्षुणा सगुणसाकारब्रह्मणः श्रीरामस्य प्रपत्तये नामरूपलीलाधामरूपिणी स्वभावप्रभावात्मिका आर्षवाङ्मयेन एतच्छास्त्रनिर्णीतदृशा जिज्ञासा कर्तव्या। इत्यधिकरणार्थः।

धर्मजिज्ञासितादूर्ध्वमनित्यत्वाच्च कर्मणाम्।
रामाख्यब्रह्मजिज्ञासा कार्या वेदान्तसम्मता।।
जिज्ञासायाञ्चाधिकरणं ब्रह्मसूत्रे यथामति।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं राघवाप्तये ।।श्रीः।।

इति **श्रीमज्जगद्गुरूरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यकृतौ ब्रह्मसूत्रेषु श्रीराघव कृपाभाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमपादे प्रथमसूत्रात्मकं जिज्ञासाधिकरणम्।।**

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ जन्माद्यधिकरणम्।।

जन्मस्थितिलयाश्चैव यतोऽस्य जगतो मताः।
उपादाननिमित्तात्मा स रामो जयति प्रभुः।

ननु प्रथम सूत्रे ब्रह्मजिज्ञासा विधेयत्वेन निर्दिष्टा। तत्र सन्देहः किमिदं जिज्ञास्यं ब्रह्म? यतोहि बहूनि सन्ति ब्रह्मपदाभिधेयानि। ब्रह्म परमेश्वरः, **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** इत्यादिश्रुतेः। पुनश्च ब्रह्म जीवः, **"त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"** इति श्रुते। पुनश्च, **'प्रकृतिः ब्रह्म' "मम योनिर्महद् ब्रह्म"** (गीता १४-३) (२) पुनश्च **"अन्नं ब्रह्म"** इति श्रुतेः। पुनश्च **हिरण्यगर्भो** ब्रह्म, **"ब्रह्मणा लोककर्तृणा"** इत्यादि निर्देशात् ब्राह्मणोऽपि ब्रह्म। **'यस्य ब्रह्म, च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः'** (कठ उ० १/२/२५) पुनश्च **'वेदो ब्रह्म' 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** पुनश्च **"वाग् वै ब्रह्म"** इति श्रुतेः। इत्येवं सत्स्वनेकेषु ब्रह्मशब्दाभिधेयेषु प्रकृते कतमोऽर्थो जिज्ञास्य इत्याशंङ्कायामाह भगवान्बादरायणः।

जन्माद्यस्य यतः ।।१/१/२।।

जन्मादि अस्य यतः इति पदच्छेदः। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र इति नियमादसन्दिग्धार्थप्रतिपत्तयेऽत्राप्यनुवृत्तिक्रमः पाणिनिसूत्रवत्।

यत्तदोर्नित्यसापेक्षत्वाद् यदित्यस्यानुरोधेन तदित्यध्याह्रियते। पूर्वसूत्रे षष्ठी इत्यध्याह्रियते।

समासान्तर्गतोऽपि ब्रह्मशब्दोऽनुवृत्तः सन् प्रथमैकवचनान्ततया विपरिणम्यमानो समानमधिकुरुते। एवं यतोऽस्य जन्मादि तद् ब्रह्मेत्यनुवृत्त्याकारः। यत इत्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः। इदं शब्देन च निर्दिश्यते विविधरचनाविलक्षणः सत्वरजस्तमःपरिणामभूतः सततमपूतो जननमरणजरादिर्जानितता-पत्रपाग्निदंदह्यमानमानसः सततमसारः संसारः। जन्म आदि यस्मिँस्तज्जन्मादि। यस्यादौ शास्त्रतो वस्तुतश्च जन्मैव निर्दिष्टं स एवान्यपदार्थः। क्लीबत्वानुरोधादन्यपदार्थस्तथाभूतः क्लीबान्त एव जगज्जन्मस्थितिभङ्गम्। एवं यतः सर्वशक्तिमतो विचित्ररचनाचातुर्यात्तुर्यान्निरस्तसमस्तहेयगुणात् सर्वज्ञात्परमेश्वरात् सकाशादस्य जगतः पुरोदृश्यमानस्य समनन्तकोटिब्रह्माण्डमण्डलस्य जन्मादि जन्मस्थितिलयाः भवन्ति तद् ब्रह्म। जन्मादित्यत्र यद्यपि तदगुणसविज्ञानं बहुमन्यन्ते पूर्वाचार्याः। अस्मिन् विषये सूत्रेऽनुक्तस्यापि जन्मस्थितिभङ्गमित्यन्यपदार्थभूतस्याध्याहारकल्पना करणीया भविष्यति, सा च गौरवास्पदम्। तर्ह्यादिशब्देन स्थितिलययोर्ग्रहणे कृते च द्वन्द्वसमासे समाहारे नपुंसकैककवद्भावे जन्मादि।

यद्वा, अत्ति सम्पूर्णानि भूतानि तच्छील इति अदी, आसमन्ताद् अदी इति आदी प्रलयः, जन्म च आदी च तयोः समाहारो जन्मादि। यतः परमात्मनोऽस्य जन्मप्रलयौ भवतः तज्जिज्ञास्यं ब्रह्म। अत एव श्रीमद्भगवद्गीतायां पार्थः-

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तारसो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।

(गीता ११/२)

अस्यार्थः- हे कमलपत्राक्ष कमलनेत्र भूतानां चिदचिदात्मकानां त्वत्तः सर्वसर्वेश्वरात् निखिलकोटिब्रह्माण्डनायकात् परमेश्वरात् भगवतस्तत्रभवतस्स-काशात् भवतः, भवन्तौ तथा हि- अदिश्च, आदि च आदिनी, जन्म च आदिनी च जन्मादीनि जन्मादीनां समाहारः जन्मादि, इति द्वन्द्वविग्रहः। मया विस्तारशः श्रुतौ तथा अव्ययं महात्म्यञ्च श्रुतम्। कल्पादौ यस्मात् ब्रह्मणः सकाशादस्य संसारस्य जन्म; पुनः कल्पक्षये यस्मिंश्च प्रलयः तद्ब्रह्म आसमन्तात् अस्मिन् पक्षे जन्माद्यनुरोधेन स्थितेरप्यन्तर्भावः। तदा तु यत इत्यत्र त्रेधा व्युत्पत्तिः यस्मात् येन यस्मिन्निति। यस्माजन्म, येन स्थितिः, यस्मिँल्लयः। अस्मिन्नर्थे श्रुतिर्मानम्। तथाहि तैत्तरीयोपनिषदि वरुणमहर्षेः पुत्रः वारुणिभृगुनामा

निजपितरमुपसृत्य अधीहीति ब्रह्म जिज्ञासते। तत्र अन्नप्राणचक्षुःश्रोत्रमनोवागापः ततो ब्रह्मत्वमिति षडैतानि पूर्वपक्षे निर्दिष्टानि। वरुणेनानन्तरं ब्रह्मणः तटस्थलक्षणसूचिका वक्ष्यमाणा श्रुतिरुक्ता, यत् इत्यादिना। यस्मात् भूताना जन्म, येन जीवनम्, यस्मिन्नभिसंनिवेशः तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। इदं तटस्थलक्षणम्। यद्यन्नप्राणचक्षुःश्रोत्रमनोवाग्रूपेषु सम्पूर्णतया संगतं स्यात् तदैतत् विस्तृतं संवृतं वा ब्रह्म इतरथा नेति। अनन्तरं तेन तपस्तप्तम्। अत्र तपः शब्दःविचारणायाम् 'तप आलोचने' इतिःधातोः। तेन षट्कृत्वस्तपस्तप्तम्। गहनतया विचार्यमाणे अव्याप्तिग्रस्तत्वात् अनन्तरं षष्ठेऽनुवाके आनन्दब्रह्मणि लक्षणं समन्वधायि। तथा चात्र श्रुतिः-

"हरिः ॐ भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। (तै० भृगुः)

अधीहि - अध्यापय। एतादृग् लक्षणमुच्यते यदितरसाधारणतया नान्यत्र व्यभिचरतु। वरुणः- प्राह हे वत्स! ब्रह्मणः स्वरूपस्य दुर्ज्ञेयत्वात् तटस्थलक्षणं निगदामि। वै निश्चयेन, यतः यस्मादभिन्ननिमित्तोपादानकारणात् इमानि दृश्यमानामि भूतानि जायन्ते। पुनश्च येन निमित्तेन जातानि जीवन्ति। पुनश्च यत् प्रयन्ति गच्छन्ति यस्मिन् अभिसंविशन्ति प्रलीन्यन्ते तद्विजिज्ञासस्व जिज्ञासाविषयं कुरु। अन्नादीनि न ब्रह्म। इममेव श्रुत्यर्थं **जन्माद्यस्य यतः** (१/१/२) इत्यसूत्रयत्। तत्र येन यस्मिन् इति तृतीया सप्तम्योः संग्रहार्थं श्रुतौ तसिलन्तमपि यत इति शब्दं सूत्रे सार्वविभक्तिकतस्यन्तम् व्यधात्। अथ पक्षान्तरम्- आदि- शब्दो द्विधा यौगिको रूढश्च। इह लक्ष्यानुरोधाद्यौगिकः। आङ् पूर्वको डुदाञ् धातुः पालनार्थकः। तस्मात् भावे औणादिक इच् प्रत्ययः। आदीयते इति आदिः आदानं वा आदिः। पुनश्च आङ् उपसर्गपूर्वात् भक्षणार्थात् अद्धातोः इच्। आसमन्तात् अदनमादिः। **"आदिश्च आदिश्च आदी। सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ"** (पाणिनि अ० १/२/६६) इत्यनेन एकशेषः जन्म च आदी च जन्मादीनि उद्भवस्थितिसंहाराः। जन्मादीनां समाहारः इति जन्मादि। इत्येकशेषगर्भसमाहारद्वन्द्वेन सर्वमनवद्यम्। आशंकराचार्यात् प्रचलितोऽन्यपदार्थनिरर्थकाध्याहृतस्वस्वमनःकल्पितपदप्रपञ्चप्रवादोऽपि निराकृतः, प्रदर्शितश्च नवीनो मार्गः। आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः।

अथ जगज्जन्मादिकारणत्वेन तटस्थलक्षणविधया भवता ब्रह्मत्वं साधितम्। तत्र श्रुतिप्रमाणमीमांसाया **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** (तै० उ० १/३) इति श्रुतिरपि समुदाहृता। तर्हि किं श्रुतिरेषा ब्रह्मलिलक्षयिषुर्विशिनष्टि, उपलक्षयति

वा? उपलक्षयतीति ब्रूमः। अथ विशेषणोपलक्षणयोर्भेदः कः? इति चेत्, सावधानमाकर्णय। विशेषणं विद्यमानत्वे सति विधेयान्वयित्वे सतीतरव्यावर्तकं भवति। उपलक्षणन्तु विधेयान्वयित्वेपीतरव्यावर्तकम्। अथ किमिदं लक्षणम्? तटस्थमिति। स्वरूपलक्षणत्वञ्च लक्ष्यस्थितत्वे सतीतरव्यावर्तकत्वम्। तटस्थलक्षणत्वञ्च लक्ष्यबहिर्भूतत्वे सतीतरव्यावर्तकत्वम्। यथा सास्नादिमत्वं गोःस्वरूपलक्षणम्, किन्तु लक्ष्मणानुचरत्वं रामस्य तटस्थलक्षणम्। एवमेवात्र जगज्जन्मादिकारणत्वम् ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्।

अथ जगत्जन्मदिकारणत्वं कथमुक्तम्। कुतस्त्येयं कारणता? इति चेत् उच्यते- जन्माद्यस्य यतः इति सूत्रे यतः इत्यन्तिमं पदम्। सार्वविभक्तिकतस्यन्तत्वात्। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रेत्यभिसंविशन्ति इत्यादि श्रुत्युक्त यतः येन यस्मिन्निति शब्दत्रयानुरोधेन क्रमशः पञ्चमी तृतीया सप्तम्यर्थं बोधयति। तत्र पञ्चमीति हेतौ। हेतुश्च निमित्तापरपर्यायः। निमित्तशब्दस्य तु योगे सर्वासां विभक्तीनां कात्यायनसमतत्वम्। तथाहि वार्तिकम्-निमित्तशब्दस्य प्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्" इति। एवं रीत्या पूवोक्तानां पञ्चमीतृतीयासप्तमीनां तिसृणामपि विभक्तीनां हेत्वर्थकतया यत इत्यस्य यद्धेतुकं जन्मादीति समञ्जसोऽर्थः। अत एव श्री भागवतमहात्म्ये प्रथमे-

सचिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादि हेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः।।

तर्हि किं कारणमिदं, समवायि असमवायिनिमित्तं वेति चैन्मैवम्, वेदान्त नये नैतानि कारणनि। इह तु निमित्तमुपादानञ्च। द्वयोः कतरत् कारणमिदमिति चेत् अभिन्ननिमित्तोपादानमिति ब्रूमः। तत्रैव **"ऐतादात्म्यमिदं सर्वम्।" "सर्वं खल्वमिदं ब्रह्म।"** इत्यादयः परश्शतश्रुतयः संगच्छन्ते। अथ जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मणो वर्तते न वेति, वर्तत एवेति ब्रूमः। **"द्यावाभूमीजनयन्देव एकः"**- "इति श्रुतिरपि प्रमाणम्। ननु ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वे तस्य निर्धर्मकत्वं निर्गुणत्वञ्च कथं सिध्येत्? इति चेद् दीयतामाभ्यां तिलाञ्जलिः। कथमिति? द्वयोरपि अशास्त्रीयत्वात्। पूर्वं ब्रह्मणो निधर्मकत्वस्यैव शास्त्रमूलत्वं विचार्यते। अस्मिन् पक्षे किं प्रमाणम्? इति चेत्! कठोपनिषदि नचिकेतसः प्रश्नवचनमेव तथा च तत्रत्या श्रुतिः-

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।

(क० उ० २/१४)

इह नचिकेतसः प्रश्ने धर्माधर्मकृताकृतभूतभव्येम्यः परीभूतस्य जिज्ञासा।

तदुत्तरे यमराजेन पूर्वोक्तषटकातीतत्वयुक्तस्य ब्रह्मणः प्रतिपादनम्। यथा-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

(क० उ० २/१५)

एवं सुस्पष्टमेव प्रमाणितं ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वम् आभ्यां श्रुतिभ्याम्? इति चेत्, अब्रह्मण्यम् राम, राम! अहो भवतः खोपधत्वम्? यच्छ्रुत्यक्षरमपि न वेत्ति भवान्। इहत्या श्रुतिः न ब्रह्मणो धर्मित्वं निराकरोति, किं तर्हि? तस्य धर्मादिपरीभूतत्वं समर्थयते। अथाक्षरो व्याख्यायते- नचिकेता पृच्छति- हे यमराज! यद् धर्मात् अन्यत्र अन्यस्मिन् विषये वर्तते, यच्च अधर्मात् पापेभ्योऽन्यत्र, यच्च अस्मात् कृतात् अनित्यात् जगतः अकृतात् नित्यात् च जीवात् विलक्षणो। यद्वा कृतम् अचित् जगत् तेन सहितः अकृतः जीवात्मा तस्मात् कृताकृतात् अचिच्छरीरावच्छिनात् जीवात्मनो विलक्षणं, यच्च भूतात् भव्याच्च विलक्षणं सर्वव्यापकं यदि पश्यसि तद्वद। इह श्रुतौ केनाक्षरेण निर्धर्मित्वं साधितम्। वस्तुतो नादो धर्मः, नेदमधर्मः, नैतत् प्रकृतिः, न वा जीवात्मा, न वा भूतभविष्यत् तस्य सततं वर्तमानत्वात्। वस्तुतः यदि सकलक्रियाकलापवर्जितं ब्रह्म युष्माकं तर्हि शून्यं तत्। इष्टापत्तिरिति चेत्; किमर्थं जिज्ञासा? किञ्च, यदि ब्रह्मणो निर्धर्मिकत्वं तर्हि कथं जगज्जन्मादिकारणम्? कथं मिथ्याभूतस्य जगतः कारणता संजघटीति सत्य स्वरूपे ब्रह्मणि। किञ्च यद्यत्कारणं तत् तत् कार्यसत्तावत्, कार्यगुणकत्वात् तैलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततिलनिष्ठकारणतावत्। अन्यथा तिलादेः बालुका उत्पद्येत। एवं सत्कार्यवाददृशा कार्यरूपस्य मिथ्याभूतस्य जगतः कारणरूपे ब्रह्मणि सत्युत्पत्तौ तस्य निर्विकारत्वं व्याहन्येत। किञ्च मिथ्याभूतस्य जगतः मिथ्यात्वरूपगुणस्य कार्यगुणत्वात् पूर्वोक्तरीत्या जगत्कारणे ब्रह्मणि सत्वात्तस्य सच्चिदानन्दघनत्वमपि व्याकुप्येत। एवं हि **"आनन्दमयोऽभ्यासात्"** (ब्रह्मसूत्र १/१/१३) इति सूत्रमपि निष्प्रयोजनकं स्यात्। ननु प्रत्याख्यायतां सूत्रमेतत्, यथा पतञ्जलिना 'नाज्झलौ' इत्यादीनि सूत्राणि प्रत्याख्यातानि पाणिनेः। इति चेत्; शान्तं पापम्। अवद्यमेतत्। नासौ बादरायणः पाणिनिरिव पाणिनितुकालेयो वा मुनिः। तत्र भगवत्वमौपचारिकं, भगवान् बादरायणस्तु साक्षात् वेदव्यासो भगवान्। ननु भगवतो वेदव्यासस्य ब्रह्मसूत्रकारित्वे किं मानम्? इतिचेद्वेदार्थभूतपुराणमेवेति गृहाण। यथा स्कान्दे-

नारायणाद् विनिष्पपन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम्।
किंचित्तदन्यथा ज्ञातं त्रेतायां द्वापरेऽखिलम्।।

गौतमस्य ऋषेः शापाज्ज्ञाने त्वज्ञानतां गते।
संकीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्मरुद्रपुरस्सराः।
शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम्।
तैर्विज्ञापितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः।।
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्।
उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्।।
चतुर्धा व्यभजत्ताँश्च चतुर्विंशतिधा पुनः।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा।।
कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये।
चकार ब्रह्म सूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा।।
अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।
निर्विशोषितसूत्रत्वं ब्रह्मसूत्रस्य चाप्यथ।
यथा व्यासत्वमेकस्य कृष्णस्यान्ये विशेषणात्।।
सविशेषणसूत्राणि ह्यपराणि परो विदुः।
मुखः निर्विशेषेण शब्दोऽन्येषां विशेषतः।।
इति वेदविदः प्राहुः शब्दतत्वार्थवेदिनः।
सूत्रेषु येषु सर्वेऽपि निर्णयाः समुदीरिताः।।
शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाणश्च निर्णयः।
एवं विधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महायशाः।।
ब्रह्मरुद्रादिदेवषु मनुष्यपितृपक्षिंषु।।
ज्ञानं संस्थाप्य भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः।।

किञ्च यदीदं ब्रह्म निर्गुणम् तत्रापि किमपि प्रमाणम् वाच्यम्। ननु भो अस्ति प्रमाणम्। तद्यथा-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेताः केवलो निर्गुणश्च

।। श्वेत० उ० ६/११

अत्र निर्गुणशब्दः किमर्थमिति विचार्यते। निर्गताः हेयगुणाः यस्मात्। निर्लीना गुणा यस्मिन् वा स निर्गुणः। निर्गताः सत्वरज स्तमोगुणाः यस्मात्

स निर्गुणः। एवं निर्गुणत्वं नाम निरस्त हेयगुणकत्वम्। सगुणत्वं नाम निरवधिकनिरतिशयसकलकल्याणगुणनिलयत्वम् अत एव भागवते-

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ते निरपेक्षकम्। इति संगच्छते। अथ जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मत्वमिति निश्चितम्। श्रुतिरपि' - **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** (तै० उ० १-३) इत्यनेन सूत्रोक्तमेव विषयं समर्थयते। एवं स्मृतिरपि -**सर्वभूतानि कौन्तेय प्रलयं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्"** ।।गीता ९-७ इत्यनेन सूत्रोक्तमेव समनुमोदयते। एवं श्रुतिस्मृतिसूत्रसिद्धं वेदान्तवेद्यस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वरूपलक्षणं निष्प्रत्यूहं सिद्धान्तितम्। तद् वेदान्तवेद्यं ब्रह्म इति भवदभिमतस्य श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्य समयः, भवतामाद्यरामानन्दाचार्याः अन्ये च भवतां पूर्वाचार्याः तथैव प्रणिजगदुः।

किं च भविष्योत्तरपुराणानुसारेण श्री वाल्मीक्यवताराणां भवतां परमादरणीयानां श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासचरणानामपि स एव निर्णयः। यथा-

शान्तं साश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं।
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं। विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं माया मनुष्यं हरिं।
वंदेऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्।।

(मानस ५-मंग०१)

एवं यदि श्रीरामो भगवान् वेदान्तवेद्यं ब्रह्म, तर्हि जगज्जन्मादिकारणत्वं तस्मिन् संगमनीयम्। संगमिते च लक्षणे निर्विवादतया तस्य सिद्धं भविष्यति वेदान्तवेद्य ब्रह्मत्वम्? इति चेत् ,विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखो विश्वतोबाहुरुतविश्वतस्पात्।

सम्बाहुभ्यान्धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।।

मन्त्रेऽस्मिन् भगवतो विराड्रूपवर्णनम्। तथाहि-विश्वतः सर्वतः चक्षूंषि नेत्राणि यस्य सः विश्वतश्चक्षुः, उत निश्चयेन, विश्वतः सर्वतः मुखानि यस्य सः विश्वतो मुखः, एवं विश्वतः परितः बाहवः यस्य स विश्वतोबाहुः, तथा विश्वतः सर्वतः पादाः चरणाः यस्य सः विश्वतस्पात् एवं विधो भगवान् विराट् श्रीरामः द्यावाभूमीस्वर्गमर्त्यलोकात्मकं जनयन् एकः अद्वितीयो एकः भगवान् - रामः बाहुभ्यां भुजाभ्यां निक्षिप्तैः सम्पतत्रैः बाणैः धमति रावणादीन् निहन्ति। इह द्यावाभूमी जनयन् इत्यनेन जगज्जन्मादिकारणत्वम् सूचितम्। जनयन् इत्यत्र हेतुमन्ण्यन्तगर्भशत्रन्तप्रयोगः। एवं बाहुभ्यामित्यनेन द्विभुजोपलक्षितः श्रीरामः,

तथा एकः देवः इत्यनेन परब्रह्मः। किञ्च श्रीरामतापनीयोनिषदि श्रीरामस्य सुस्पष्टं परब्रह्मत्वं कथितम्, तथा हि श्रुति-

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।

(रा० ता० उ० १/६)

किञ्चार्षे श्रीमदवाल्मीकीये रामायणे सुन्दरकाण्डे रावणं प्रति श्री हनुमता जगज्जन्मादिकारणपुरस्सरं ब्रह्मत्वमभ्यधायि श्रीरामस्य। तद्यथा-

रामदास्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः ।
सत्यं राक्षसराजेन्द्र श्रृणुष्व वचनं मम।।
सर्वांल्लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान।
पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः।।
सर्वलोकेश्वरस्येह कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
विद्याधरेषु नागेषु गन्धर्वेषु मृगेषु च।।
सिद्धेषु किन्नरेन्द्रेषु पतत्रिषु च सर्वतः।
सर्वत्र सर्वभूतेषु सर्वकालेषु नास्ति सः।।
यो रामं प्रतियुद्ध्येत विष्णुतुल्यपराक्रममम्।
सर्वलोकेश्वरस्येह कृत्वा विप्रियमीदृशम्।।
रामस्य राजसिंहस्य दुर्लभं तव जीवितम्।
देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र।।
गन्धर्व विद्याधरनागयक्षाः।
रामस्य लोकत्रयनायकस्य।।
स्थातुं न शक्ताः युधि राघवस्य।
ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा।।
रुद्रस्त्रिनेत्रास्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा।।
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य।
त्रातुं न शक्यो युधि रामवध्यम्।।

(वा० रा० ५/५१/३८-४४)

अत्र हनुमदुपदेशसप्तके श्रीरामस्य वेदान्तवेद्यत्वेन परब्रह्मत्वं प्रतिपादितम्।

उपदेशमुपक्रममाणो ज्ञानिनामग्रगण्यो हनुमान् पूर्वं सत्येन शपते। उपदेशोऽयं सत्यो वर्तते नासत्यः। 'सद्भ्यो हितोः सत्यः' गवादित्वात् 'उगवादिभ्यो यत् (५/१/२) इत्यनेन यत्। तं सत्यम्। यद्वा सदेव सत्यं आकृतिगणत्वेन' शाखादिभ्यो यः ' (५/३/१०३) इत्यनेन स्वार्थे यप्रत्ययः। एवं भूतं परम्। परस्य परमात्मनः श्रीरामस्य मा प्रमा यथार्थज्ञानं यस्मिन् एवं भूतं वचः, हे राक्षसराजेन्द्र! राक्षसराजामपिश्रेष्ठ रावण! श्रुणु व्यलीकं भाषते। ननु कदाचित्स्वार्थपरतया दूता अपि मुह्यन्ति मोहयन्ति च मन्थरेव। यद्यस्मिन् श्रूयमाणे तव हृदये श्रीरामस्य वेदान्तवेद्यतायाः सम्यग् बोधो भवेत्। ननु वेदान्तस्तु श्रोत्रियस्य ब्रह्मनिष्ठस्य पार्श्वे श्रूयते। त्वं कथं श्रोत्रियः? इत्यत आह। मे मम रुद्रावतारस्य सूर्यनारायणात् समधिगतसकलवेदविद्यस्य सकाशात् श्रुणु। ननु देवा अपि कदाचित् असुरान् वञ्चयितुमलीकं वदन्ति, इत्यत आह-दूतस्य दूतो हि कदापि, मोहयति च मन्थरेव। अत आह-रामदास्य,। रामस्य दासः तस्य रामदासस्य यदि श्रीरामः कदापि व्यलीकं न भाषते तर्हि दास कथं ब्रूयात्। अत एव श्रीमद्रामायणस्य प्रारम्भे क्रियमाणषोडशप्रश्नाः। तत्र पञ्चमे प्रश्ने महर्षिवाल्मीकिना नारदं प्रति सत्यवाक्यत्वमपि अप्राक्षीः-

कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतंलोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः?

(बा० रा० १/१/२)

भगवता श्री राघवेण स्वयमपि प्रतिज्ञायते- 'अनृतं नोक्तपूर्वं मे न वक्ष्यामि कदाचन। इति, अतो वृणुयान्नाम कदाचिदन्यदेवता भाषणमसत्यम्। किन्तु नैव कदाचिदपि मांनवत्वेऽपि भगवान् श्रीरामः, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतिलक्षितत्वात्। अतःतस्य रामस्य दासः श्रीसीतादेवीतो लब्धषडक्षररामममन्त्रराजोऽहं श्रीवैष्णवाग्र्यः।

कथमसत्यं ब्रूयाम। ननु वारत्वाद्विस्मृतधर्मभर्यादस्त्वं कदाचिदसत्यं वदेः!, इत्यत आह- विशेषतः वानरस्य। विशेषतः - इत्यत्र आधादित्वात् षष्ठ्यर्थे तसिः। विशेषस्य वानरस्य नतु सामान्यस्य। रुद्ररुपस्त्वदीयगुरुरेव त्वां शिक्षयितुं घृतवानररूपोऽहं समागतः। ननु वानररूपत्वे किं मानं हनूमतः? इति चेत् श्रुतयः स्मृतयश्च। श्रुतिस्तावत्-

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशाञ्च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमः। (शु० य० वे० ३६/१७)

अस्यार्थः- हिरण्याः स्वर्णमयोः बाहवो यस्य सः हिरण्यबाहुः तस्मै हिरण्यबाहवे। हनुमत एव स्वर्णशरीरत्वं प्रसिद्धम्, एवं सेनान्ये श्रीरामसेनापतये

वृक्षेभ्यः वृक्षानपेक्ष्य हरिकेशाञ्चापेक्ष्य दिशाम्पतये पशूनाम्पतये हनुमते नमः। ननु हिरण्यबाहवे इत्यस्य हिरण्य लंक्कारयुक्तभुजाय शिवाय नमः, इति कथन्न व्याख्यायते? इति चेत् - शिवस्य क्वापि शास्त्रे कनकालंकारधारणादर्शनात्। अत एव न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीटीकामङ्गलाचरणे विश्वनाथतर्कपञ्चाननः

चूडामणीकृतविधुर्वलयी कतवासु किः।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः।।

(सि० मु० मङ्गलाचरणे प्रथमः)

शिवस्य तु कर्पूरगौरतासर्वत्रप्रसिद्धा। अतएव रजतगिरिनिभम् इति ध्यायन्ति। अथ स्मृतिः- स्मृतिषु ॠषिमुनिप्रणीतानां समस्तानां कृतीनामन्तर्भावः। हनुमतो रुद्रावतारत्वम् शिवपुराणदौ सुस्पष्टं सुलिखिलतं समुल्लसतीति-

तैर्गौतमसुतायां तद्वीर्यं शम्भोर्महर्षिभिः।
कर्णद्वारा तथाञ्जन्यां रामकार्यार्थमाहितम्।।
ततश्च समये तस्माद्धनूमानिति नामभाक्।
शम्भुर्जज्ञे कपितनुर्महाबलपराक्रमः।।

(शिवपुराण, २०-६-७)

किञ्च आर्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये परमशक्तिभूतया सीतयैव हनूमतः प्राकृतकपित्वस्य निराकृतत्वात्, प्रकृतिसर्गादनन्तर्भाविनि सर्गे स्वयं रावणेनापि हनुमतोऽप्राकृतत्वसागरोस्यानुभविष्यमाणत्वाच्च। तद्यथा-

विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम्।।
शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः।
विक्रमश्लाधनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः।।
नहि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ।
यस्य ते नास्ति संत्रासो रावणादपि संभ्रमः।।

(वा० रा० ५/३६/७-९)

रावणस्या नुभवो यथा-

दध्यौ पुनस्तं प्रति वानरेन्द्रं स राक्षसेन्द्रो मतिमान्महात्मा।
किं नाद्भुतं ब्रह्मण एव तेजः शर्वस्य धातुर्जगतोऽथ विष्णोः।।

यद्देवदेवस्य परस्य तेजस्तदेव किंवा कपिरुप एषः।
वधाय मे वैष्णवमेव तेजः किमागतं वानररुपधारि।।

(वा० रा० ५/५५/३३-३३.५)

एवं विशेषस्य वानरस्य तत्रापि रामदासस्य। अहं रामदासः अनुपदमेव भगवतीसीतातः अशोकवनिकायां गृहीत राममन्त्रदीक्षः। अत एव **'समस्तनिगमाचार्यं सीताशिष्यं गुरोर्गुरुं** इत्याभाणकमाभणन्ति। एवञ्च श्री रामानन्दाचार्यसम्प्रदाय पारम्परीतार्तीयकाचार्यंत्वेन समामनन्ति मनीषिणः। तस्मात् एतद् वाक्ये ना भूतार्थता परिकल्पनीया। ननु सत्यपि विशेषवानरत्वे सत्यपि च रामदासत्वे हनुमतो वीररसैकपक्षपातत्वात् किमनया वेदान्तचर्चया किमनेन वा विमलीकृत-विद्वद्बुद्धिसारेणवेदान्तविचारेण? इति चेन्मैवम्, हनुमतोऽपि वेदान्तज्ञत्व-प्रसिद्धेः, यथा विनमपत्रिकायां भगवान् तुलसीदासः-

जयति वेदान्तविद् विविध विद्या विशदवेदवेदांगविद्ब्रह्मवादी।
ज्ञानविज्ञानवैराग्यभाजन विभो विमलगुनगनसि शुकनारदादि।।

(वि० प० २६/८)

एवमहं नाभूतार्थं वच्मि। यतो यद्वेदान्तवेद्यपरब्रह्म,जन्मादि जगत् कारणम्, सकलकल्याणगुणगणकलितकल्लोलिनीवल्लभं तत्सगुणसाकारं ब्रह्म श्रीरामएवेति निस्संदिग्धं ब्रवीमि। सर्वानित्यादि- महायशाः परमयशस्वी श्रीरामः स्वेनैव ब्रह्मरूपेण सभूतान् पञ्चभूतसहितान् सचराचरान् चरैश्चिदिभ्ः जीवैः अचरैः अचिद्भिः शरीरादिभिः सहितान् पुनर्विष्णुरुपेण पालितान् सर्वलोकान् शिवरूपेण सुसंहृत्य संहारं नीत्वा पुनरेव तथैव तेनैव रुपेण स्रष्टुं रचयितुं शक्तः क्षमः। इत्यनेन श्रीरामस्य सर्वशक्तिमत्वं सर्वज्ञत्वञ्च सूचितम्। एवं **'सूर्याचन्द्रमसो धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'** इत्यादि श्रुत्यर्थोऽपि दर्शितः। अथ द्वाभ्यां श्रीरामस्य अप्रतिद्वन्द्ववीरत्वं प्रदर्श्य पुनः सर्वलोकेश्वरस्य इति कथयित्वा तदीयं ब्रह्मत्वं समाम्नातम्। पुनश्च-**'रामस्य लोकत्रयनायकस्य'** इति वाक्यखण्डेन पुनरपि ब्रह्मत्वं समभ्यस्य, चरमेण स्वयम्भुवो ब्रह्मणः त्रिनेत्रस्य रुद्रस्य महेन्द्रस्य च श्रीराम एव स्वामित्वं प्रातिष्ठिपत्। एवं बहुत्र वाल्मीकीये रामायणे श्रीरामस्य ब्रह्मत्वं वेदान्तवेद्यत्वञ्च साधितम्। ग्रन्थगौरवभिया नेह प्रपञ्च्यते। इममेव पन्थानमनुचक्रुः श्री मदाद्यरामानन्दाचार्यप्रशिष्याः गोस्वामितुलसीदासः श्रीमानसे-

सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाप जासु बल विरचति मामा।।
जाके बल विरंचि हरि ईसा। पालत स्रजत हरत दससीसा।।

जा बल सीस धरत सहसानन। अण्डकोस समेत गिरिकानन।।
धरइ जो विविध देह सुरत्राता। तुमसे सठन सिखावन दाता।।

(मानस ५/२१/४-७)

रुपान्तरम्-

श्रृणुष्व भो राक्षसराज रावण, प्रगृह्य यस्याथ वचोऽनुशासनम्।
ब्रह्माण्डकोटीः सृजति ह्यतन्द्रिता माया महाशक्तिगुणत्रयी किल।।
बलं यदीयं समवाप्य धाता, नारायणो वै भगवांश्च रुद्रः।
गुणैः रजस्सत्वतमोभिरेतत्, सृजत्यथो पाति निहन्ति नित्यम्।।
बलं यदीयं समवाप्य शेषः, सहस्रवक्त्रो भगवानहीन्द्रः।
अण्डैः सकोशैः गिरिकाननैश्च, बिभर्ति मूर्ध्ना धरणीं समेताम्।।
यः शिक्षयिष्यन् बत दुर्मदान्धान्, त्वादृक् स्वभावानसुरान्शठांश्च।
त्रातुं समस्तान् त्रिदशान् सभक्तान्, भक्त्यैतान् विविधेन स्वतन्त्रः।

अहो जगत्यद्वितीया श्रीरामानन्दीयश्रीवैष्णवसर्वस्वभूतानां कलिपावनावताराणां श्रीगोस्वामि तुलसीदासमहाराजानां प्रतिभा। यया ते इहत्याभिः ङ्क्तिभिः चतसृभिरेव ङ्क्तिभिः वेदान्तचतुस्सूत्रीं व्याख्यातवन्तः। क्रमस्तु सुधीभिः तत्रैव समवगन्तव्यः। एवं **'जन्माद्यस्य यतः'** इति सम्पूर्णं सूत्रम् श्रीरामे संघटते। विस्तरस्त्वन्वत्र।

अथापरः पक्षः ' जन्म आद्यस्य इति पदच्छेदः। यतः ब्रह्मणः सकाशात् आद्यस्य आदौ स्रष्टेः प्रथमं भवः ब्रह्मा, तस्य आद्यस्य ब्रह्मणः यतः परमात्मनः सकाशात् जन्म तत् जिज्ञास्यम् ब्रह्म। अत्र प्रमाणं श्वेताश्वतर-श्रुतिः- **"यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै। तँ देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"** (श्वे० उ० ६/१८) यद्वा आदौ भवं आद्यम्। प्रथमं महाभूतं आकाशाख्यम्, तस्य आकाशस्य आद्यस्य यतः जन्म प्रकाशः तद् ब्रह्म। आकाशः खलु परमात्मनः समुद्भूतः। **तस्माद वा एतस्माद् वा आत्मनः आकाशः सम्भूत इतिश्रुतेः "शीर्ष्णोद्यौःसमवर्तत"** इति मन्त्रवर्णाच्च। एवं यस्मादभिन्ननिमित्तोपादानकारणात् अस्य जगतः जन्म, येन पालनम् यस्मिन् लयः यस्मात् ब्रह्मणः आकाशस्यापि समुद्भवः तदेव जिज्ञास्यं ब्रह्म तस्यैव जिज्ञासा कार्या इत्यधिकरणार्थः। ननु विरुद्धमेतत् जीवात्मनो जन्मस्थितिलयवर्जितत्वात्। तद्यथा काठक श्रुतिः-

"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो

नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" (कठ० उ० २/१८) इति चेत् सत्यं श्रुतिर्जीवात्मनो जन्मस्थितिलयान् प्रतिषेधति न तु जगतः। अचिद्विशिष्टस्य चितो जन्मनि श्रुतेरपि इष्टापत्तिः।

यथोक्तं श्रीमद्भागवते प्रथममङ्गलाचरणे-

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजो वारिमृदां यथाविनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।

(१/१/१)

एवम्-

यतो जगज्जन्मनिरोधसम्भवा, यतश्च धाता गगनं यतोऽन्वभूत्।
तदेव जिज्ञास्यमशेषसद्गुणम्, रघूत्तमो ब्रह्म जगौ च सूत्रकृत्।।
द्वितीयञ्चाधिकरणम् शास्त्रदृष्ट्या सुयुक्तिभिः।
श्रीरामभद्राचार्येण, व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

श्री राघवः शंतनोतु।

।।अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्।।

ननु यदुक्तं जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणं तद् विप्रतिपन्नम्, तस्य प्रमाणान्तरेणापि साध्यत्वात्? इति चेन्मैवम्। ब्रह्म तावत् न प्रत्यक्षसाध्यम्। प्रत्यक्षं खलु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानं भवति। यदा इन्द्रियाणि अर्थैः सह सन्निकृष्यन्ते तदा तेषां प्रत्यक्षं भवति। ब्रह्म तावन्नार्थः। यथाकाठकाः पठन्ति-

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महात्परः।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।

(क० उ० १-३-१०,११)

अत्र मन्त्रद्वये प्रस्तुतायां तालिकायां ब्रह्म सप्तमीं कक्षामधिरोहति।

किंच सूक्ष्मप्रत्यक्षमपि ब्रह्मणो न संभवति। तस्य मनोबुद्ध्यतीतत्वात्।

साफल्यमस्यास्ति न लौकिकेऽपि, कार्ये क्वचित्तत्प्रतियन्ति विज्ञाः।
एतद्धनूमद्भरतप्रसङ्गे वैफल्यमालोकि च रामवृत्तेः।।
प्रत्यक्षमूलं ह्यनुमानमेतद्, द्वयोर्यतः कारणकार्यभावः।
न वै पराधीनमिदं प्रमाणं ब्रह्म स्वतन्त्रं क्षमते प्रमातुम्।।
अर्थात्परत्वात् समतीन्द्रियत्वादव्यक्तरूपः स कथं परात्मा।
जनेन्द्रियार्थस्य च सन्निकर्षे, प्रत्यक्षतां यास्यति वै प्रमेयः।।
हृदा परामृश्य मतौ व्यवस्य गिरा निगद्याप्यनुमां विधत्ते।
आभ्यः परस्तात् परतत्वमीशं किं चानुमानेन विमातुमीष्टे।।
सर्वैः सहस्थस्य कथं घटेत स साहचर्यो नियमो नियन्तुः।
किं व्यापके व्याप्तिनवाथजल्पः अतर्क्य सत्वे किमु तर्कजालम्।।
समस्तहेतौ किमु हेतुवादः किं साध्यपक्षोऽखिल साध्यपक्षे।
किमत्र पञ्चावयवं परस्मिन्घटेत सर्वावयवे खरारौ।।

(३/३-१०)

एवमुपमानादयोऽपि न प्रामाण्यमर्हन्ति। यथोक्तमत्र जगद्गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य चरणैः स्वनिर्मितसिद्धान्तज्योत्स्नायाम्-

लोकोत्तरे ब्रह्मणि नोपमानं, सादृश्यमूलं प्रथितं प्रमाणम्।
न कोऽपि तेनास्ति समस्त्रिलोक्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामिति सत्यमुक्तम्।।
आपत्तिरर्थस्य न कल्पनीया क्वापि प्रमाणाय हरौ प्रमेये।
स वै षडैश्वर्यमयः समर्थः असम्भवं सम्भवमातनोति।।
नित्योपलब्धस्य विभोः प्रमायां मानञ्च नैवानुपलब्धिरेषा।
प्रह्लादपीडाद्द्रुत आविरासीत् स्तम्भे श्रुतौ दृष्टमिदं स्मृतौ च।।

(तत्रैव ३/११-१३)

अत एव प्राहुरभियुक्ताः-

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्योपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

इत्थंलक्ष्याप्तसमस्तकामपरिपूर्णकामलोकलोचनाभिरामसकलजनमनोभिरामनिखिलहृदयाभिरामशोभाविजितकोटिकामनीलेन्दीवरश्यामनीलनीस्वाराध्यधरश्यामसकलकल्याणगुणगणधामसीताभिरामरणरङ्गधीररघुवीरमोचितभक्तभवबन्धनकौशल्यानन्दवर्धननिर्गुणसगुण साकारनिर्विकारनिरहंकारहृतभूमिभारशिरीषकुसुमसुकुमारदशरथ

राजकुमारपरमोदारनिरस्तसम्मतदूषण समरनिहतखरदूषणसंग्रामभीषणपरितोषित् सुकण्ठविभीषणसरयूतरलतरङ्ग विक्षालितपादारनिन्दनिष्यन्दमान प्रेममकरन्दविलुब्ध-निखिलमुनिमतोमिलिन्दवृन्दवृन्दारकगणजेगीयमाननिरतिशयनिरवधिकनिरूपद्रव निश्रेयसकरलोकोत्तरसकलकल्याणगुणगणगौरवभग्नभक्तभवरौरवविश्वविश्वविततविपुल विशदविशुद्धवैभवनवनवजलधरसुन्दरसकलकल्याणगुणगणमन्दिरभवभयवारिधिमन्दर निसर्गसुन्दरनिषङ्गशरधनुर्धरप्रणतप्रेममकरन्दमधुकररघुकुलकुमुदसुधाकरसीतानयननलिनदिवाकर कोसलाधीशजगदीशश्रीमदयोध्याधिपतिवेदान्तवेद्यलक्ष्मणानुजमर्यादापुरुषोत्तम परिपूर्णतमपरात्परपरमेश्वरप्रत्यगात्मपरमात्मश्रीरामाभिधानपरब्रह्मणः सकलप्रमाणानधिगतस्वरूपत्वं विभाव्य स्वयमेव भगवान् बादरायणः तस्मिन् शास्त्रप्रमाणकत्वं सिसाधयिषुः सूत्रमवतारयामास-

शास्त्रयोनित्वात् ।।१/१/३

शासनाच्छंशनाच्च शास्त्रम्। शास्ति लोकानां धर्माधर्मपरम्परामिदं विधेयमिदं न विधेयमित्याकारिकां यत्तच्छास्त्रम्। अथवा शंशत्युपदिशति धर्मम्। शास्त्रशब्देन वेद तदुपबृंहणभूतानि ऋषिप्रणीतानीतिहासपुराणसंहितादीनि दर्शनानि च गृह्यन्ते **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते'** (गीता १६/२४) इदं हि मानवं शास्त्रम् योगशास्त्रेब्रह्मविद्यायाम् **''इति गुह्यतमं शास्त्रम्** (गीता १५/२०)

कापिलं गौतमञ्चैव काणादं बादरायणम्।
पातञ्जलं जैमिनीयं शास्त्राणि षड् बुधाः विदुः।।

तच्च शास्त्रं द्विधा स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणञ्च। स्वतः प्रमाणत्वञ्च "इतरनिरपेक्षत्वे सति निजोक्तशब्दप्रमाणकत्वम्। परतः प्रमाणत्वञ्च श्रुतिसापेक्षत्वे सति महर्षिमुनिप्रोक्तशब्दप्रमाणकत्वम्। तत्र स्वतः प्रमाणकत्वम् वेदेषु। वेदोऽपि मन्त्रब्राह्मणभागाभ्यां द्विधा। **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** इति पारस्करवचनात्। ब्राह्मणोऽपि द्विधा विनियोगः- उपनिषत् आरण्यकश्च। वेदमन्त्रा एव श्रुतयः, तत्र पाठो द्विधा, प्रकृतिः विकृतिश्च। प्रकृतिस्त्रिधा संहिता क्रमः पदञ्चेति। विकृतिरष्टधा शिखा माला जटा, रेखा, ध्वजः, दण्डः, रथः घनः। यथोक्तम्-

शिखामाला जटा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयश्चैताः वेदपाठे प्रकीर्तिताः।।

वेदाश्चत्वारः। ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदश्च। उपवेदा अपि चत्वारः। आयुर्वेदो धनुर्वेदः गान्धर्ववेदः स्थापत्यवेदश्च एवम ङ्गानि षट्-शिक्षाकल्पनिरुक्तज्यौतिषछन्दोव्याकरणञ्च। एवमपौरुषेयसाङ्गसशिरस्कवेदः

स्वतःप्रमाणमभूतः शास्त्रसंगीतः। स्मृतयोऽष्टादश पुराणान्यपि व्यासप्रणीतानि। इतिहासो द्विध-रामायणं महाभारतञ्च। तत्र रामायणाचार्यतां भजते आदिकविर्महर्षिः बाल्मीकिः। सच शतकोटिः रामायणानि चकार।

चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुसां महापातकनाशनम्।।

महाभारतं खलु लक्षश्लोकात्मकम्। एवं व्यासरचनाभिन्नान्यपि बहूनि पुराणानि, इमानि परतः प्रमाणानि, किन्तु सर्वाणि वेदानुमोदितानि, तद्यथा छान्दोग्ये सनत्कुमारं प्राह भगवान्नारदः-

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या सर्वदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।। (छा० उ० ७-१)

एवमेव मुण्डकोपनिषदि परापराविद्याभेदाभ्यां विभागद्वयं विधायि शास्त्रस्यास्य। तद्यथा शौनकः अङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ब्रह्मविषये- **"तस्मै स होवाच।। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।।" तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।।**

(मुण्डक० १-१ ४-५)

योनिशब्दोऽत्र प्रमाणे कारणे प्रतिपादके च वर्तते। तथा हि शास्त्रं पूर्वोक्तलक्षणं, भूतानां धर्माधर्मप्रवृत्तिनिवृत्तिविधायकं योनिः प्रमाणं प्रतिपादकत्वेन कारणं यस्य तत् शास्त्रयोनि ब्रह्म, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्। अत्र हेतौ पञ्चमी। ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वप्रतिपादकं शास्त्रमेव। यतः ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमतो हेतो इदं जगज्जन्मादिकारणम्। यद्वा अस्मादेव ब्रह्मणः अलौकिका वेदाः प्रकाशिता अतोऽस्य जगज्जन्मादिकारणत्वम्। अस्मिन् पक्षे षष्ठीतत्पुरुगर्भत्वप्रत्ययान्तता। तद्यथा शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रपत्तिशास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्। तथथा **"अस्य महतो निश्वसितमेतत् ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामाथर्ववेद"** इति। अतएव मानसेऽपि-

जाके सहज श्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ेउ यह कौतुक भारी।

(मानस १/२०४/५)

रुपान्तरम्-

यस्य निश्वासभूताश्च, वेदाश्चत्वार ईरिताः।

सोऽधीते गुरुतः शास्त्रं हरेरेतद् कुतूहलम्।।

एवं ब्राह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् तद्यथा- श्रुतिः स्पष्टमेव स्वकीयं ब्रह्मवेतृत्वं प्रतिजानीते।

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यंवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽनाय।।

श्रुतिः ससमारम्भं प्राह-यदहम् आदित्यवर्णम् आदित्यात् जातः क्षत्रियवर्णो यस्य तथाभूतम्- यद्वा- आदित्यवत् प्रकाश्यमानो वर्णो यस्य, यद्वा- आदित्यवर्णं बालसूर्यसमानं पीताम्बरं यस्य तादृशम्। तमसः परस्तात् अन्धकारात् परीभूतम्, यद्वा- तमसःनद्याः परस्तात् परस्मिन् तटे एतमरण्ययातम् वनवासाय कृतनिश्चयं तम् महान्तम् पुरुषं परब्रह्म श्रीरामम् अहं वेद जानामि। तं परमात्मानं श्री राममेव यः श्रुतिः रामादन्यस्योपासनं व्यवच्छिनत्ति। एवमनन्यनिष्ठः सन् राममात्रं विदित्वा उपास्य अतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तम् श्री साकेतलोकम् एति प्राप्नोति। अयनाय रामस्य अयनाय अन्यः पन्था न विद्यते। किंञ्च वेदे समग्ररामकथासूत्ररूपेण वर्णिता। तथा हि -

"भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारो जारो अभ्येति पश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् उशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात्।

ऋक् सं० १०/३/३)

अस्मार्थः भद्रो रामभद्रः भद्रया सकलकल्याणगुणगणनिलयया सीतया सचमानः सेव्यमानः अरण्यम् आगात् आजगाम। पश्चात् स्वसारं पृथिवीपुत्रित्वाद्भगिनीरूपिणीं सीतां जारः परदारलम्पटः। यद्वा सीताहरणच्छलेन विनाशयति सर्वस्वं स जारः तादृक् रावणोऽभ्येति। सीताभिहरणं विधाय लंकाम् अभिगच्छति अनन्तरमग्निसमानतेजः भगवान् रामः द्युभिः द्योतमानैः सुप्रकीर्तै शोभनाः प्रेकताः पुंखाः येषां ते सुप्रकेताः तैः स्वर्णपुङ्खैः तीक्ष्णैः शरैः। यद्वा शोभनाः प्रकेताः पताकाः येषां ते सुप्रकेताः वानराः तैः वितिष्ठन्, लङ्कायामाक्रमणं कुर्वन्, रावणं हतवान्। पश्चात् सुप्रकेतैः शोभनस्फुलिङ्गैः द्योतमानैरुषद्भिः जाज्वल्यमानैः वर्णैः नानालंकारैः युक्तां सीतां गृहीत्वा व्यतिण्ठः प्रकटो भवन् अग्निः अग्निदेवः रामं श्री रामचन्द्रम् अभि श्रीरामद्रस्य समीपमस्थात् आजगाम। यद्यपि सायणादयः वेदं यज्ञपरकं व्याचचक्षिरे। परन्तु 'इदं विष्णुर्विचक्रमे- इत्यत्र तेऽपि विष्णोर्वामनावतारत्वं समसूचयन्। नन्वत्र रामशब्दस्य श्यामवर्णः अन्धकाररूपो वार्थः इति चेत् इष्टापत्तिः। श्री रामस्यापि श्यामलवर्णप्रसिद्धेः। तद्यथा- .

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम्।
अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान्।।

(वा० रा० २/१३/१०)

यद्वा- प्र तद् दुःशीमे, पृथवाने, वेने प्रामे वोचमसुरे। (ऋ० सं० १०/९३/१४ अत्र सर्वैरपि भाष्यकृद्भिः रामशब्दस्य राजपरकत्वनैव व्याख्या व्यधायि। ननु रामे असुरे इति सामान्याधिकरणेन असुरे इति शब्दस्य रामे इत्यत्र विशेषणत्वात् नात्रत्यो रामशब्दः श्रीदशरथनन्दनरामार्थकः इति चेन्न। अत्रत्यासुरशब्दस्य योगार्थतया व्याख्यानेनादोषात्। तथाहि **"न विद्यते सुरा मधुपानव्यसनं यस्मिन् सः तथाभूते असुरे।"** यद्वा- अविद्यमानाः सदृशाःसुराः अस्य तथाभूते असुरे। यथा श्रीमद्रामायणे-

ब्रह्मास्व यम्भूश्चतुराननो वा। रुद्रास्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।।
इन्द्रो महेन्द्रो सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधिराघवस्य।

(वा० रा० ५/५२/४४)

अथवा- **'ऊष-सुषि-मुष्क-मधोरः'** इतिसूत्रेण **"बहुलं छन्दसि"** इति सूत्रानुरोधात् असु शब्दादपि मत्वर्थे रः। असु शब्दश्च प्राण वाची। प्राणश्चात्र बलार्थः। तथा हि- असुः प्राणपर्यायं बलं नित्यमस्ति यस्मिन्निति असुरः तस्मिन्नसुरे महाबले। यद्वा- **"असून् प्राणान् राति ददाति असुरः तस्मिन्नसुरे।"** ननु प्राचीनैः यज्ञार्थत्वेन व्याख्याते कथमवतारार्थत्वेन व्याख्याते? वेदा यज्ञार्थत्वेन व्याख्यायन्ताम् इत्यस्याः राजाज्ञायाः क्वाप्यदृष्टत्वात्। किञ्च **'चत्वारि श्रृङ्गास्य त्रयोऽस्य** पादाः, सुदेवोसि' इत्यनयोर्मन्त्रयोः सत्यप्यर्थान्तरकव्याख्याने शेषावतोरण स्वयं भगवता पतञ्जलिना व्याकरणर्थत्वेन व्याख्यातत्वात्।ताननुसरद्भिरस्माभिः **'यद्यदाचरति श्रेष्ठः'** इति भगवतः आज्ञानुसारं तथा व्याचक्षाणैः किमपराद्धम्। एवमेव वेदे अयोध्यासरयूदशरथदशमुखसीतनामनि चरित्रबीजानि सुस्पष्टं समुजृम्भन्ते। तद्यथा-

"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।

(अथर्व १०/२/३१)

सरयूः सिन्धुर्मिभिः। (१०/२/३१) चत्वारिंशत् दशरथस्य शोणाः (ऋ० सं० १/२०/४) अर्वाची सुभगे। भव सीते! वन्दामहे त्वा। (ऋ० सं० ४/५७/६) इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाऽनुयच्छतु (ऋ० सं० ४/५७/७) ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। (अथर्व० ४/६/१)

नन्वेवं व्याख्याने वेदानामर्वाचीनत्वं स्यादिति चेत्; मैवं भाषिष्ठाः। भगवद्रूपाणां वेदानां सर्वज्ञानाम् अनधिगतत्रिकालाबाधित-विषय ज्ञानमयत्वेनादोषात्, ''सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'' (ऋक० सं० १/१९/३) इत्यादीनामिव पूर्वतो वेदसंकीर्तितानाम् अयोध्याद्यर्थानाम् वेदानुगतत्वोपपत्तेः। यथोक्तं महाकविना भवभूतिना उत्तररामचरिते नाटके- ''लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचामर्थोऽनुधावति। (उत्तररामचरित १/१०) इत्थं समस्तानां शास्त्राणां प्रतिपादकत्वात् ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वं निर्बाधम्।

यद्वा- शास्त्रयोनित्वहेतोः ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं विधेयत्वेन पर्यवसितम्। यदि ब्रह्मणो वेदे प्रामाण्यं न स्यात् तदा तज्जिज्ञासा पुण्यजनकतावच्छेदिका न स्यात्। तद्यथा- 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० १/१) 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेता० उ० ६/११) अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषोऽन्तरात्मा, सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः (कठ० उ० ३/१२)

''सभूमि सर्वतस्पृत्वा तिष्ठत्य दशाङ्गुलम्'' (शु० यजु० से० ३१/१) ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् जगत्यांजगत्। (शु० यजु स० ४०/१) इत्यादि श्रुतयः ब्रह्मसत्तायां स्वतः प्रमाणानि। एवं स्मृतयः-

आपो नारा इति प्रोक्ता आपा वै नरसूनवः।
ता यदस्यानने पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।

(मनुस्मृति १/१०)

एवं पुराणानि तु समग्राणि अभिधया ब्रह्माभिब्रुवन्ति श्रीमद्रामापणं सुस्पष्टं ब्रह्म प्रतिपादयति यथा-

भगवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकश्रृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्।।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः।।

(वा० रा० ६/११७/१४-१५)

एवं समस्तानि पुराणानि तदेव निरस्तसकलहेयगुणकं रामाभिधानं ब्रह्म एकस्वरेण प्रतिपादयन्ति। किं बहुना भगवान् वेदव्यासस्तु साटोपं ससभारम्भं प्रतिजानीते-

न संहिता सा नहि यत्र रामो,-न सोऽस्ति वेदो नाहि यत्र रामः।
स नेतिहासो नहि यत्र रामः। न तत् पुराणं नहि यत्र रामः।।

यद्वा ब्रह्मणो जगज्जन्मादि कारणत्वं शास्त्रयोनित्वात् हेतोः सिद्धम्।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथैवान्ते हरिः सर्वत्रगीयते।।

एवं प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् स्वामीष्टाभ्यां पराभीष्टैश्च उपमानार्थापत्यनुपलब्धिचैष्टिकसांभविकैतिह्यकैः प्रमाणकल्पैरपि प्रमातुमशक्यत्वात्, ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् शास्त्रस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वञ्च पर्यवसितम्।

यथोक्तं श्री भागवते-

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां, क्षेमस्य सध्र्यग्निविमृशेषु हेतुः।
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या, असंग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि ।।

(४/२२/२१)

प्रत्यक्षतो नैव न चानुमानान्न चान्यदीयैः प्रथितैः प्रमाणैः।
शास्त्रप्रमाणधिगमं सुधीभिः ज्ञेयं परब्रह्मम च शास्त्रयोनिः।।
इत्थं तृतीयाधिकरणं शास्त्रयोनित्वसंज्ञकम्।
श्री रामभद्राचार्येण भाषितं भगवन्मुदे।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ समन्वयाधिकरणम् ।।

ननु तस्य ब्रह्मणः कथं शास्त्रप्रमाणकत्वम्, कथं वा शास्त्र प्रतिपादकत्वम्? सर्वस्यापि वेदराशेः कर्मार्थकत्वात्। यथोक्तञ्जैमिनिना आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। एवं यदि न तस्य शास्त्रप्रमाणकत्वम् तर्हि किं तेन जिज्ञासितेन। किं वा ब्रह्मजिज्ञासया? इत्याशङ्कापङ्कं प्रच्छालयिष्यन् ज्ञानपयसा प्राहभगवान् सत्यवतीहर्षवर्धनः

तत्तु समन्वयात् १/१/४

तत् प्रथमैकवचनान्तं, तु अव्ययपदं, सम्यक् अन्वयः समन्वयः तस्मात् समन्वयात्, पञ्चम्येकवचनान्तम्। त्रिपदमिदं सूत्रम्', तु शब्दः पक्षान्तरव्यावर्कः, शास्त्रयोनित्वादित्यतः समासैकदेशोऽपि शास्त्रशब्दोऽनुवर्तते। आमाविपरिणम्यते च। तथाहि- समन्वयादिति हेतौ पञ्चमी। शास्त्राणां समन्वयात् हेतोः तु ब्रह्मणः तत् शास्त्रयोनित्वमक्षतम्। अत्र शास्त्रशब्दः प्रकरणनुरोधेन वेदान्तवाक्यपरः शास्ति शंसति वा यत्तच्छास्त्रं वेदान्तवाक्यनिकरं तस्य सर्वस्यापि वेदान्तवाङ्मयस्य

शास्त्रस्य तस्मिन्नेव ब्रह्मणि महातात्पर्यसमर्पकत्वेन समन्वयः। तस्मात् कठोपनिषदि नचिकेतसो ब्रह्मविषयकःप्रश्नमुत्तरयन् स्पष्टं प्रतिजानीते यमराजः-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्?

(कठ० उ० १/२/२५)

अत्र पद शब्दो पदनीयपरः तपश्शब्दश्च वेदवाक्यपरः। एवमेव सर्वे वेदाः अग्निवायुचन्द्रसूर्यवसुरुद्रादित्यमरुद्बृहस्पतिवरुणादितत्तद्देवपराः अपि परम्परया श्रीरामे परब्रह्मण्येव परमं तात्पर्यं पर्यवसाययन्ति। किञ्च- **ईशावास्यमिदं सर्वं अदेजदेकं मनसोजवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोन्यान्नत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।** इह श्रुतिः साक्षाद् ब्रह्म प्रतिपादयति समन्वेति चैषा श्रीरामे परब्रह्मणि। तथा मनसोऽपि जवीयः वेगवत्तरं तत् ब्रह्म एजत् भक्तैः स्मर्यमाणं द्रुततरमागच्छति एनद्धावमानं देवा न आप्नुवन् न गृहीतुं प्राभवन्। स सर्वेषां गमनात्पूर्वं अर्षत् अगच्छत्। तद् ब्रह्म स्वं गृहीतुं धावतः। तद्यथा श्रीमद्रामचरितमानसे-

निगम नेति जेहि अन्त न पावा। ताहि धरे जननी हठि धावा।।

(मा० १/१०३/८)

रुपान्तरम्

नेतीति नेतीति वदन्ति ईड्याः प्रापुर्नपारं श्रुतयः शिवश्च।
तं धावमानं रघुरामचन्द्रं बलाद्ग्रहीतुं जननी ह्यधावत्"।।

एवमेव, अत्रैवाष्टमी श्रुतिः- **"सपर्यगच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छा श्वतीभ्यः समाभ्यः।"** (ई० उ०-८ नन्वत्र अकायम् अव्रणमित्यादि तु क्लीबनिर्देशकं श्रीरामाभिधानब्रह्माणि पुंसनिर्देशः। एकमेव शुक्रम् अकार्यम्, अव्रणम् अस्नाविरम् इमानि ब्रह्मणि कथमन्वेष्यन्तीति चेन्न। तस्मिन् विरुद्धसकलधर्माश्रयवच्छेदकत्वात् समन्वये दोषः। पुंस्त्वक्लीबनिर्देशास्तु छान्दसतया समन्वेयाः। तथा हि- उपक्रमे स इति उपक्रम्य उपसंहारे स्वयंभूरिति पुल्लिङ्गे एव विश्रामः एवं तन्मध्यपतितनामेषां षण्णां पुल्लिङ्गे एव विपरिणामः अर्थोऽपि सगुणब्रह्मानुरुप एव। शुक्रशब्दोऽत्र निर्दोषत्वपरः। अकायं न विद्यते लौकिकःकायः विनाशशाली देहो यस्य तथाभूतम्। अव्रणं नविद्यन्ते रक्षश्शस्त्राणां व्रणानि यस्मिन् तदव्रणम्। अत एव खरदूषणयुद्धे श्रीरामस्य अव्रणतया मैथिलीपरितोषः। तथा च श्रीमद्मायणे-

मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान्।
रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा।।

(वा० रा० ३/३०/४०)

एवमेव, अस्ननाविरम्-अलौकिकस्नायुयुक्तम्। शुद्धं मायादोषवर्जितम् नें पापैर्विद्धम् अहंकाररहितत्वात् सात्विककर्तृत्वाच्च। यथोक्तम् श्रीमद्भगवद्गीतायाम्-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यासिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते।।

(गीता० २८/२६)

भगवतो निरहंकारत्वं स्पष्टं प्रतिपादितं श्रीमद्रामचरितमानसे परशुरामप्रश्नमुत्तरयन प्राह- भगवान् श्रीरामः-

छुअतहि टूट पिनाकपुराना। मै केहि हेतु करहुँ अभिमाना

(१/२८३/८)

रूपान्तरम्-

मत्करस्पर्शमात्रेण पिनाकं त्रुटितं प्रभो।
पुराणमभिमानञ्च कस्य हेतोः करोम्यहम्।।

किञ्च- हनुमन्नाटके राघवघकर्तृत्वं गोपायन् प्राह वैदिकधर्मगोप्ता-

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मण शरैर्लोकान्तरं प्रापितः।
केनाप्यत्रमृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी।।

(हनुमन्नाटक षष्ठाङ्कः)

ननु निर्गुणे ब्रह्मणि 'कविर्मनीषीपरिभूःस्वयभूः'' (ईश० ८) इत्यादिधर्मा कथं संघटेरन् तस्य सर्वथैव निर्धर्मत्वात्? इति चेत् तस्य निर्धर्मत्वमेव गगनपुष्पमिति असकृदवोचाम, किन्तु यत्नतोऽपि निर्धर्मके ब्रह्मणि न किमपि प्रमाणमुपलभे। सर्वेषामपि श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमानां सधर्मब्रह्मप्रतिपादनपरत्वात्। ननु भोः भोः अस्ति प्रमाणम्, तथा च काठके यमराजं प्रति नचिकतेसो वाक्यम्

अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।।

(कठ २/१४)

नात्रं प्रतिषिध्यते ब्रह्मणो धर्मित्वम्इह तु धर्माधर्मकृताकृतभूत-भव्यपरिच्छेदबाह्यत्वं- व्यवस्थाप्यते। किञ्च नचिकेतसः पूर्वपक्षभूतोऽयं प्रश्नः।

पूर्वपक्षो न सिद्धान्तो भवति। उत्तरपक्षस्यैव सिद्धान्त्वेन सर्वतन्त्रसम्मतत्वात्। यदि त्वदभिमतस्य सकलधर्मशून्यस्य ब्रह्मणः वास्तविकता अभिप्रेता स्यात्तदा नचिकेतसः प्रश्नमुत्तरयता यमेन क्वापि ब्रह्मणो निर्धर्मित्वसंकेतःक्रियेत। तर्हि अपरंप्रमाणम्। किं तत्? **साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च** (श्वेता ६/११) इति चेन्मैवम्। साक्षिशब्दस्य स्वयमेव ब्रह्मणो निर्धर्मत्वराहित्य प्रतिपादकत्वेन परिहितत्वात। तथाहि- **साक्षात् पश्यतीति साक्षी "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्"** (५/२/९१) इति पाणिनीयसूत्रेण 'णिनि' प्रत्यये साक्षीशब्दो निष्पद्यते निर्धर्मको हि साक्षात्कं कथं पश्येत् निर्गुणशब्दस्य व्याख्यातचरत्वात् नेदानीं परिलम्ब्यते। तर्हि अपरं प्रमाणंमत्रैवोनिषदि **निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्"** (श्वे उ० ६/१९) इति चेन्मैवम्; अत्र निष्क्रियशब्दो न निर्धर्मत्वप्रतिपादकः। किन्तर्हि? क्रियातीतत्वप्रतिपादकः, एवं निर्गताः समस्ताः क्रियाः यस्मात् निष्क्रियम्। वेदरूपत्वेन ब्रह्मणः सकलक्रियावधिभूतत्वात्। यद्वा निश्शेषाः क्रियाः यस्मिन् तन्निष्क्रियम्। सम्पूर्णाः वैदिकक्रियाः ब्रह्मण एवं सम्पाद्यन्ते। तद्यथा श्रीमद्भागवते-

देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विऽजोग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः।।

(भागवत १०/२३/१०)

एवं निश्शेषाः क्रियाः यस्मिन् तन्निष्क्रियम्। भगवतः प्राप्तौ क्रियाणामकिञ्चित्करत्वात्। यथा श्रीमद्भगवद्गीतायां भगवद्भावन्यम्-

न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानै र्न च क्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः।
एवं रूपःशक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरु प्रवीर।

(गीता ११/४८)

अत एव श्रीमद्भागवते ब्राह्मणाः स्वपत्नीः प्रति-

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं यो ऽविध्यन्मृत्यु पाशान् गृहाभिधान्।
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तमो नात्ममीमांसा न शौचंन क्रियाः शुभाः।।
अथापि ह्युश्वरेत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरे।
भक्तिर्दृष्टा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि।।

(भागवत १०/२३/४१-४३)

एवं निष्कलम्- निर्लीनाः सम्पूर्णाः कला यस्मिन् तत् निष्कलम्। अत

एवः **अस्मत् प्रसादसुमुखः कलयाकलेशः'** इति भागवतवचनं संगच्छते। एवमेव- **'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म 'अहं ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'तत्त्वमसि श्वेतकेतोः'**, इत्यादीनि **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति"** तद विजिज्ञासस्व **"तद्ब्रह्म" चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना** (श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषद् १/७) इत्यादीनि अत्रैव परमात्मन्नि समन्वयन्ति।

अथ परमात्मा निराकारः साकारो वा इति प्रश्ने साकार इत्येव ब्रूमः। न च साकारत्वे अनित्यत्वापत्तिरितिवाच्यं सावयवत्वात्। यद्यत् सावयवं तत्तदनित्यं कार्यत्वात् घटवत्। सकलविरुद्धधर्माश्रये परमात्मनि प्रोक्तानुमानाप्रसरेणादोषात्। ननु ब्रह्मणः साकारत्वे किं मानम् ? इति चेत्, **"आकाशशरीरम् ब्रह्म; रुपं रुपं प्रतिरूपो बभूव"** इत्यादयः सहस्रशः श्रुतयः। न च ब्रह्मणश्शरीर मायामयमिति वाच्यम्। **प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय** इति भगवद्वचसैव प्रत्याख्याततत्वेन तथा कल्पने मानाभावात्। न च **"मायाञ्च प्रकृतिं विद्यान्मयिनञ्च महेश्वरम्"** इति श्रुत्यैव प्रकृतिशब्दस्य मायापर्यायवाचित्वेन वर्णितत्वात्। 'प्रकृति स्वामधिष्ठाय' इत्यत्र मायां स्वां स्वीकृत्य इत्यर्थः करणीय ? इति वाच्यम्। सम्भवाम्यात्ममायमा' इति माया शब्दस्य समुच्चारयिष्यमाणत्वात् प्रकृतिशब्दस्य मायापर्यायवाचित्व स्वीकारे पौनुरुक्त्यापत्तेः विवक्षितार्थसिद्ध्यनुपपत्तेश्च।

न च **"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्"** (कठ १/३/१५) इत्यत्र भगवतः रूपाभावश्रवणात् न साकारतेति वाच्यम्, अलौकिकं रूपं यस्य तदरूपं इति व्याख्यानेनादोषात्। नन्वस्मिन् व्याख्याने किं मानमिति चेत् कठोपनिषदः पञ्चमवल्ल्याः नवमीदशम्यौ श्रुती-

अग्निर्यथैको भवनं प्रविष्टो रुप रुपं प्रतिरूपोबभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रुपं रुपं प्रतिरूपो बहिश्च।।
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

(क० २/२/२/९/१०)

यत्तु केचन निराकारशब्देन ब्रह्मणोऽरूपं परिजल्पन्ति तत्तु अनादिकालिकमूर्खता समुज्जृभिततया समुपेक्ष्यम्। तत्र ते प्रष्टव्याः तत् निराकारशब्दस्य कया व्युत्पत्या ब्रह्मणो यूयमाकारत्वं प्रतिषेधथ? इति चेत् यनिर्गताः आकाराः यस्मात् इति व्युत्पत्तिस्तथापि तस्य साकारता। सतो हि

निष्क्रान्तिर्भवति नासतः। न खलु सिक्तास्तु तैल निर्गमयितुं शक्यते। यदि ब्रह्मणो विवक्षिता स्यादाकारहीनता तर्हि क्वापि तु अनाकारमिति उच्येत यथा औचित्याभावे अनुचितं प्रयुज्जते न निरुचितम्। उपयोगाभावे अनुपयोगीत्युच्यते न निरुपयोगी। तथैव आकाराभावे अनाकारमिति वक्तव्यम् स्यान्नतु निराकारम्। तस्मात् निराकारशब्दस्य व्युत्पतिश्चिन्तनीया।

तथा हि- निरुपमा आकाराः यस्य सः निराकारः निर्लीना प्रलयकाले जीवानामाकाराः यस्मिन्, निश्शेषा आकाराः यस्य स निराकारः, निरन्तराः आकाराः यस्य सः निराकारः, निष्क्रान्ताः सृष्ट्यारम्भे जीवानामाकाराः यस्मिन्, निश्शेषा आकाराः यस्य स निराकारः, निरन्तरा आकाराः यस्य सः निराकारः।

अव्यक्ताव्यक्तयःसर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके।।

(गीता ८/१७)

यद्वा आकारात् कौसल्यागर्भरूपात् निष्क्रान्तम् इति निराकारम्। तर्हि निष्कलस्याशरीरिण इत्यस्य कथं संगतिः इति चेत्, विचार्यते-

यदि चेत् शरीराभावो विवक्षितःस्यात, तदा न विद्यते शरीरं यस्य स अशरीरः तस्य अशरीरस्य इति समासं विधाय अशरीरस्य इत्येव श्रुति ब्रूयात्। बहुब्रीहिसमासेन विवक्षितेऽर्थसिद्धेः अशरीरिण इति वदन्ति सर्वज्ञा माता श्रुतिः स्वमुखभूतस्य- न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुब्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः इति व्याकरणस्यसिद्धान्ते कथं कुठाराघातं कुर्यात्? तस्मात् शरीराणि सन्ति यस्मिन् इति शरीरी जीवात्मा नित्यस्योक्ताशरीरिणः (गीता २/१८) इत्युक्तेः न शरीरी अशरीरी जीवात्मविलक्षण परमात्मा। तस्य अशरीरिणः प्रत्यगात्मविलक्षणस्य परमात्मनः। एवं समस्तानां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानां भगवति परब्रह्मणि श्रीरामे समन्वयात् समर्पितपरमतात्पर्यत्वात् तत्- शास्त्रयोनित्वम् परमात्मनः संगतम्। ततश्च जगज्जन्मादिकारणत्वमपि सुसम्पन्नं ततश्च जिज्ञास्यत्वम्।

अथ पक्षान्तरम्- कथं निरस्तसमस्तहेयगुणकस्य निराकृतनिखिल-निजानन्यदोषस्य समर्जितसकलकल्याणगुणललितललमकोषस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वम्। किमदो जगन्निर्मायमानं स्वकीयां निर्विवकारतां त्रातुं पारयति इति चेत्? ओमिति ब्रूमःतस्य सर्वशक्तिमत्वात्। कारणत्वञ्चः **'सकारणं करणाधिपाधिपः** (श्वे० उ० ६/९) इति श्रुत्यैव घोषितत्वात्। अथ किं कारणं जगतो ब्रह्म इति चेदभिन्ननिमित्तोपादानम्। किं प्रमाणम् इति चेत्

मुण्डकश्रुतिरेव। तद्यथा- ''यथोर्णनाभिः सृजते गृ ते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। सतःपुरुषात्केशत्नोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।। (मु० उ० १-१-७)

अत्र ऊर्णनाभि दृष्टान्तेन ब्रह्मणि कारणताद्वयम्। ऊर्णनाभिः शरीरेण जालं रचयति, तत्र चेतनांशेन निमित्तकारणं, शरीरेण च उपादानकारणं भवति। एवमेव परमात्मा निजशरीरेणोपादानकारणं निजाभिन्नमायाशक्त्या च निमित्तकारणं भवति् शक्तिशक्तिमतोरभेदेन तदभिन्ननिमित्रोपादानकारणं जगतः।

एवं यथा श्रीरामस्य जगज्जन्मादिकारणत्वं वेदान्तवेद्यपरब्रह्मत्वात्, शास्त्रयोनित्वाच्च समन्वयादपि च समस्तशास्त्राणाम् तथैव श्रीसीताया अपि। अतो बाल्मीकीये रामायणे मन्दोदरी-

वसुधायाश्च वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्।
सीतां सर्वानवद्याङ्गीमरण्ये विजने शुभाम् ।।

(वा० रा० ६-१११-२१)

अत एव श्री गोस्वामितुलसीदासमहाराजा अपि श्रीमानसमंगलाचरणे श्रीसीतायामपि जगज्जन्मादिकारणरूपं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं समसीबधन्। यथा-

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्व श्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।

(मानस १-मंगला०)

अतएव श्रुतिरपि श्रीसीतारामयोः परब्रह्मत्वमभिधत्ते-''रामः सीता जानकी रामचन्द्रः''

गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दउ सीताराम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न।

(मानस १-१८)

रुपान्तरम्-

गिरार्थौ जलबीची वा गिरा भिन्नावभिन्नकौ।
सीतारामौ पदं वन्दे क्षीणाः प्रियतरा ययोः।।

तस्मात् पूर्णोऽत्रैव विशिष्टाद्वैतवादो विलालस्यते। तथा हि- स्थूलचिदचिद्भ्यां लक्ष्मणमायासीताभ्यां विशिष्टं सीताख्यं कार्यब्रह्म, तथैव सूक्ष्मचिद्चिदभ्यो लक्ष्मणकृपाशक्तिसीताभ्यां विशिष्टं कारणं ब्रह्म श्रीरामाख्यम्। विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे श्री सीतारामाभिधाने कार्यकारणब्रह्मणी। तयोः

श्रीसीतारामयोः कार्यकारणब्रह्मणोरद्वैतं विशिष्टयोरद्वैतमिति विशिष्टाद्वैतम्। तद् विशिष्टाद्वैतं वदतीति विशिष्टाद्वैतवादः।

एवं स्वाभिन्नया मायाशक्त्या समन्वयात् प्रकटीकृतसकलविलक्षण-रजःसत्वतमोगुणकं श्रीरामाख्यं ब्रह्म विधिरूपेण जन्मनः, हरिरूपेण पालनस्य, हररूपेण संहारस्य जगतः कारणतामाटीकते, इत्यत आह- **"तत्तुसमन्वयात्" (१/१/४)** तत् पदेन पूर्वतः प्रधानतया बुद्धिस्थत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नतया च जन्मादीनि गृह्यते। ततः इति च आक्षिप्यते, तु निश्चयेन समन्वयात् ततः ब्रह्मणः अस्य जन्मादि इति सूत्रार्थः।

मायया भगवतः समन्वयो भवति, सम्यक्त्वं च तत् संसर्गेऽपि निर्विकारत्वम्। पत्न्या समन्वितपतिरिव, त्रिगुणमायया समन्वितः परमात्मा जन्मस्थितिसंहारान् समातनुते जगतः। अत एव **"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः "**इति श्रुतिः सङ्गच्छत।

ननु परब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे निश्चिते," **मयाध्यक्षेणप्रकृतिः सूयते सचराचरम्** "(गीता ९-१०)

इति भगवद्वचन व्याकोपः? इति चेन्न। एकस्यैव मातापित्रोर्जन-यितृव्यवहारवदुपपत्तेः। अतः इत पूर्वं

(**कल्पादौ विसृजाम्यहम्** "(गीता ९-७) इति पूर्वं निगद्य पश्चात् सूयते सचराचरम् इति निगदति पितेव। यथा पुत्रं प्रति द्वावपि कथयतो मातापितरौ अहमजनयम्, अहमजनयम्। श्री गीतायामिममेव सिद्धान्तं जननीजनकरूपेण स्पष्टयति मनोजमोहनः-

मम योनिर्महदब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत।।
सर्वभूतेषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।

(गीता १४-३,४)

इदमेव श्लोकयाम्बभूव श्री भगवान् वेदव्यासः श्रीमद्भागवस्यादिमे श्लोके-

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।

(भागवत् १-१-१)

यद्वा- अत्र प्रकृतिः भगवदभिन्ना योगमाया तया सह परमात्मनश्चाभेदात् दोषपरिहारः। अतो मयाध्यक्षेण इत्यस्य मदभिन्नाध्यक्षाभिन्ना प्रकृतिः सचराचरं जगत् सूयते इति व्याख्यानेनादोषात्।

यद्वा- समन्वयः समनुवृत्तिः सम्यक् अनुप्रवेशो वा भगवान् अन्तर्यामित्वेन जगति समनुप्रवेशाज्जगज्जन्मादिकारणं वर्तते।

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत" इति श्रुतेः। ननु कथं तर्हि, तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे (भागवत १०-३-१४) तत्र सर्वांशेन प्रवेशप्रतिषेधेनादोषात्। एवं समनुगतत्वात् मायासमन्वयात् शास्त्रतात्पर्यभूतत्वाच्च, ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वं शास्त्रप्रमाणकत्वं जीवजिज्ञास्यत्वञ्चेति त्रयमपि सोपपन्नम्। तथा च भागवत चतुश्लोकी-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्।।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।

तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः।।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्।।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।

(भागवत २-९-३२, ३३, ३४, ३५)

"मायान्वयाच्छास्त्रसमन्वयाच्च। जगत्प्रवेशादपि चेतनांशात्।।
प्रामाण्यहेतुत्वमथोविवित्सा। त्रयं परब्रह्म गतं हि सिद्धम्।।

इत्थं तूर्याधिकरणं यथाशास्त्रोपपत्तिभिः।
श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं भूमिजा मुदे ।।श्रीः।।
श्रीरामभद्राचार्येण प्रणीते रामतुष्टये।
श्रीराघवकृपाभाष्यं चतुः सूत्र्यां विराजते।।

इति श्रीजगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य कृतौ ब्रह्मसूत्रेषु राघवकृपाभाष्ये चतुः सूत्री व्याख्या सम्पन्ना।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

अथ इच्छत्यधिकरणम्

प्रकृतिं स्ववशीकृत्य शासतं विश्वमद्भुतम्।
प्रकृतीशं स्तुवे रामं तमहं मैथिलीवरम्।।

अथाष्टभिः सूत्रैः इच्छत्यधिकरणं निरूप्यते। इह सांख्याभिमतप्रकृतिवादो निराक्रियते। सैव भिन्ना प्रकृतिः श्रीगीतायामष्टधा निरूपिता। तथा हि-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।

(गीता७/४)

भिन्नेतिपदोपादानेन भगवान् स्वयमेव स्वमायां जगत्कारणरूपात् स्वस्मादभिन्नां पृथग्भूतां प्रतिपादयति। तस्मात् अष्टभिभेदैर्जगति प्रतीयमानायाः प्रकृतेः जगज्जन्मादि कारणत्वम् यथासंख्यम् अष्टभिः सूत्रैः निराचिकीर्षुर्भगवान् बादरायणः समुचितमिच्छत्यधिकरणम् सूत्रयति।

ननु शास्त्रयोनित्वहेतुकं ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वम् तद्धेतुकञ्च ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वम् इति चतुस्सूत्र्या प्रत्यपादि, तत्र प्रकृतेरपि प्रधानपर्यायया: शास्त्रयोनित्वात् हेतोः कथन्न जगज्जन्मादिकारणत्वं स्वीक्रियते। तथाहि-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमा नां सरूपाः (श्वे० उ० ४/५) एवं छान्दो (६/२/१)

इह सत् पदेन कथं न प्रधानं गृह्यते। इत्थं प्रधानस्य जगज्जन्मादि कारणत्वे कथं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति। प्रथमः पूर्वपक्षः। किञ्च- समन्वयो नाम अनुवृत्तिः समनुगतिर्वा व्याप्तिर्वा। समन्वयादपि हेतोः प्रधानस्य जगज्जन्मादिकारणत्वम् इति द्वितीयोऽपि पूर्वपक्षः। तस्मात् प्रधानं जिज्ञास्यम्। ननु प्रधानसत्तायां किं मानम्? इति चेच्छ्रुतिरेव। तथाहि श्वेताश्वतरोपनिषदि- "**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**। तत्र प्रधानं प्रकृतिः, क्षेत्रज्ञो जीवात्मा तयोः पतिरिति प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः। ननु प्रकृतेः कारणत्वे ब्रह्मणो जिज्ञासाभावे सिद्धे प्रथमसूत्रप्रतिज्ञा विरोधः। अथातो ब्रह्म जिज्ञासेति। मैवं; ब्रह्म पदेन तत्र प्रकृतेरपि ग्रहणात्। **'मम योनिर्महदब्रह्म'** (गीता १४/३) इति स्मृतेश्च। इत्याशंकां

परिहरन् सूत्रकारः प्राह।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।१/१/५।।

ईक्षतेः न अशब्दम् इति पदच्छेदः। ईक्षतेः इति पञ्चम्येकवचनान्तम् न इत्यव्ययम्, अशब्दमिति प्रथमैकवचनान्तम् त्रिपदमिदं सूत्रम्। पूर्वसूत्रात् तत् इत्यनुवर्तते। ईक्षतेः इत्यत्र स्तिप् स च धातुं निर्दिशति। **''इकस्तिपौ धातुनिर्देशे इति''** वार्तिकानुशासनात्। पञ्चमी चात्र हेतौ। व्युत्पतिश्चेत्थम्-ईक्षणम् ईक्षतिः तस्याः ईक्षतेः तत्र सद्विद्यायां ईक्षणक्रियायाः निर्देशात्। अशब्दं शब्दप्रमाणरहितं प्रधानं प्रकृतिः न तत् नैव जगज्जन्मादि कारणम्। यतोहि- भगदभिमता प्रकृतिः जडा। चेतनस्तु केवलं पुरुषः। यथा तत्र- **''सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्''** इति सच्छब्दः प्रथमया निर्दिष्टः तथैवाग्रे **''तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय''** अत्र तत् शब्देन सत् गृह्यते। यदि भवदभिमतं प्रधानं जडं सच्छब्दवाच्यं स्यात्, तदा ईक्षणरूपश्चेतनधर्मात् हेतोः अशब्दम् शब्दप्रमाणशून्यं प्रधानं न कारणं, नवा जिज्ञास्यं ब्रह्म। यत्तु- न विद्यते शब्दः वेदप्रामाण्यं यस्मिन् तदशब्दम् इति कैश्चिदुक्तम् तदसंगतम् प्रधानसत्तायामपि शास्त्रप्रामाण्यबाहुल्यसत्वात्। तथाहि- **''क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः''** (श्वेता १/१०) **''भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्''** (श्वे ४/१०) इति। तस्माद् बहुब्रीहिसमासोऽत्र सर्वथैवानुपपन्नः। अतः शब्दोऽस्ति यस्मिन्निति शब्दम्। अर्श आदित्वात् अच्। न शब्दं अशब्दम् शब्दप्रमाण भिन्नम् अनुमानसाध्यम्। यद्वा न विद्यते शब्दं शब्द प्रमाणं यस्मिन् तदशब्दम्। शब्दप्रमाणे साध्यताशून्यं तदशब्दम्। अनुमानसाध्यं प्रधानम् न ब्रह्म, जडत्वात् शब्दप्रमाणरहितत्वाच्च। यतोहि सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञो हि जगत्कारणम्-

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेवद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते (मु० १/१/९)

न खलु प्रधानं सर्वज्ञं न वा सर्वशक्तिमत्। ननुगुणत्रयसाम्यावस्थाप्रकृतिः तत्र सत्वं ज्ञानप्रधानम् **''सत्वात् संजायते ज्ञानं''** (गीता १४/१७) एवं तेन ज्ञानेन प्रधानेऽपि ईक्षणधर्मोपपत्तेः? इति चेन्मैवं; ईक्षणं सृजनकाले, **''तदैक्षत बहुस्यां प्रजाययेति तत्तेजो सृजत** (छन्दो ०६/२/३) इति मन्त्रात्। सत्वञ्च प्रकृतेः पालनधर्मो न सृजनधर्मः। सर्जनं रजसा अत एव जगज्जन्मकाले सत्वगुणस्यैवाभावात् तत्परिणामभूतज्ञानानुपपत्तौ प्रधाने तदवस्थचेतनत्वम्। तदवस्थ्ये चा चैतन्यस्य तस्मिन्नीक्षणानुपपतेःनैव जगज्जन्मादिकारणत्वं न वा जिज्ञास्यत्व

धर्मकब्रह्मत्वम्। नन्वीक्षणं-गुणवृत्त्या ब्रह्मणि आरोप्येत। यथोक्तं श्रीभागवते-

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्वं हिरण्मयम्।।

(श्री० ३/२६/१९)

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्।।

(श्री० ३/२६/३)

स एव प्रकृतिं सूक्ष्मां देवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामन्वपद्यत लीलया ।।

(श्री० ३/२६/४)

एवं तदैक्षत इत्यस्य तत् सत् पदवाच्य प्रधानम् ऐक्षत् आरोपितेक्षणधर्मवदभवत्। नन्वस्मिन्नारोपणे का वाचो युक्तिः? इति चेत् लोकव्यवहार एव। यथा अचेतनमपि जलं कलकलनादं करोतीति व्यवह्रियते। श्रुतावपि- **'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त''** (छान्दोग्य ६/२/३) इति जिज्ञासायामाह-

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।।१/१/६।।

गुणशब्दः गुणवृत्तिपरः। गुणे भवः गौणः, गुणस्यायं वा गौणः, भावार्थे इदमर्थे च अण्। पुल्लिङ्गनिर्देशात् विशेष्यतया ईक्षणशब्द ईक्षणधर्मो वाऽध्याहार्यः। **''तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षत''**- इत्यादाविव सत्स्थलेऽपि गौणोऽयं ईक्षणानुकूलव्यापारः ईक्षणधर्मो वा ? इति चेन्न। मुख्य एव तत्र ईक्षणानुकूलव्यापारः। ईक्षणधर्मो वा कथम् इत्यत आह आत्मशब्दात्- यथा अत्रैवता आप ऐक्षन्त इत्येतदनन्तरं आत्मशब्दप्रयोगः। अतएव तेजसि अप्सु च आत्मतत्वसत्वात् नैवेक्षणशब्दो चेतने। तद्यथा-

''सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति'' (छन्दो० ६/२/२)

अस्यार्थः- सा इयं देवता परमात्मरूपिणी ऐक्षत समकल्पयत् हन्त इमाः तेजोजलान्नरुपाः तिस्र देवताः अनेन जीवेन आत्मना स्वेन च प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। इह तेजसः अपाञ्च ईक्षणम् आत्मकर्तृकत्वात् मुख्यवृत्या चेतनधर्म एव। गौणः प्रथमैकवचनान्तं 'चेत् ' अव्ययं, 'न'-अव्ययम् आत्मशब्दात्- पञ्चम्येकचवचनान्तम्, चतुष्पदमिदं सूत्रम्। एवमेव ऐतरेये

आत्मेत्युपक्रम्य ईक्षणशब्दप्रयोगः यथा-

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।" इह सुस्पष्ट स आत्मा ईक्षत इत्यनेन आत्माभिन्नैक-कर्तृकेक्षणानुकूलव्यापार उक्तः। तस्मात् आत्मशब्दात् गौणे ईक्षणव्यापारो नैव युज्यते, कथमपि भवदभिमते प्रधानरूपे सति। स च पूर्णतो युज्यत आत्मनि तस्मिन् सर्वशक्तिमति धनुष्मति सर्वसर्वेश्वरे पुराणपुरुषोत्तमे परब्रह्मणि सीताभिरामे रामे।

अत एव तैतिरीयोपनिषदि आनन्दवल्ल्याः सप्तमानुवाके। **तदात्मानं स्वयमकुरुत** तस्मात् आत्मशब्दस्य समनुरोधेन कथंचिदपि गौण वृत्या प्रधाने ईक्षणधर्मासम्भवात् न सच्छब्दवाच्यं प्रधानम्। एवं नैव तज्जगत्कारणम्। यथा श्री भागवते-

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरच्युपदिशन्ति त आरूपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदायदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे।।

(१०/८७/२५) श्रीः।।

ननु आत्मशब्दः शरीरे मनसिं इन्द्रिये च रूढः। तथाहि **आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि। धृतौ चैव मनीषायांप्रयत्ने मानसे तथा** इति कोषः। अतएव **"बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्ममनजितः"** (गीता ६/६) इत्यादौ आत्मशब्दो मानस परः। एवं **"आत्मसंस्थ मनः कृत्वा"** (गीता ६/२५) चें बुद्धिपरः। अत एव श्रीमद्भागवतेऽपि-

पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः ।। (भागवत १०-६-२८)

इत्यत्र आत्मशब्दः अहंकारपरोऽपि। एवमेव अत्रात्मशब्दः अनेकार्थकत्वासत् प्रकृतावपि इति शंकां निराचिकीर्षन्नाह-

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।१/१/७।।

तस्मिन् निष्ठा यस्य सः तन्निष्ठ, तस्य तन्निष्ठस्य षष्ठ्येकवचनान्तम्, मोक्षस्य उपदेशः मोक्षोपदेशः तस्मात् मोक्षोपदेशात्। तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीय वल्ल्याः सप्तमेऽनुवाके श्रैष्ठ्यप्रतिपादने स्वयमुक्तम् **"तदात्मानं स्वयमकुरुत् तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते"** इति। **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनि-लयनेऽयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयंगतो भवति।** एवमेव, छान्दोग्ये षष्ठे

प्रापाठके श्वेतकेतुर्मोक्षणीय आचार्येण अतएव तस्मै स आत्मनिष्ठामुपदिशति। यद्यनात्मज्ञानेन मोक्ष इष्टःस्यात् तदा स तस्मै आत्मनिष्ठां नोपदिशेत्। प्रकृतिरनात्मतत्वमिति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। तद्यथा **''स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदंसर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो''** (छन्दो० ६/८/७) इति नवकृत्वः समुपदिदेश- हे सौम्य! एष अणिमा अजोरपि जीवात्मनोऽपि अणीयान् ऐतदात्म्यमिदं सर्वं एष परमात्मैव आत्मा यस्य तदेतदात्म तस्य भाव तदैतदात्म्यम्। यद्वा एतदात्म एव ऐतदात्म्यम्। तदेव सत्यं इत्यनेन जगन्मिथ्यात्वं निराकृतम्। स एव ऐतदात्म्यम्। तदेव सत्यामित्यनेन जगन्मिथ्यात्वं निराकृतम्। स एव आत्मा स एव परमात्मा तत्वमसि। तच्छरीभूतस्त्वमसि। अनात्मनिष्ठस्य मोक्षोपदेशस्तु भवतामप्यनभिमतः।

यथोक्तं श्रीभागवते ब्रह्मणा-

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता।।
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव, ह्यसयजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण, सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः।

(१०/१४/२७-२८) श्रीः।।

ननु स्याज्ञाम आत्मनिष्ठस्य मोक्षोपदेशः। मोक्षोनाम परमार्थविषय; जगद्विलक्षणत्वात्। तर्हि भवतु नाम मोक्षोपदेशाय प्रथमात्मनिष्ठा परन्तु प्रकृतेः कारणत्ववादे न कापि हानिः। एवं कारणत्वेन प्रकृतिर्जिज्ञास्या। मोक्षोपदेशहेतुत्वेन च ब्रह्म जिज्ञास्यम् अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यत्र ब्रह्मद्वयस्य जिज्ञास्यत्वम्। एवं ब्रह्म प्रकृतिः ब्रह्म परमात्मा च। तथादि ब्रह्म च ब्रह्म च ब्रह्म च ब्रह्मणी तयोर्जिज्ञासा जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासेति? इति पूर्व पक्षः। तमुत्तरयन्नाह-

''हेयत्वावचनाच्च।।१/१/८।।

चकारः अप्यर्थः समुच्चयार्थश्च। हेयत्वावचनात् इति पंचम्येकवचनान्तम् च इत्यव्ययम्। ईक्षतेर्नाशब्दम् (१/१/५) इत्यतः न अशब्दं तत्तु समन्वयात् (१/१/४) इत्यतः तत् इति पदञ्च द्वादशसूत्रं यावदनुवर्तते। तथा च, हेयत्वावचनात् अशब्दं न तत्। उच्यते इति वचनं। भावे लयुद् न वचनमिति अवचनम्। हातुं योग्यं हेयं हेयस्यभावः हेयत्वम्, हेयत्वस्य अवचनमिति हेयत्वावचनम् तस्मात् हेयत्वावचनात्। अशब्दस्य इति शेषः। किञ्च सांख्यशास्त्रेऽपि अशब्दस्य प्रकृतेः हेयत्वमुक्तम्। श्रुतावपि च-

"अजमामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" (श्वे० उ० ४/५) अत्र परमकारुणिकशिरोमणिश्रुतिः स्पष्टमाह- लोहितशुल्ककृष्णां रजःसत्वतमोमयीं सरूपाः अनन्ताः, प्रजाः सृजमानां गुणाधानवतीः कुर्वती अजाम् एकाम् अनिर्वचनीयां गुणवतीम् प्रकृति जुषमाणः एकः जीवात्मा अनुशेते प्रकृतिं सेवमानो बद्धो भवति। अन्यः अपरः, भुक्ताः भोगाः यस्याः तादृशीमजां जहाति त्यजति। अत्र जहातीति पदम् प्रकृतेः हेयत्वं समर्थयते। किञ्च प्रकृतिसंयोगादेव सृष्टिः प्रकृति विश्लेषे एव मोक्ष इति सांख्यानां राद्धान्तः।

यथा- पङ्ग्वन्धयोरिवोभयोः संयोगस्तत्कृतः सर्गः। किन्तु- आत्मविषये न कदापि हेयत्वमुक्तम्। तस्योपासनायाः कृते असकृद्विधेयतोक्ता- **"आत्मेत्येवोपासीत," आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च**। एवं भागवते-

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता।।

(भागवत १०/१४/२७)

एवमात्मनो विधेयता समुपास्यत्वेन श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु पौनःपुन्येन निरूपिता। श्री रामश्च परब्रह्मपरमात्मा। यथोक्तं श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे-

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान।।
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रागदाधरः।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः।।

(५/१११/११,१२)

शङ्खचक्राभ्यां गद्यते विष्णुत्वेन ख्याप्यते इति शंखचक्रगदः। शंखचक्रगदः विष्णुः अधरः तिरस्कृतः येन सः शङ्खचक्रगदाधरः महाविष्णुः। नित्या श्रीः सीता यस्य स नित्यश्रीः इत्यनेन सीता निर्वासनं निराकृतम्। एवं भूतः परमात्मा श्रीरामः अयोध्याकाण्ड एव समुपास्यत्वेन विहितः।

यश्च रामं न पश्येत्तु यञ्च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते।।"

(वा० रामायण २/१७/१४)

एवमेव आत्मनो विधेयत्वं प्रकृतेश्च हेयत्वम्। यद्यात्मशब्देन प्रकृतिरभिमता

स्यात्तर्हि आत्मनोऽपि हेयता क्वापि निगद्येत। यतो न निगदिता अतो निश्चीयते यन्नायमात्मशब्दः प्रकृतौ गौणः प्रत्युत् परमकारूणिके परमात्मनि परब्रह्माणि मुख्यवृत्या तात्पर्यसमर्पकः। यथोक्तं श्री भागवते-

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं;
त्वयि सुधयोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम्।।

(१०/८७/३२ श्रीः।।)

ननु प्रकृतेर्न हेयत्वम्, प्रत्युज्ज्ञेयत्वमेव। यथा-

दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदभिधातके हेतौ।
दृष्टे सा पार्थाचेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्

(सा० का०-१)

एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् इत्यनेन प्रकृतेर्ज्ञेयता विहिता, सेव्यत्वेन हेयता भवेन्नाम्, किन्तु ज्ञेयत्वे उभयत्र समानता। अतएव श्री गीतायामपि **भूतप्रकृतिमोक्षञ्च येविदुर्यान्ति ते परम्"** इत्यरुचेराह-

"प्रतिज्ञाविरोधात्" ।।१/१/९।।

प्रतिज्ञायाः विरोधः तस्मात् प्रतिज्ञाविरोधात्। पञ्चम्येकवचनान्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। यदि प्रकृतेः सद्वाच्यता जगज्जन्मादिकारणता चाङ्गीकरिष्यते, तदा एकविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधो भविष्यति। तत्र छान्दोग्ये षष्ठेऽध्याये इत्थमाम्नायते, यद्- उद्दालकस्य महर्षेः पुत्रः श्वेतकेतुः अतीतद्वादशवर्षोऽपि नाध्ययने प्रवृत्तिं चकार, न वा गुरुकुलमियाय। कदाचित् तत्पित्रा समुपालब्धः गुरुकुलं गत्वा द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचर्यमुषित्वा अहङ्कारयुक्तः अनूचानमानी पितरमुपागमत्। तस्याहङ्कारं निरीक्ष्य पित्रा पृष्टः- सोम्य! किं तमादेशं आचार्यान् पृष्टवानसि, येन श्रुतेन सर्वश्रुतं श्रुतं भवति, येन चिन्तितेन सर्वंमचिन्तितं चिन्तितं भवति। येन च विज्ञातेन विज्ञानविषयतां नीतेन सर्वमविज्ञातं विज्ञातं भवति। तदा श्वेतकेतुराश्चर्यमुद्रायां कथयति- भगवन्निममादेशमहं कदापि नापृच्छम्। भवानेव कृपया कथयतु किं वस्तु तत्? तदा उद्दालकः उदाहरणत्रयेण एकविज्ञानप्रतिज्ञाभावमाचष्टे। यथा एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृत्तिकारचितं घटादिकं विज्ञायते, अयं घटः, अयं कलशः- इत्यादिकं तु वाग्विलासमात्रम्। एवं यथा एकेन सुवर्णेन विज्ञातेन तद्रचितकटककुण्डलादीनां ज्ञानं, 'इदं

कटकं,' इदं कुण्डलम्ः इति तु वाचारम्भणं, तथैव लोहमणिना विज्ञानेन यथा सर्वं लौह पिण्डं ज्ञानं भवति, 'इदं नखनिकृन्तनम्, इयं छुरिका,' इदं केवलं वाचारम्भणम्। तथैवैकेनैव भगवता ज्ञातेन तत्परिणामभूतानां सर्वेषां चराचराणां ज्ञानं भवति- अयं मैत्रः इयं गार्गी, इदं फलम् इति विकारनामधेयं तु वाचारम्भणम्। अयमादेशः- अर्थात् सम्पूर्णं जगत् भगवद्रूपमेव। अतो भगवता ब्रह्मणा श्रीरामाभिन्नेन विज्ञातेन सर्वं तत् परिणाम भूतं जगत् विज्ञातं स्यात्।

अनन्तरं श्वेतकेतुनोक्तम्- मद्गुरवः इदं न जानन्ति, यदि ज्ञातवन्तस्तर्हि कथं नाकथयन्? अतो भवानेव कथयतु। अनन्तरमुद्दालकः कथयति- हे सौम्य! सृष्टेः पूर्वमिदञ्जगत् **''सदेव आसीत्''** सति परमात्मनिलीनं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकम् एकमद्वितीयमेवासीत्। इदमेकविज्ञानप्रतिज्ञायाः स्वरूपम्।

त ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानीस्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः।।

येनाश्रुत श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।।

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।

यथा सोम्येकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेव सोम्य स आदेशो भवतीति।

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवांस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच।। (छा० उ० ६/१/२,३,४,५,६,७)

''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छा० उ० ६-२-१)

इत्यनेन विवर्तवादोऽपि निराकृतः। कुण्डलकटकादि न कनकस्य विवर्तं भवति, किं तर्हि परिणामः? इह कनकेन ज्ञातेन तत् परिणामभूतस्य कटकादेर्ज्ञानं सम्भवम्। निर्बाधा चैकविज्ञानप्रतिज्ञा, किन्तु प्रकृतेरचेतनायाः विज्ञानेन चेतनानां जीवानां चेतनघनस्य परमात्मनश्च ज्ञानं न सम्भवम्। अन्यथा मृद्ज्ञानेन आदित्यज्ञानं स्यात्। मम तु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्वीकारे मृद्ज्ञानेन घटज्ञानमिव ब्रह्मणो विज्ञानेन तत्कार्यभूतस्य चराचरस्य ज्ञानं सम्भवं सूपपन्नञ्च।

किं च विवर्त्तवादे स्वीकृते एकविज्ञानप्रतिज्ञा न स्यात् सुरक्षिता, अतो

विनिश्चीयते यत् 'सदेव सोम्य' इत्यत्र सच्छब्दः न प्रकृतिपरो न वा जीवात्मपरः यथोक्त, भागवते-

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्केश भूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितोब्रह्मांशकस्यात्मनआत्मबन्धनः।।

(१२/४/३२)

घनो यथार्क प्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहंकार उपाधिरात्मना जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ।।

(१२/४/३३) ।।श्री।।

किं च सच्छब्दस्य प्रकृत्यर्थे स्वीकृते महाननर्थः छान्दोग्ये उद्दालकेन श्वेतकेतुं प्रति सुषुप्त्यवस्थायाः वर्णनं कुर्वता प्रतिपादितं यत् स्वप्नस्य अन्ते सुषुपत्यवस्थायां यदा पुरुषः स्वपिति, तदा सता संपन्नो भवति। अनन्तरं सः स्वं सदात्मीयं अपीतो भवति। अपिपूर्वस्य इणधातोः प्रलयोऽर्थः। यतो जीवः स्वमप्येति अतः स्वपिति इति कथ्यते। यद्यपि वैयाकरणानां नये स्वपिति इति तिङन्तप्रयोगः। किन्तु अपरा विद्यातो विलक्षणा भवति परा विद्या। अतः **"स्वम् अपीतः इति स्वपिति इत्येवं"** विचित्रा व्युत्पत्तिः क्रियते। यथा- हृदि- अन्तःकरणे, अयं- परमात्मा **"इति हृदयम्"**। तथा च इह स्वस्मिन् जीवस्य लय उक्तः। यदि सच्छब्देनात्र प्रकृतिरभिमता स्यात्। स च सर्वथैवानुचितः स्यादत आह-

"स्वाप्ययात्" ।।१/१/१०।।

स्वशब्दोऽत्र सच्छब्द परामर्शः परमात्मवाचकः **"स्वस्मिन् अप्ययः स्वाप्ययः तस्मात् स्वाप्ययात्"** पञ्चम्येकवचनान्तमेकपदमिदं सूत्रम्। यतो हि सुषुप्तिकाले जीवस्य स्वस्मिन् परमात्मनि लयो भवति। तस्मात् स्वशब्दं परामृश्य सच्छब्दो न प्रकृतिपरामर्शकः।

किं तर्हि? परमात्मपरामर्शकः। तथा च तत्रत्या श्रुतिः-

यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति।। (छा० उ० ६-८-१)

तथा च भागवतः-

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषोरजयो-

रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुद्वत्।

त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे

सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः।।श्रीः।।

(१०/८७/३१)

अथान्यदपि कारणं परमात्मनो जगज्जन्मादिकारणत्व साधकम् स्वीक्रियते-

"गतिसामान्यात्" ।।१-१-११।।

समानस्य भावः सामान्यम्। गतेः श्रुतिप्रवाहस्य सामान्यामिति गतिसामान्यं तस्मात् गतिसामान्यात्। किं च यदि प्रकृतौ जगत् कारणता स्वीक्रियेत तदा गतिसमानता भङ्गः सर्वेषां वेदान्तानां परमात्मन्येव जगत्कारणतासमर्पकत्वात्। तथा हि श्रुतयः-

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षते लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत।। (ऐ० उ० १-१) **आत्मन एवेदं सर्वम्** ।। (छा० उ० ७-२६-१)

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।। (तै० उ० २-१) यद्वा-गतिः- गमनम्? प्राप्तिः प्रवेशनम् वा। समस्ताभिः श्रुतिभिः जीवानां गतित्वेन परमात्मैव निर्दिष्टः न प्रकृतिः। यथा नद्यः समुद्रं गच्छन्ति न तडगम्। तथैव जीवः परमात्मानं गच्छति न प्रकृतिम्। यथा मुण्डकश्रुतिः-

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

(मु० उ० ३/२/८)

न केवलं मुक्तानां मुमुक्षुणामपि गतिः परमात्मैव न तु प्रकृतिः।

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वे० उ० ६/१८) गीतायामपि भगवान् आत्मानमेव जीवगतिं प्राह। **'गतिर्मर्ता प्रभुः साक्षी'** (गीता९/१८) किञ्च- कारणं कार्यगतिः घटस्य मृत्तिकावत्। यदि जगतः परमात्मनोऽन्यत् कारणं स्यात् तर्हि ततोऽन्यदपि क्वापि किमपि गतित्वेन चर्चित् स्यात्। अतो गीतायाश्चरमे- **मामेकं शरणं ब्रज** (१८/६६)

इति स्वमेव गतित्वेन निरूप्य स्वतोऽन्यगतित्वबोध्यजगत्कारणत्वं प्रत्याचष्टे भगवान्। तस्मान्मुमुक्षूणां मुक्तानां च गतेः गन्तव्यरूपायाः सामान्यात् साधारण्यात् परमात्मनि तस्यैव जगत्कारणत्वम्। अतएव शिवमहिम्ने पुष्पदन्तः-

त्रयीसांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथयमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनाना पथ जुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

(शिवमहिम्न ७)

अतएव श्रीमद्भागवते श्री उद्धवः श्री विदुरं प्रति-

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरण व्रजेम।।

(भागवत ३/२/२३)

अतएव बाल्मीकीये नारदः प्राह-

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः। (बा० रा० १/१६)

मुमुक्षूणां च मुक्तानां सर्वेषां प्राणिनां हरौ।

गतीनामिह सामान्यात् जगत्सत्कारणं हरिः ।।श्रीः।।

किं च सर्वाभिः श्रुतिभिः ब्रह्मैवजगत्कारणत्वेन प्रतिश्रुतम्। अत एव न प्रकृतिः कारणम्। इति निर्णयमाह-

श्रुतत्वाच्च ।।१/१/१२।।

श्रुतत्वात् इति पञ्चम्येकवचनान्तम्, च इत्यव्ययं द्विपदमिदं सूत्रम्। सर्वाः श्रुतयः तद्ब्रह्मैव जगत्कारणमामनन्ति। यथा- सर्वेवेदाः यत् पदमामन्ति।। (कठ० १-२-१५) **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।।** (तै० उ० ३-२) **ततोव्विराडजायत** (शु० य० ३१-५) **"सकारणं करणधिपाधिपः"।।** (श्वे० उ० ६-९), एवं श्रुतिस्मृतिप्रमाणैः युक्तिभिश्च ब्रह्मैव जगज्जन्मादिकारणं सिद्धम्। तदेव च जिज्ञास्यम्।। किञ्च- श्रुतत्वं नाम श्रुतिप्रमाणितत्वम् ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वम् श्रुतिभिः बहुधा प्रमाणितम्। तद्यथा जगज्जमादिकारणत्वमीमांसायां ऋषयस्तत्तद्विकल्पं चिन्तयतो नाधिगच्छन्तश्च सुनिश्चितं समाधानम्। ध्यानयोगेन जगत्कारणमद्राक्षुः। तद्ब्रह्मैव शक्तिसम्पन्नम्।

तद्यथा-

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इतिचिन्त्या संयोग एषां न त्वात्मभाषादात्माप्यनीशः सुखदुःख हेतोः।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठयेकः।।

(श्वे १/१, २, ३)

पुनरत्रैव षष्ठे-

"न तस्य कश्चित्पतिरस्तिलोके न चेशितां नैव च तस्य लिङङ्ग।
स कारणं कारणाधियाधियो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।।"

(श्वे० उ० ६/९)

एवमन्यत्रापि- "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् इत्येव" सर्वत्र ब्रह्मकारणत्वं श्रुतिभिःसमर्थितम्। तदेव अत्र श्रुतशब्देन व्यवह्रियते। इह श्रूयते श्रुतिभ्यः इति श्रुतम्। तस्य भावः श्रुतत्वम् तस्मात् श्रुतत्वात्। अत्रापि हेतौ पञ्चमी। श्रुतशब्दोऽयं सुनिर्णीतम् मीमांसासिद्धान्तमिङ्गयति तथा हि- "श्रुतिल्लिङ्गप्रमाणसमाख्यानां उत्तरोत्तरं दौबल्यम्पारतन्त्र्यात्" इति मीमांसासमयः। तत्र श्रुतिःशब्दः श्रुतिवाक्यपरः एवं श्रुतेर्लिङ्ग, लिङ्गात् प्रमाणम्, प्रमाणात् समाख्या, इत्येवं पूर्वपूर्वस्मात् उत्तरोत्तरं दुर्बलतरम्। तस्मात् ब्रह्मजगत्कारणत्वम् श्रुतम्। प्रकृतिकारणत्वञ्च प्रमाणानुमानसिद्धम्। अतः श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य, लिङ्गापेक्षया प्रमाणस्य दुर्बलतरत्वात्। श्रुत्यपेक्षया अनुमानरूपप्रमाणसाध्यस्य प्रकृतिकारणत्वस्य दुर्बलतमत्वेन सुतरामुपेक्षितत्वात् ब्रह्मैव विदुषां जिज्ञास्यामिति सर्वशास्त्रसमयः। किञ्च- "यतो वा इमाति भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रौतवचनात् ब्रह्मणो जगज्जन्मादिहेतुत्वं श्रुतम्। प्रकृति हेतुत्वञ्च कारणाष्टकेन प्रत्यक्षबाधसम्भवे भवद्भिरनुमानेन साधितम्। तर्हि अस्माकं ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वम् श्रुतम्, श्रुतिप्रोक्तत्वात् भवता प्रकृतेर्जगत्कारणत्वम्, अनुमानसाध्यत्वादनुमितम्। तथा च श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान् इतिमीमांसा सिद्धान्तात् श्रुतसम्बन्धभूतोऽयं ब्रह्मनिरूपितजगज्जन्मादिकारणत्वपक्षो बलवत्तरोऽनुमितप्रकृतिनिरूपितजगज्जन्मादिकारणतापक्षात्। इति दर्शयितुमेवाह भगवान् बादरायणः

श्रुतत्वाच्च। इति श्रीराघवकृपास्फुरितमामकीन प्रातिभोन्मेषोऽयम् यथा श्री भागवते-

वासुदेवपरा वेदा वासुदेव परा मखाः।
वासुदेव परा योगा वासुदेव परा क्रियाः।।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।।
वासुदेवपरोधर्मो वासुदेवपरा गतिः।।

(१/२/२८-२९) श्रीः।।

श्रुतं च श्रुतिभिर्ब्रह्म जगद्धेतुर्यतो ह्यतः।
जिज्ञास्यं ब्रह्म निर्दोषं न सांख्य प्रकृतिः क्वचित् ।।श्रीः।।
पञ्चमञ्चाधिकरणमीक्षत्याख्यं प्रभाषितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण रामानन्दीय तुष्टये।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतुः।।

।।अथानन्दमयाधिकरणम्।।

आनन्दसिन्धुमानन्दकन्दमानन्दविग्रहम्।
राममान्ददं नौमि वसिष्ठानन्दवर्धनम्।।

ननु श्रुतत्वाद्यन्तहेतुभिः जगज्जन्मादिकारणत्वं प्रकृतेः निराकृत्य निर्विवादतया ब्रह्मणि तत् साधयित्वा तज्जिज्ञास्यत्वं सोपपत्तिप्रतिपादितम्। तत्र मुक्तस्य जीवात्मनो जगज्जन्मादिकारणत्वम् कथन्न! "निरञ्जन परमं साम्यमुपैति " इत्यादिभिः ब्रह्मसाम्योक्तेः तस्मिन्नपि आनन्दमयत्वादिधर्मसद्भावात्। तथाहि-

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः तेनैषः पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविध। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। (तै० ब्रह्म ५)

एवमेव अस्यां श्रुतौ शिरःपक्ष-पुच्छादीनां रूपकेण शरीरिणो जीवात्मनोऽत्र तात्पर्यं प्रतीयते। इत्थं आनन्दमयत्वे जीवात्मत्वावच्छेदके सिद्धे **आनन्दाद्धि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देनैव जातानि जीवन्ति आनंन्द प्रयन्त्याभिसविशन्ति** इत्यादि लक्षणात् आनन्दमयस्य जीवात्मन एव जगत्कारणत्व श्रुतत्वे स एव जीवात्मा जिज्ञास्यः। इति पूर्वपक्षः। तं पक्षं निराकरिष्णुराह भगवान् बादरायणः सूत्राष्टकेनान्दाधिकरणम्। तत्र प्रथमं सूत्रम्-

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।१/१/१३।।

आनन्दमयः प्रथमैवचनान्तम्, अभ्यासात् पंचम्येकवचनान्तं द्विपदमिदं सूत्रम्। तन्तु समन्वयात् (१/१/४) इत्यस्मात् तत् इत्यनुवर्तते पुल्लिङ्गत्वेन विपरिणम्यते च। सूत्राकारश्च-अभ्यासात् आनन्दमयः सः। तैत्तरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यां प्रयुक्तः आनन्दमयशब्दः परमात्मवाचकः न तु जीवात्मतात्पर्यकः। कस्माद्धेतो; अभ्यासात्। अत्र हेतौ पञ्चमी। ननु वारम्वारं हेतौ पञ्चमीति कथं कथ्यते। इति चेच्छ्रुणु। न वयं कृतागसः ब्रह्मसूत्रपदानां श्रीगीतासु भगवतैव हेतुमत्वस्य प्रतिपादितत्वात्! **ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः** (गीता १३/४) हेतुमद्भिरित्यत्र प्राशस्त्ये मतुपो विधानात् हेतूनां सद्धेतुत्वं सूचितम्। हेत्वाभाससंज्ञमसद्धेतुत्वञ्च निराकृतं वेदितव्यम्। एवं यावन्तोऽपि हेतवस्तावन्तः सर्वेऽपि सद्धेतवस्तस्मादभ्यासादित्यपि सद्धेतुः। ननु ब्रह्मसूत्रस्य गीतायाश्चैव कर्तृत्वे स्ववाक्यं स्वसिद्धान्तप्रतिपादने कथं प्रामाण्यं भजेत प्रमाण प्रेमययोर्भिन्नाश्रयत्वस्यैव सर्वतन्त्रनिश्चितत्वात् इति चेत् साधु पूर्वपक्षितम्। श्री गीता ब्रह्मसूत्रयोर्भगवदीयत्वेऽपि भिन्नाश्रयत्वेनोपपत्तेः। तथा हि श्री गीतापूर्णब्रह्मणः परमेश्वरस्य महायोगेश्वरस्यभगवतः श्रीकृष्णस्य मुखपद्माद्विनिःसृतत्वेन श्रुतेरिवापौरुषेयी भगवद्भणितिः। वेदो निश्वासो गीता प्रवचनमितिभेदः, उभयत्रापौरुषेयत्वं समम्। ब्रह्मसूत्रं तु भगवत्कलावतारस्य सत्यवतीनन्दनस्य वेदव्यासस्य कृतिः। इत्युभयोराश्रयभेदः। अत एव स्वयं भगवान् वेदव्यासो गीतायाः स्वकृतित्वं निराकुरुते-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

(म० भा० भी० प० ४३/१)

ननु स्वयं स्मृतिप्रवक्तुः परिपूर्णब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य निजकलावतारवेदव्यास कर्तृकब्रह्मासूत्रस्मरणमनुपपन्नम् इति चेन्न। हरेरंशांशजन्मनः स्वयंभुवस्य मनोः प्रधानकृतेः मनुस्मृतेः श्रीकृष्णपूर्वावतारेण श्रीरामे तद्यथा श्रीमद्रामयणे वाल्मीकीये आर्षे आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे बालिवधप्रसङ्गे भगवान श्रीरामः प्रभुः श्रीमुखेन मनुस्मृतिमुदाहरति-

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्र्यवत्सलौ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया।।
राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा।।

शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते।
राजा त्वशासनपापस्य तदवाप्नोति किल्विषम्।।

(वा० रा० ४/१८/ ३२, ३३, ३४)

एवं त्रिकालयज्ञस्य भगवतः सूपपन्ने ब्रह्मसूत्रस्मरणे श्रीगीतासु नैवाना स्थाकार्या कदापि असकृदुपदेशः। यतो ह्यत्र ब्रह्मानन्दवल्ल्यां वारुणीविद्यायाञ्च **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** (तै० २/१) पुनः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युपक्रम्य ब्रह्म सकृदभ्यस्य पुनश्च **तस्माद्वा एतस्माद्वा** इत्यत्र तच्छब्देन परामृश्य पुनश्चात्मा आत्मनः इत्यनेन तदेवात्मपर्यायत्वेन प्रतिपाद्य पुनश्च तमेव अन्नप्राणमनोविज्ञानमयतो विलक्षणं वर्णयन्ती श्रुतिः तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयाद अन्तरोऽयमानन्दमयः इत्यस्मिन् वाक्यशकले तदेवोपक्रान्त ब्रह्म आनन्दमयत्वेनाभ्यसति। पुनश्चात्रैव **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** इत्यक्त्यभ्यस्य **'रसो वै सः ' एष आनन्दयति** (ते २/६) **सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति'** (तै० २/७) इत्येवम् असकृदभ्यासात् **स परमेश्वर आनन्दमयः**। कस्माद्धेतो इत्यत आह **''अभ्यासात्** यतो हि परमेश्वरस्यासकृदुपदेशो भवति, न तु जीवात्मनः। कथं? यतो ह्यु-पदेशो भवति मोक्षाय **''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति''** (शु० य० ३१-१८) इति मन्त्रानुशासनात्। किंच शास्त्रे उपदेशविषयो भवति ज्ञानम्- **''उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानि नस्तत्त्वदर्शिनः**। (गीता- ४-३४) तच्च ज्ञानं ब्रह्मैव न तु जीवात्मा। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।। (तै उ० २-१), इति श्रुतेः। ज्ञानमिति ब्रह्मसमानाधिकरणं तस्माज्ज्ञानस्वरूपं तत् ज्ञानाधिकरणं च सगुणत्वात्। न च ब्रह्मणो ज्ञानाधिकरणत्वे ज्ञानं ब्रह्मेति समानाधिकरण्यमनुपपन्नं स्यादिति वाच्यम्। ज्ञानं नित्यमस्त्यास्मिन् तज्ज्ञानमिति नित्ययोगे अर्श आदित्वात् मत्वर्थीयाज्विधानेनादोषात्। एवं स्मृतिरपि-

ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

(गीता १३-१७)

किंचाभ्यासरूपा क्रिया कञ्चित् कर्तारमपेक्षते। स च जीवात्मा यद्यत्र आनन्दमयो जीवात्मा स्यात्, तर्हि स्व एव स्वं कथमभ्यसेत्।

किंच ज्ञानं मोक्षाय, मोक्षश्च ज्ञानाधीनः इति केचन। वस्तुतस्तु ज्ञेयपरमात्माधीन एव मोक्षः, इतिवेदान्तनिश्चयः। **ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः** इति श्रुतिरपि ज्ञानमपेक्ष्य, भगवत्कृपया मुक्तिरित्यर्थिका। स एव बन्धमोक्षहेतुः अज्ञानिनो प्रबलकर्मरज्वा बध्नाति, ज्ञानिनश्च ततो मोक्षयति। कर्मजत्वात् कमपि बन्धुं

मोक्तुं वा न प्रभवति। अत एव शिवमहिम्नस्तोत्रे पुष्पदन्ताचार्य आमम्नौ-

क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।।शिवमहिम्न २०)

संसार बन्धमोक्षहेतुत्वं परमात्मनः श्रुतौ प्रसिद्धम्।

संसारमोक्षास्थितिनाशहेतुः (श्वे० उ० ६-१६) अतएव श्री भागवते दशमे महाराजा परीक्षितः-

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा। मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च, मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्।।

(भागवत् १०-१-७)

मृत्युः संसारः, अमृतं वैकुण्ठगोलोकपर्यायः साकेतलोकः। अतएव श्रीविनयपत्रिकायां श्री हुलसीहर्षबर्धनः-

जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल कर्म की डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म यशुमति हठि बांध्यो सकत न छोरी।।

(विनय पत्रिका ९८/२)

रुपान्तरम्-

यः सं ब बन्ध च सुरासुरनागनृन् वै। दुर्धर्षया प्रबलया किल कर्मरज्वा।।
विच्छेदवर्जिततनुः स यशोदयाथ। बद्धः शशाक निजमेव न मोक्तुमीशः।।

एवं बन्धनसप्तकेन बद्धोऽयं जीवो नितराम शक्तो विमोक्तुं संसारात्।

इदमेव परमेश्वरस्य वैशिष्ट्यं यत् स्वयं मात्रा बद्धोऽपि यमलार्जुनं मोचयति। किं च आनन्दार्थमभ्यासप्रवृत्तिर्भवति, यथा रसालफले। यदि ब्रह्मणि निरवधिकानन्दो न स्यात्, तर्हि विसृष्टगृही कुटुम्बममताबन्धैः कोटिकोटिपरमहंसपरिव्राजकाचार्यविमलात्ममहात्मभिः पौनः पुन्येन नाभ्यसेत्। यस्य लीलावपुषः सकृदास्वादनेन विहङ्गा इव त्यक्तपरिवारबन्धनाः विहितचातकसाधनाः भगवत्प्रेमैकधनाः भैक्ष्यं चरन्ति तदानन्दमयत्वे कः सन्देहदोहः। यथोक्तं श्रीभागवतभ्रमरगीते गोपिकाभिः-

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविपुट् सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टा।
सपदिगृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति।

(भागवत १०-४७-१८)

अतआनन्दमये इत्यत्र मयट् किमर्थः? विकार इत्येव। केन सूत्रेण?

"नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (पा० अ० ४-३-१४४) आनन्द शब्दो हि वृद्धसंज्ञकम् किं मानम्? यस्याचामादिरच् वृद्धिस्तद् वृद्धं भवति।

तथा च सूत्रम्- "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ।। (पा० अ० १-१-७३) आनन्द शब्दस्य आदिश्च् आ। स च वृद्धिः। "वृद्धिरादैच् (पा० अ० १-१-१) इत्यनुशासनात्।

एवं वृद्धसंज्ञकादानन्दशब्दात् विकारार्थे मयट्। तथा च विकारो जीव एव, एवं **"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्तरोऽयमानन्दमय"** इत्यत्र आनन्दमय शब्दः जीवात्मवाचकः तस्यैव शिर आदयोऽवयवाः। निरवयवे ब्रह्मणि प्रियमस्य शिरः मोदः दक्षिणः पक्षः, प्रमोदः उत्तरः पक्षः ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा इत्यद्यवयवकल्पना कथं संगच्छेत? अभ्यासवाक्येषु आनन्दशब्दः अर्शाद्यजन्तत्वेन आनन्दमयार्थवाचक इति चेन्न! नैवात्र विकारे मयट्। कथं? **मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः**।। (पा० अ० ४-३-१४३) इति सूत्रात् भाषायां नेतयोः अभक्ष्याशब्देभ्यज्च भक्ष्याच्छादने वर्जयित्वा भाषायां मयट्-प्रत्ययो भवति विकारे अवयवेचार्थे। इह तु आनन्दमय इति शब्दः वैदिको न तु भाषायाः। **तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्** अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। (तै० उ० २-५) इति तैत्तिरीयोपनिषदो मन्त्रः। इयं च तैत्तिरीयोपनिषत् कृष्णयजुर्वेदीयत्वात् छन्द एव न तु भाषा। अतो नात्रविकारे न वावयवे मयट् प्रत्ययः। तस्मात् नासावानन्दमयो जीवात्मा अयं परमत्मैव। अथ कस्मिन्नर्थे मयट्? इति चेत् "नित्यंवृद्धशरादिभ्यः (प्रा० अ० ४-३-१४४) इत्यत्र नित्यमिति योगविभागात् स्वार्थे मयट। अत एव चिन्मयमित्यादौ नित्यमिति योगविभागात् स्वार्थे मयट-इतिबालमनोरमाकारः। ननु स्वार्थे मयटः अस्ति क्वाप्युदाहरणम् इति चेत्। भूयांसि। तथाहि श्रीमद्भागवते-

"तस्यापि भगवानेषः साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।"
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया।।

(भागवत ९-१०-२)

"ब्रह्मैव ब्रह्ममयः। ममयडत्रज्ञस्वरूप" इति तत्र वंशीधरी। विकारादिष्वसंभवात्। नन्वात्रावयवे मयट्; मैवं, ब्रह्मशब्दस्यवृद्धत्वाभावादसंभवः। नन्वत्र आकृतिगणत्वेन ब्रह्मशब्दस्य शरादित्वात् अवयवे मयट् इति चेत्। मैवं भाणीः। **साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः इति** साक्षात्पदोपादानेन श्रीरामस्य इतरावयवत्वनिषेधात्। तस्याखण्डत्वाच्च। ननु तस्य ब्रह्मरूपत्वे किं मानम्?

इति **रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।**" रामतपिन्युपनिषत् (१/६) श्रुतिरेव। तस्मादत्र स्वरूप एव मयट्। किंच, कालेयकवीनां गुरुरूपमहाकविकालिदासस्य रघुवंश महाकाव्येऽपि-

"तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु।।

(रघुवंश ६-११)

"कन्यामये कन्यारूपे इति मल्लिनाथः। कन्यारूप इत्यर्थस्तु स्वार्थिकमयटैव लब्धुं शक्यः। एवमत्रापि नित्यमिति योगविभामादेव मयट्। यत्तु- "तत्प्रकृतिवचने मयट्" (पा० अ० ५-४-२१) इत्यनेन प्रकृतवचने मयट् इति। तत्र प्राचुर्येण कृतं प्रस्तुतमिति प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनं इति तत्प्रकृतवचनं तस्मिन् प्रकृतवचने। यद्वा- उच्यते अस्मिन्निति वचनं अधिकरणे ल्युट्, एवं प्राचुर्ये प्रतिपादने प्राचुर्यवदधिकरणे च प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात् मयट्। इति तस्य सूत्रस्य अर्थात् प्रचुरम्आनन्दः यस्मिन् स आनन्दमयः। प्रचुर आनन्दो वा आनन्दमयः। इति केचन व्याचक्षिरे। तदसङ्गतम्। प्राचुर्यस्याल्पापेक्षत्वात् ब्रह्मण्यानन्दप्राचुर्येऽपि तदभावस्य अल्पत्वमपि वक्तव्यं भविष्यति। यथा **"सैन्धवमयः सूपः"** इत्यत्र सैन्धव प्राचुर्ये साधितेऽपि तदन्यस्य न निराकर्तुं शक्यते, कदाप्यल्पत्वम्।

विनिगमनाविरहात् भावल्युडन्तपक्षे प्रचुर आनन्दः आनन्दमयमिति चेत्! किमपेक्षया प्रचुर? इत्यानन्दस्य अवधित्वनिर्धारणे, **"न तत्समञ्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।"** (श्वे० उ० ६-८) इति श्रुत्यर्थव्याकोपः, किञ्च- अधिकरणे व्युत्पत्तौ मयट् चेत्, तर्हि **"आनन्दोः ब्रह्मेति विजानात्"** तै० ३/६। इति समानाधिकरण्यानुपपन्तिः। ब्रह्मणो ह्यानन्दाधिकरणत्वात्। आनन्दस्य ब्रह्म इत्येव उक्तं स्यात् यदपि प्रस्तुतं कृतमिति प्रकृतम् तस्य प्रतिपादने मयट् इति स्वरूपे मयड्विधानम्; उदाहरणञ्चात्र न्यासकृतः तद्विनिगमानाविरहादुपेक्ष्यायम्।

प्रस्तुतं कृतं प्रकृतम् इति न्यासकृतव्याख्याने तत्र का युक्तिः? एवञ्चानन्दमय इति कथनेन प्राचुर्यार्थो न द्योत्येत। तथा च- **"जलमयः समुद्रः"** मृत्तिकामयी पृथिवी- इत्यादिर्न सिध्येत्, अत एव आनन्दमय इत्यत्र न प्राचुर्यार्थो मयट् न वा प्रस्तुतार्थः, किन्तर्हि; स्वरूपार्थः। आनन्द एव आनन्दमयः। अत एव **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'** इत्यादीनि ब्रह्मसमानधिकरणानि संघटन्ते। किञ्च- स्वार्थ एव मयट्स्वीकारे- **आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते "इत्यादीनि ब्रह्मसमानाधिकरणानि" सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति** इत्यादि सम्बन्धवाचकानि

च सार्थकानि भवन्ति। अथ यदि आनन्दस्वरूपं ब्रह्म तर्हि 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' तै० २/१/९ इति व्यधिकरणम् कथम् इति चेत् षष्ठयर्थस्याभेदरूपस्य स्वीकारेणादोषात्। अभेदे हि षष्ठी श्रूयते। यथा वटस्य वृक्षः, राहोश्शिरः। एवं ब्रह्मेऽभिन्नं विद्वान् जानन् इति तदर्थः। यद्वा- ब्रह्मण इति न षष्ठी किंतर्हि ? द्वितीया। तदर्थे ङस् 'व्यत्तपयो बहुलम् (३/१/८५) इत्युनुशासनात्। एवमानन्द एव आनन्दमय ब्रह्ममय इत्यादिवत्। पुंस्त्वन्तु-"अनिर्दिष्टलिङ्गाः स्वार्थिकाः भवन्तीति" नियमात्। अभिप्रायश्च श्री रामस्यैव आनन्दमयत्वलक्षणब्रह्मत्वसाधने यदि क्लीब प्रयोग स्यात् तदा विवक्षितोऽर्थः स्फुटं न प्रतीयेत! किञ्च- श्रीरामः स्वयमानन्दस्वरूपः। रमणाद्रामः। रमु क्रीडार्थः। क्रीडा च आनन्दापेक्षा। न कोऽपि दुःखे क्रीडति। अतएव अथर्वश्रुतिः-

"रमन्ते योगिनीऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।"

(श्रीराम० उ० १/६)

अत्र श्रुतिः श्रीरामे नित्यानन्दत्वम् प्रतिपादयति' तस्य भावतो रामस्य परब्रह्मणः न केनापि विहन्तु शक्यते आनन्दः। अत एव नामकरणप्रसङ्गे गायन्ति श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासमहाराजाः श्रीमन्मानसे-

जो आनन्द सिन्धु सुखसारी। सीकर ते त्रैलोक सुपारी।।
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।।

(मानस १/१९७/५६)

रुपान्तरम्-

यश्चानन्दस्य सिन्धुर्वै सुखानां राशिरेव च।
आनन्दसीकरेणैव त्रिलोकीं पालयत्यसौ।।
राम इत्येव नाम्ना स सुखधामप्रकीर्तितः।
अखिलानाञ्चलोकानां विश्रामस्य प्रदायकः।।

तस्मात् पुल्लिङ्गनिर्देशेन सूत्रमिदं सुस्पष्टमेव श्रीरामं निर्दिशति यथा श्रीभागवते वेदस्तुतौ-

भूमिपुरुपुण्यतीर्थ सदनान्पृषयो विमदा
स्त उत भवत्पदाम्बुज हृदोऽघमिदंघ्रिजलाः।

दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्य सुखे
न पुनरुपासते पुरुषसार हरावसथान् ।।

(भागवत १०-८७-३५)

श्रुतीनां पुनरभ्यासादानन्दमय ईश्वरः।
प्राचुर्ये नो मयट ज्ञेयः स्वरूपे विकृतौ च न ।।श्रीः।।

ननु विकारार्थकोऽयं मयट् न तु निर्विकारार्थः। सर्वत्रैव मयटो विकारार्थत्वप्रसिद्धेः न च निर्मूलेयं शकेति वाच्यम्। **"तस्य विकारः"** ४४/३/१३४ पा० अ० इतिसूत्रस्यार्वाचीनत्वात् श्रुतेश्चापौरुषेयत्वात्? इति चेत्; श्रुतीनां सर्वज्ञत्वेनादोषात्। विकारार्थस्य श्रौतस्य प्रसिद्धत्वमनुगम्यैव व्याकरणरचनोपपत्तेः। अत एव **"लक्ष्य लक्षणं हि व्याकरणम्।"** व्याकरणं हि शब्दाननुशास्ति; किमर्थं? यथा ते ऋषीणां शब्दार्थसम्बन्धान् न व्यभिचरेयुः। अत एव पाञ्जलेः महाभाष्ये पंशपशाह्निके प्राह भगवान् पतञ्जलिः-अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानां लौकिकांना वैदिकानाञ्च। एवं विकार्थो मयट् शास्वतिकः व्याकरणम् केवलमिमनुशास्ति अर्थान्तरं यथा न व्यभिचरेत्। एवं विकारार्थे मयटं विभाव्य तन्निर्धारणार्थम् पूर्वोत्तरपक्षौ सूत्रयन् सूत्रकार आह-

"विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्" ।।१/१/१४।।

विकारशब्दात् पञ्चाम्येकवचनान्तम्। न इति चेत् न इति अव्ययपदचतुष्टयम्। प्राचुर्यात् पञ्चम्येकवचनान्तम्। शब्द एव शब्दनम्। विकारस्य शब्दः तस्मात् विकारशब्दात्। मयट्प्रत्ययान्तस्य आनन्दमयशब्दस्य विकारार्थसूचनात् नात्र आनन्दमयः परमात्मवाची प्रत्युत जीवात्मवाची एव? इति चेन्नः न इदं न वाच्यम् विकारस्यैव नहि प्रत्युत् प्राचुर्यस्यापि लोकप्रसिद्धेः। यथा- अन्नमयो यज्ञः श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप गीता (४/३३) यद्वा- तत्र विकारशब्दात् नानन्दमयोऽस्मिन्नर्थे न किमपि प्रमाणम् तत्र ब्रह्मानन्दवल्लयां एका प्राचुर्यपरम्परा सा जीवे भवितुं शक्नोति नहि। तथा हि-

तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णास्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः।। स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमजानजानां

देवानामानन्दाः। स एकः देवानां देवानामानन्दः ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दाः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। तै० उ० २/८

एवं तत्र प्राचुर्यतारतम्यनिर्देशात् न विकारार्थकः आनन्दशब्दः। यद्यप्यदि प्राचुर्यमवलोक्य "केचन आनन्दमयोयाऽसादिति" सूत्रे मयट्प्रत्ययं प्राचुर्यार्थे इच्छन्ति। किन्तु नेदं प्राचुर्यं सूत्रस्थं प्रत्ययं प्रत्याययति किन्तु ब्रह्मानन्दवल्लीस्थं व्याचष्टे। विकारे। आनन्दस्य सावधिता भवति निर्विकार एव ब्रह्मणि निरधिरानन्दो भवति, अत एव तं वैष्णवाः परमानन्द इति व्याहरन्ति। स्वयमामनन्ति श्रीधराचार्यचरणाः भागवतगूढार्थदीपिकायां मङ्गलाचरणे-

मूकं करोति वाचालं पङ्ग- लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्।।

अत एव बृहद्ब्रह्मसंहितायां 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिम्' जीवस्यानन्दः अणुत्वात् कामक्रोधादिविकारसम्मितत्वाच्च ससीमको लघीयान् भवति। परमात्मा स्वयमानन्दरूपः। तस्मात् प्राचुर्याद्धेतोः नायमानन्दमयशब्दः विकारं शब्दयति अतएव भागवते-

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदिसर्वगता।
स्तर्हिनशास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यद मतं मत दृष्टतया ।।

भागवत १०-८७-३०

विकार वाचको नात्र ह्यानन्दमय इष्यते।
आनन्दानां तैत्तिरीये प्राचुर्यस्यावलोकनात्।।

ननु तत्र तारतम्य तालिकायां ल्यब्लोपपंचमीभवेत् अत आह-

तद्धेतुव्यपदेशाच्चद्धेतुव्यपदेशात्। अत्रैवोपनिषदि वरुणपुत्रो भृगुः ब्रह्मजिज्ञासितुं पितरमुपससार। तेन तटस्थलक्षणविधया जगज्जन्मादिकारणत्वरुपया "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्येवमादिश्रुत्या" तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व' इति चतुस्तपसे निर्दिष्टः पुत्रः पुनन्ते पूर्वोक्तलक्षणं आनन्दे सङ्गमयामास विनिश्चिकाय च शान्तजिज्ञासश्चाभवत्। इत्यनेन ज्ञायते यदानन्दमेव

परब्रह्म। यतोहि तमेव आनन्दम् भूतानां जन्मस्थिति हेतु भङ्गत्वेन व्यपदिदेश श्रुतिः। तद्यथा-

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

आन्दादेवजातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यन्त्यभिसविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या।। तै० उ० ३/५६

एवं भूतानां जन्मस्थितिहेतुभङ्गत्वम् न क्षोदिष्ठे जीवे संघटते। अत एव आनन्दमयो जगदीश्वरो व्यापको ब्रह्म पुराणपुरुषो भगवान् राम एव- अत एव भागवते

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो।
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।।
यं संपद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा।
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ।।

(भाग० १०-८७-५०)

तस्यानन्दमयस्यैव जगज्जन्मादि हेतुता।
व्यपदिष्टा श्रुतौ भूम्नस्ततोऽयं ब्रह्म राघवः।।श्रीः।।

ननु कथं न जीवे आनन्दमयत्वम् ? निरञ्जनः परमसाम्यमुपैति" इति श्रुतेः? इति शंकां समादधानः आह-

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।।१/१/१६।।

चः हेतौ मन्त्राणां वर्णाःमन्त्रवर्णाः तैः प्रोक्तमिति मान्त्रवर्णिकम्; एव इत्यव्ययम्, च इत्यव्ययम्; गीयते इति लटि प्रथमैकवचनान्तम्। चतुष्पदमिदं सूत्रम्। यतो हि मन्त्रवर्णरुदितमेव अग्रे आनन्दवल्ल्यां गीयते अत्रोक्त आनन्दमयो जगदीश्वरो ब्रह्मैव न तु जीवः। तद्यथा मन्त्रवर्णे-

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।) तै० उ० २/१।

इति मान्त्रवर्णिकमुपकल्प्यैव पुनरभ्यासे तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्याकाशजनकत्वं वर्णयित्वा पुनः अन्नप्राणमनोविज्ञानेभ्यः

आनन्दमस्यैव ज्यायस्त्वं कथयित्वा पुनः स्पष्टमानन्दस्यैव ब्रह्मरूपविज्ञानेन वारुणेर्जिज्ञासाशान्तिः तत्रैव वारुणिविद्यासमाप्तिः। अत एव उपक्रमाभ्याससंहारेषु मान्त्रवर्णिकस्यैव गानात् तस्यैव ब्रह्मणः आनन्दमयत्वं न तु जीवस्य। श्रीः। अत एव भागवते-

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ।।

भा०११-२१-४३

मन्त्राणां वर्णतश्चापि गीयतेऽसावुपक्रमे।
अभ्यासे चोपसंहारे तैत्तिरीये हरिः किल ।।श्री।।

ननु जीवेऽप्यानन्दमयत्वमारोप्यताम् गौणवृत्या भवतु ब्रह्मशब्दोऽपि जीववाचकः? इत्यत आह-

नेतरोऽनुपपत्तेः ।।१/१/१७।।

इत्यव्ययम्, इतरः प्रथमैकवचनान्तम् अनुपपत्तेः पञ्चम्यैकवचनान्तम्, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इतरः ब्रह्मणो भिन्नो जीवः आनन्दमयः न अनुपपत्तेः। न, उपपत्तिः अनुपपत्तिः तस्याः अनुपपत्तेः। ब्रह्म भिन्नो जीव आनन्दमयो न भवितुं शक्नोति। अत्र शास्त्रस्य किमपि वचनं नोपपद्यते। तथा सुखदुःखमोहमयत्वात् न जीवे आनन्दस्य प्रचुरता, किञ्च- जीवशरीरस्य स्वयमेवपाञ्चभौतिकत्वात् आकाशादीनि भूतानि न तस्मात् जनितुं शक्यानि। न वा स्वयमेव जन्ममृत्युजरारोगग्रस्तत्वेन असमर्थेन तेन प्राणिनः पालयितुं शक्याः। न वा समधिकमणुनि क्षोदिष्ठे जीवे क्षित्यादीनां लयः। आनन्दरूपे ब्रह्मणि तु लयः। **"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानिजायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं, प्रपन्त्यभसंविशन्ति"** एवं सर्वाणि शास्त्राणि अत्रैव समुपपद्यन्ते। किञ्च- गौणी वृत्या तत्रापि उपपद्यताम्? नैवम्। अनुपपत्तिरूपहेतुनैव तस्य निराकृतत्वात्-

यथा भागवते वेदस्तुतौ वेदवचनं-

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते;
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।।

भागवत १०-८७-१४

वचांसि नोपपद्यन्ते शास्त्रीयाण्यत्र कानिचित्।
नैवानन्दमयस्तस्मात् जीवो ब्रह्मेतरः किल।।

अन्यामप्युपपत्तिमाह-

भेदव्यपदेशाच्च १/१/१८

भेदस्य व्यपदेशः भेदव्यपदेशः तस्मात् '**भेदव्यपदेशात्**'– पञ्चम्येकवचनान्तम्, 'च'– इति समुच्चयार्थः। पूर्वसूत्रात् न, इतरः– इति पदद्वयम् अनुवर्तते। आनन्दमयोऽभ्यासादित्यतः आनन्दमयः, चकारः पूर्वसूत्रसमुच्चयार्थः। एवमेव भेदव्यपदेशाद्धेतोः आनन्दमयः न इतरः। तत्र तैत्तिरीये ब्रह्मानन्दवल्ल्यां स्पष्टमुक्तं– 'रसो वै सः' 'रस ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० २/७) अत्र रसः प्राप्यः, जीवः प्रापकः। प्राप्यप्रापकयोः भेदः सुतरां स्पष्टः। किञ्च- "कोलिह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाशोऽऽनन्दः न स्यात्" (तै० २/७) 'एष आनन्दयाति' इत्यादावपि आननप्राणक्रिययोः आनन्दाधीनमुक्त्वा स्पष्टमेव जीवब्रह्मणोर्भेउदमुक्तः। किञ्च- '**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**' इत्यत्र एकत्वशब्दः सम्बन्धपरः। ननु मुक्तजीव आनन्दमयो भवितुं शक्नोति? इति चेन्न। '**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**' इतिश्रुत्या जीवस्य ब्रह्मणः भोगमात्रेसाम्यविवक्षितत्वात्। अतएव स्वयं सूत्रयामास भगवान् सूत्रकारः– "जगद्व्यापारवर्जम्प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।" 'तस्मज्जीवब्रह्मणोनित्यभेदव्यावहारान्नैव तस्मिन्न् जीवे आनन्दमयत्वम्

यथोक्तं भागवते उद्धवं प्रति भगवता-

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ, यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्योनिरन्नोऽपि बलेन भूयान्।।

भा०११-११-६,

द्वासुपर्णेत्यादिमन्त्रैरनेकैर्ब्रह्मजीवयोर्भेद उक्तस्ततो जीवो नैवानन्दमयः क्वचित्।। श्रीः।।

अथ स्यान्नाम जीवब्रह्मणोः परस्परं भेदः किन्तु प्रकृतौ आनन्दमयत्वमारोप्यताम्? अत आह-

कामाच्च नानुमानापेक्षा १/१/१९

'**कामात्**' पञ्चम्यैकवचनान्तम्। 'च' अव्ययम्, 'न' अव्ययम्, अनुमानं अपेक्षते इति "अनुमानापेक्षा" प्रथमैकवचनान्तम्। प्रकृतिरनुमानमपेक्षते। कार्यदर्शनेन

कारणानुमानात्। मलिनजलदर्शनेन वर्षानुमानमिव। महदादिकार्यदर्शनेन प्रकृतिरनुमीयते। तथाह्यत्र सांख्यकारिकायाम्–

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तुदुपलब्धेः।
महदादितच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च।।८।।

एवमनुप्रेक्ष्येयज्जडा, तथाहि-

त्रिगुणभविवेकि विषयः समान्यमचेतनम्प्रसविधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुनान्।।

(११ सां० का०)

एवं कामाद्धेतोः सा प्रकृतिरपि नानन्दमयत्ववती; कामापरपर्यायाः ईक्षायाः प्रकृतावसम्भवात्। तथाहि– तैतिरीये ब्रह्मनन्दवल्ल्यां- **"सोऽकामयत बहु स्यां प्राजायेय"** (तै २/६) सकामात्मकः संकल्पः चेतनस्य धर्मो नत्वचेतनस्य। तस्मात्तदानुमानिकं प्रधानम्– नैवानन्दमयतात्पर्यभाक्। अतएव भागवते–

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।

(भागवत-३-२६-४)

आनुमानिकमप्यत्र नानन्दमयतामियात् ।
कामाख्यायास्तथेच्छायाः व्यपदेशश्च तत्र हि।।श्रीः।।

ननु भवतु नाम आनुमानिकं न तात्पर्यभाक्, किन्तु जीवस्तु तपः– प्रभावात् लब्धसिद्धिः विश्वामित्रादिवत् कामवान् भूत्वा जगत्स्रष्टा आनन्दमयो भवितुमर्हति? इत्यत आह–

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।। १/१/२०

'अस्मिन्' सप्तम्येकवचनान्तम्; "अस्य;" षष्ठ्येकवचनान्तम्; च 'अव्ययम्,' तेन योगः तद्योगः तं तद्योगं 'द्वितीयैकवचनान्तम्' शास्ति इति लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्ततिङ्न्तम्। अत्र सप्तमीप्रकृतिकेन इदं शब्देन ब्रह्म ङसन्तेन च द्वितीयेन इदमा जीवः परामृश्यते। अतिसन्निकर्षादुभयत्र इदं शब्दनिर्देशः। अस्मिन्न तिसंनिकृष्टे परमब्रह्मणि अस्य जीवस्य भगवत्प्रपन्नस्य तेन आनन्देन श्रुतिर्योगं शास्ति। यथा **"रसौ वै सः" "रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** रसं प्राप्य जीवः आनन्दीभवति। आनन्देन युक्तो भवति। अत्र नित्ययोगे मत्वर्थीय इनि। तथाहि भाष्यवार्तिकम्-

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।।

एवं स्वस्मिन् स्वस्य स्वेन योगो न श्लिष्यते। तस्मात् निरस्तसकलहेयगुणको निरवधिकानन्दमयः परब्रह्मास्वरूपो भगवान् श्रीराम एव!

यथोक्तं भागवते गोपीभिः-

जयतितेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शाश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।।

(भागवत १०-३१-१)

आनन्दकन्दमानन्दसिन्धुमानन्दविग्रहम्।
श्रीरामं राघवंनौमि वसिष्ठानन्दवर्धनम् ।।श्रीः।।
एतत् षष्ठाधिकरणं आनन्दमयताभिधम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं विदुषां मुदे।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

अथ अन्तरधिकरणम्

योऽन्तश्चरति भूतानां योऽन्तश्चक्षुषि तिष्ठति।
योऽन्तः सूर्ये परब्रह्म स रामो मे प्रसीदतु।।

इतः पूर्वेषु षट्सु अधिकरणेषु द्विविधप्रमाणोपपत्तिभिः ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं जगज्जन्मादिकरणत्वम् प्रकृतीशत्वमानन्दमयत्वञ्च प्रतिपादितम्। साम्प्रतं सूर्ये नेत्रे च दृश्यमानः कस्तावद् ईशितव्य ईश्वरो वा, देवा अपि जीवविशेषा जन्मजन्मान्तरसमर्जितविपुलपुण्यपूगपरिणामेन सूर्ये चन्द्रमण्डले च स्थातुं शक्ता। यथा **"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। योगिनो योगयुक्ताश्च सम्मुखेऽभिहता रणे।।"** इति महाभारते। एवं- 'तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते' गीता ८/२५) अतएव सूर्येऽन्तः नेत्रान्तश्च विराजमानो जीवविशेषो ब्रह्म वेति संशयः। तथा हि मन्त्राः-

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। हिरण्यश्मक्षुर्हिरण्यकेश आप्रणखा सर्व एव सुवर्णः।

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नामा स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितउदेति ह वैसर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एवं वेद। (छा० ६/६/६७)

अथ य एषोऽन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्ताम तदुक्थं तद्यजुः तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम। छा० १/७/५

एतदर्थः- आदित्ये सूर्ये अन्तः तन्मण्डलमध्ये हिरण्यमयः हिरण्मयं पीताम्बरं यस्मिन् तथाभूतः एवं हिरण्यमिव तेजोभिर्दीप्तं श्मश्रुयस्य स हिरण्यक्षश्रुः तथैव हिरण्यमिव जाज्वल्यमानाश्चमत्कुर्वन्तः केशाः यस्य स हिरण्यकेशः। एवं- प्रणख नखाग्रं अभिव्याप्य इति आप्रणखं तस्मात्। नखाग्रमारभ्य सर्वाङ्ग एव सुवर्णः सर्वाङ्गसुन्दरः एवं भूतो यः पुरुषः सूर्यमण्डले दृश्यते। तस्य अन्तः सूर्यं स्थितस्य कप्यासं पुण्डरीकं यथा अक्षिणी, कं जलं पिबतीति कपिः तेन अस्यति विकसतीति कप्यासं पुण्डरीकं कमलमेवाक्षिणी नेत्रे। यद्वा- कं ब्रह्मैव श्रीरामनामरूपं पिबतीति कपिः हनुमान् वानरः तेन अस्यातः सीतासमाचारेण विकसतः इति कप्यासे पुण्डरीके कमले छान्दसत्वादौङः सुस् तस्यामादेशः एवं भूतं यद्रूपं तर्हि तस्य नाम्नापि भवितव्यम्। इत्यत आह- तस्य उदित नाम; कथं ? अतो नाम निर्वक्ति- यतोहि उदेतीति उदितिः सः पुरुषः परमात्मा सर्वेभ्यः पापमभ्यः पापकर्मभ्यः पापकर्तृभ्यश्च उदितः उपरिगतः स्वेच्छादेहग्रहीतत्वात पापानि न स्पृशन्ति य एवं जानाति सोऽपि पापमभ्यः उदेति।

एवं अपरस्मिन् मन्त्रेऽपि। अत्र पूर्वोक्तगुणविशिष्टः पुरुषः जीवोब्रह्म वा इति संदेहः। पापमभ्यः ननु सूर्यमण्डलस्थपुरुषः जीव एव, सच सविता देवता। इत्यत आह-

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् १/१/२१

आनन्दमयोऽभ्यासात् (१/१/१२) इत्यतः आनन्दमयः इत्यनुवर्तते, अन्तः शब्दोऽत्र आदित्येऽन्ते, अक्षिणि अन्तः इति औनिषदप्रकरणमनुसंजयति। वाक्याकारश्च- आदित्ये अक्षिणी अन्तः आनन्दमयः पुरुषः तद्धर्मोपदेशात्। आदित्ये सूर्ये नेत्रे च दृश्यमानः पुरुषः आनन्दमयः परमात्मा न तु जीवः। ननु ब्रह्मणो रूपरहितत्वान्नैवोपपद्यते, व्याख्यानमेतत् तथाहि- "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्। तथारसं नित्यगन्धवच्च यत्।।" १/३/१४

"एवं नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।" (माडूक्म ७)

"एवम् अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।" कठ० १/२/२२

इति चेन्मैवं भाषीष्ठाः! अनभिज्ञस्त्वं सोदाहृतश्रुत्यर्थानाम् व्याख्यातचरोऽपि विषय एषः युष्मादृशैरनधीत श्रुतिपारम्पर्यकैरनासेवित सद्गुरुपदपद्मपरागमकरन्दैः क्वचिदप्यकृतश्रीमत्साकेतवेतनसकलसद्गुणश्रीनिकेतनसच्चिदानन्दघन-परमचेतनशाश्वतसनातनपुरुषपुरातननिन्दितराकादोषातननूतनशशाङ्ककान्तिस्मित-श्रीमद्रामचन्द्रमुखचन्द्रध्यानैः कुनोद्यं प्रणोद्यमानेन मया पुनरपि व्याख्यायते। त्वदुद्धृताः श्रुतयः ब्रह्मणः प्राकृतरूपं प्रतिषेधन्ति। एवं अशब्दमस्पर्शमित्यादौ न विद्यन्ते प्राकृताः शब्दादयः यस्य तत् इत्यर्थकव्याख्यानम्। अत्र नञो धातुजस्यवाच्यो वा उत्तरपदलोपश्च। एवं **"अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्।।"** इत्यादिमन्त्रैरपि भगवतः प्राकृतपाणिपादादीनि निषिध्यन्ते। अतएव– सर्वरूपः सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वकामः सत्यसङ्कल्पः- इत्यादिवचनानि संगच्छन्ते। किञ्च- **"आकाशशरीरं ब्रह्म यदा पश्यः पश्यते रुपक्मवर्णम्"**- इत्यातिश्रुतिवचनानि ब्रह्मणो रूपं प्रकामं साधयन्ति। यत्तु– केचन ब्रह्मणो निराकारतां साधयन्ति! तत्सर्वथैवानर्गलम्, क्वापि ब्रह्मणो निराकारताया नोपलब्धेः। अपितु सर्वत्रैव सगुणसाकारस्यैव वर्णनोपलब्धेः। यत्तु- रामकृष्णादीनामवताराणां कथा नौपनिषदी पौराणिकी, हि सा। अतो नायमवसरोऽत्र तद्विचाराय यद्यस्मादुदेति तत्रैव तद्वर्धते फलति च। कमलानि जल एव वर्धन्ते न स्थले। चणकादयः स्थल एव वर्धन्ते, ते न जले। पुराणेभ्यो लब्धजन्मानोवतारकथास्तत्रैव विचारणीया इति। तत्त्वनधीतोपनिषदवाङ्मयानां भषणमात्रम्। श्रीरामकथा श्रीरामतापनीयोपनिषदि विलालस्यते, श्रीकृष्णकथा च गोपालतापनीयोपनिषदि। ननु रामतापनीयोपनिषदादीनां आर्वाचीनत्वम् आधुनिकत्वञ्च। अतएव पूर्वाचार्यैः न व्याख्याताः ताः? इति चेन्नः शङ्कराचार्येणापि स्वव्याख्यातिरिक्तायाः कौषीतक्योपनिषदः ब्रह्मसूत्रे प्रतर्दनाधिकरणे; जाबालोपनिषदः अपशूद्राधिकरणे, श्वेताश्वतरोपनिषदः ईशावास्योपनिषदभाष्ये च समुदाहृतत्वदर्शनात्। किञ्च- यदि दशोपनिषद एव प्रमाणभूतास्तर्हि सूत्रकृता इतरोपनिषत्सु विद्यमानानां प्रतर्दनाधिकरणानां कथं मीमांसा व्यधायि? अहो श्रीरामतापन्योपनिषदः त्रिशताब्दीतो पूर्वं समुपलब्धेऽपि हरिदासेकृते विद्वन्मनोरमे भाष्ये तदन्तरवर्णिताया श्रीरामकथायाः अनौपनिषदीत्वं कथयता नितरामसता त्वया महदघं समर्जितम्। किञ्च- श्रीमद्भागवतस्य सुप्रसिद्धश्रीधरीटीकां व्याचक्षाणैः श्रीमद्वंशीधरशर्माभिः

पण्डितप्रकाण्डैः नवमस्कन्धके श्रीरामावतार प्रघट्टके- **"तस्यापि भगवानेष भागवत"** ९/१०/२ इति- श्लोकस्य व्याख्यावसरे इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते" इति रामतायनीयोपनिषद उदाहरणं श्रुतित्वेनैव दत्तम्। तर्हि दशोपनिषदां कथं व्याख्यातमिति चेत्? स्वसिद्धान्त–प्रतिपादनलक्ष्यैकचक्षुषः ईशादिदशोपनिषत्सु एव स्वविवक्षित सिद्धान्तबीजभूयस्त्वात्। अहो पुराणानां वेदविरुद्धत्वेनाप्रामाण्यमङ्गीकुर्वता पण्डितापसदेन स नास्तिक्यवादं सनातनधर्मनिन्दनमपि प्रारब्धम्। किञ्च- श्रीरामकृष्णकथा न पुराणेभ्यो लब्धजन्मानः प्रत्युत् वेद एव अपौरुषेये, प्रकटितपरमपावनपरिस्कारः विचकासति। किञ्च- पुराणाप्रमाण्यं भणितवता त्वया स्वमाल्पश्रुतत्वेन योजयता आत्मैव घोररौरवाय समामन्त्रितः। यत्तु– अन्तः शब्देन अन्तकरणं निवासस्थानं व्याख्यायते, तदप्यसंगतम्। इतः पूर्वैः समस्तैरप्याचार्यैः सूर्यमण्डस्थदेवतायाः अक्षिस्थदेवतायाः प्रसङ्गस्य व्याख्यातत्वात्। किञ्चः- अन्तः शब्दो नैव मनोऽर्थमभिधत्ते अव्ययत्वात्। अव्ययस्य च पाणिनितन्त्रे असत्वभूतत्वात् निपातत्वम् **"चादयोऽसत्वे"** (पा० अ० १/४/५७) "लिङ्गसंख्यान्वितत्वं" सत्यत्वम् इति तत्र सम्प्रदायसमयः। किञ्च- शक्तिग्रहमीमांसायां सत्स्वष्टसु प्रमाणेषु कतममपि नात्र नासाह्मं भजते, अन्तः शब्दस्याधिकरणवाचकाव्ययत्वात्; उच्चैः नीचैः **"इत्यादिवत् 'स्वान्तं हृन्मानसंमनः "**-इति कोशेऽपि अवर्णान्तः स्वान्तशब्दो मनोपर्यायः, तस्मात यथोक्तं साधु। यः सूर्येऽन्तः पुरुषो दृश्यते यश्च नेत्रे स परमात्मैव नान्यः। कथं? तद्धर्मोपदेशात्, तत् पदेन परमात्मा परामृश्यते तस्य परमात्मनः धर्माः तद्धर्माः तेषामुपदेशः तद्धर्मोपदेशः तस्मात् तद्धर्मोपदेशात्। के ते परमात्मधर्माः? 'सर्वाङ्गसुवर्णत्वम्, पापेभ्यो, निष्क्रान्तत्वम्, अपहतपापमत्वम्' इत्यादयः। जीवोऽयं कर्मपरतन्त्रः परमात्मा च स्वतन्त्रः। तस्मात् सर्वेभ्यः पापमभ्य उदितः अनादिकालात् पाप्मानर्मातक्रम्य उपरिगतः पापमानि संपस्पृशुरेव नहि। अतएव श्रुतिः– "शुद्धमपापविद्धमिति" (ईशा० ८) पाप्मभ्य उदित्वादेव अर्जुनमाश्वासयन्नाह गीतायाम् **"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षंयिष्यामि मा शुच"** गीता १८/६६/

अतएव, अक्ष्यन्तस्थं पुरुषं ब्रह्मैव मत्वा भगवती सीता श्रीरामसम्बन्धे पृष्टासती नेत्र संकेतेनैव स्वपतिं परिचाययामास–

खञ्जन मञ्जु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिनहि सिय सयननि ।।(मानस २/११७/७)

रुपान्तरम्–

श्री सीता खञ्जनाभेन वक्रेण लोचनेन च।
संकेतात् कथयामास राघवं स्वपतिं सखीः।।

अतएव पुराणविदः पठन्ति–

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती, नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः?
केयूरवान् मकरकुण्डलवान्किरीटी हारीहिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः।।

अतः सनत्कुमारसंहितायां नारदस्तुष्टाव-

सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामसीतासमन्वितम्।
नमामि पुण्डरीकाक्षं ममेयं गुरुतः परम्।।

अनेन श्लोकेन एषोऽन्तरादित्ये इति सम्पूर्णो मन्त्रो व्याख्यातः। हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेशत्वादि पीतिमधुरसौन्दर्यं श्रीसीताशरीरपीतिम्नैव सम्पन्नं संगच्छते।

यथोक्तंभागवते पञ्चमे- "इत्थं धृतभगवद्व्रत- ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदुहोवाच।

परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः।।

भागवत ५-७-१३,१४

परमेश्वरधर्माणामुपदेशादनेकशः ।
रविनेत्रस्थ पुरुषो ब्रह्म जीवो न कर्हिचित्।। श्रीः।।

ननु बालखिल्यादय इव जीवोऽपि सूर्यमण्ड़ले स्थापयितुं शक्नोति। महातपो तेजसा च तस्य सर्वहिरण्यमयत्वं संगच्छते। जीवोऽपि पापमभ्य उदेतुं शक्नोति। तथा हि गीतायाम्-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लेनेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।। गीता ४/३६

इत्यत आह-

"भेदव्ययपदेशाच्चान्यः" १/१/२२

भेदस्य व्यपदेशः भेदव्यपदेशः तस्मात् "भेदव्यपदेशात्"। पञ्चम्येकवचनान्तम्। 'च' अव्ययम्, 'अन्यः' प्रथमैकवचनान्तम्, त्रिपदमिदं सूत्रम्। अस्मिन्नेव प्रकरणे जीवब्रह्मणोः स्पष्टं भेदव्यपदेशो वर्तते। यथा–एषः

आदित्ये अन्तः पुरुषः एवं अक्षिणि अन्तः पुरुषः अत्राधराधेययोः भेदस्य सुस्पष्टत्वात् आधारभूतादित्यात् अन्यः विलक्षणोऽम्ः अक्षणश्च विलक्षणः आनन्दमयः परमात्मा। किञ्च- अन्तर्यामिबृहदारण्यके एतस्य देवस्य आदित्यचक्षुभ्यो सुस्पष्टं वैलक्षण्यमुक्तम्। **"य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद। यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"** (बृहदारण्यक ३/७/९)

एव- **"यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद। यस्य चक्षुश्शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।।"** इ० ३/७/१८

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद। यस्य विज्ञानं शरीरम्। यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।।(बृहदारण्य ३/२२)

इत्थं- जीवब्रह्मणोर्देवतापरदेवतयोश्च स्पष्टं भेदस्य व्यपदिष्टत्वात् जीवात्मतः आदित्यतश्च विलक्षणः परब्रह्म श्रीरामः सूर्येऽक्षिणि च तिष्ठति।

अतएव भागवते मुचुकुन्दः-

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित्।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश।।

भागवत १०-५१-५८

भेदस्य व्यपदेशाच्च प्रकर्णे ब्रह्मजीवयोः।
सूर्यलोचनयोर्नान्यः परमात्मविलक्षणः।। श्रीः।।

(सप्तमन्ञ्चाधिकरणं यथाशास्त्रं प्रभाषितम्। श्रीरामभद्राचार्येण वैष्णवानन्द हेतवे।।)

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

अथाकाशाधिकरणम्-

अथ छान्दोग्योपनिषदि लोकगतिविषयिणी श्रुत्या एका जिज्ञासा उपस्थाप्यते, अस्य संसारस्य का गतिः। गम्यते इति गतिः। संसारोयं क्वगच्छति ? इतियः प्रश्नाशयः। अनन्तरं प्रबाहणं प्राह- आकाशः। लोके आकाशशब्दः द्वयोरर्थयोः श्रूयते। ब्रह्मणि भूताकाशे च। तत्रायं सदेहः यतः अस्मिन् प्रकरणे आकाश शब्दः कमर्थमभिधत्ते नभोऽर्थं परमात्मार्थं वा? तत्र भूताकाशमेव इति पूर्वपक्षः। लोके आकाशशब्दस्य गगनार्थ एव प्रसिद्धत्वात् रुढित्वाच्च नभोऽर्थे तस्य। इत्यत आह-

आकाशस्तल्लिङ्गात् १/१/२३

'आकाशः' प्रथमैकवचनान्तम्, 'तल्लिङ्गात्' पंचम्येकवचनान्तम्, द्विपदमिदं सूत्रम्। आनन्दमयः इत्युनुवर्तते, यद्वा– ब्रह्म इत्यनुवर्तते। अस्मिन् प्रकरणे प्रोक्तः आकाशशब्दः ब्रह्मैव तात्पर्येण गृहणाति न तु भूताकाशम् कथम्? तल्लिङ्गात्। अत्र हेतौ पंचमी। तस्य लिङ्ग तल्लिङ्ग तस्मात् तल्लिङ्गात्, यतो हि तस्य ब्रह्मण एव अनेक धर्माणां अत्र प्रामाण्यं लिङ्गरूपं वर्तते। तथा हि छान्दोग्य– श्रुतिः-

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच, सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्योज्यायानाकाशः परायणम् (१/९/१)

अत्र ब्रह्मणश्चत्वारो धर्माः। सर्वाणि भूतानि आकाशात् समुत्पद्यन्ते इति प्रथमः। सर्वभूतोत्पत्तिः भूताकाशात् न सम्भवा। तस्यापि पञ्चभूतेष्वन्यतमत्वात्। तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मनः आकाश सम्भूत इत्याकाशस्यापि ब्रह्मसम्भववत्वात्। पुनः आकाशमेव प्रत्यस्तं यान्ति भूताकाशस्य स्वस्मिन् प्रलयासम्भवः आकाश एवैभ्यो ज्यायान् इति भूताकाशे स्वस्मात् स्व ज्यायस्त्वं न घटते। तस्मादितोऽन्ये भवितव्यम् ज्यायसा। स च भगवानेव पुनश्च परायणमिति– परंच तत् अयनमिति परायणम्। परायणं तु निरस्तनिखिलदोषहेयगुणसमस्तशंकापङ्ककलङ्के वदनसान्द्रसौन्दर्यसुषमाविजितमञ्जुमयूखराकामृगाङ्के करतलधृतशरचापे कोटिकोटिचण्डदीधितिप्रतापे सीताभिरामे श्रीरामे नैव भूताकाशे। आसमन्तात् काशते प्रकाशते इत्याकाशः कं ब्रह्म ३९ ख ब्रह्म इति श्रुतेश्च ।।श्रीः।।

यथोक्तं भागवते दशमे श्रीशुकाचार्येण-

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि
भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ।।भागवत १०-३०-४

ब्रह्मणस्तस्य धर्माणां चतुर्णामिह संस्थितेः।
आकाशः सच्चिदाकाशः आनन्दमय ईश्वरः।।
अष्टमञ्चाधिकरणं मयाविवृतमञ्जषा।
श्रीरामभद्राचार्येण भाष्ये श्रीराघवाभिधे।।

।। अथ प्राणाधिकरणम् ।।

छान्दोग्ये उद्गीथिविद्यायां प्राणशब्दस्य ब्रह्मलिङ्गतया चर्चा श्रूयते यथा- "अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति।

प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ततां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यतथोक्तस्य मयेति।। "छान्दोग्य १/११/४५

अस्यां श्रुतौ पूर्ववदेव प्राणस्यापि ब्रह्मलिङ्गानि श्रूयन्ते। यथा ह निश्चयेन सर्वाणि भूतानि प्राणमभिसंविशन्ति पुनश्च प्राणादुज्जिहते प्रादुर्भवन्ति। अत्र स्थितेरप्युपलक्षणं, उज्जिहते इतिशब्दः। एवं जगज्जन्मादिकारणत्वरूपब्रह्मलिङ्गं प्राण एव श्रुत्या प्रतिपादितम्, तस्मात् अत्रत्यः प्राणशब्दो ब्रह्मपरः न तु मुख्यप्राणवाय्वर्थकः। इममर्थं विस्पष्टयितुमाह-

"अत एव प्राण" ।।१-१-२४।।

अतः एव प्राणः इति पदच्छेदः, अंतः पञ्चमीप्रतिरूपकमव्ययं, **'एव'** अव्ययं, **'प्राणः'** प्रथमैकवचनान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। द्वितीयसूत्रात ब्रह्म इत्युनुवर्तते। अतः इति एतच्छब्दात् पञ्चम्यास्तसिलं सार्वविभक्तिकस्तसि वा हेतौ पञ्चमी। एतस्मात् पूर्वसूत्रवर्णितात् ब्रह्मलिङ्गजगज्जन्मादिकारणत्वरूपहेतो रेव प्राणः छान्दोग्ये वर्णितः ब्रह्म। न तु मुख्यप्राणवायुः। **"चक्षुषश्चक्षुः स उ प्राणस्य प्राणः"** (केन उ० १-२,) अतएव श्रीमानसे महर्षिवसिष्ठः-

(प्राण प्राण के जीवके जीवन सुख के सुख राम।)

तुम विनु तात सोहात गृह जिन्हहिं तिन्हहिं विधि वाम।।

(मानस २-२९०)

रुपान्तरम्-

प्राणस्य प्राणस्त्वमथासि राम।जीवस्य जीवोऽसि सुखं सुखस्य।।
त्वां वै विना रोचत एव सद्म। यस्मै विधिस्तत्प्रतिकूल एव।।

अतएव योगेश्वरो भागवते निमिं प्रति-

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य,
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र।।

भागवत ११-३-३५

उद्भवस्थिति भङ्गानां लिङ्गानां ब्रह्मणः किल।
इहत्यो दर्शनात् प्राणो न सामान्यः स ईश्वरः ।।श्रीः।।
''नवमं चाधिकरणं प्राणाख्यं भाषितं मया।
श्रीरामभद्राचार्येण भाष्येऽस्मिन् प्रीतये हरेः।।

श्रीराघवः शंतनोतु।।

।।अथ ज्योतिश्चरणाधिकरणम्।।

''ज्योतिश्चरणाभिधानात्'' १-१-२५

ज्योतिः प्रथमैकवचनान्तं, अभिधानं सङ्कतेनं, चरणानां पादानां अभिधानं सङ्कीर्तनं इति चरणाभिधानं, तस्मात् 'चरणाभिधानात्,'- पंचम्येकवचनान्तं द्विपदमिदंसूत्रम्। प्रथमसूत्रात् ब्रह्म इत्यनुवर्तते, चरणभिधानात् इति हेतोः पञ्चमी चरणशब्दोऽत्र मन्त्रपादपरो नास्ति, प्रत्युत् ब्रह्मपादपरः।

'चरणाभिधानात् हेतोः ज्योतिः ब्रह्म' इति सूत्राकारः। तथा हि छान्दोग्ये त्रयोदशेखण्डे भगवती श्रुतिः-

"अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।। छा० उ० ३-१३-७

अत्र ज्योतिः शब्दः कस्मिन्नर्थे? ज्योतिस् शब्दो हि सामान्यतः प्रकाशे श्रूयते। पूर्वप्रकरणेष्विव नास्ति ब्रह्मणो लिङ्गं? इति पूर्व पक्षमुत्तरयन्नाह, भवतु नाम पूर्ववन्नास्ति ब्रह्मलिङ्गं परन्तु चरणाभिधानात् ज्योतिः ब्रह्म। इतः पूर्वस्मिन् खण्डे ब्रह्मणः पादानां परिकल्पनावर्तते। यथा-

"तावानस्य महिमा ततोज्यायाँ, श्च पूरूषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ।।छा० उ० ३-१२-६

इयं पादपरिकल्पना सामान्य ज्योतिषि न संगंस्यते। अतः अत्रत्यज्योतिश् शब्दः ब्रह्मपरः। अतो ''ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारं'' भागवत् १०-३-२४ अतएव भागवते कृष्णावतारकाले देवकी-

रूपं यत्ततप्राहुरव्यक्तमाद्यं,
ब्रह्म ज्योतिर्निगुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
सत्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ।।

भागवत १०-३-२४

ब्रह्मणश्चैव पादानां कल्पनालोकनात् किल।
ज्योतिषशब्दोऽत्रसम्भूते ब्रह्मज्योतिः खरद्विषम।।

ननु तत्रत्यं चरणाभिधानं गायत्र्या न तु ब्रह्मणः। अतस्तेन हेतुना ज्योतिश्शब्दः ब्रह्मपरकत्वेन न साधयितुं शक्यते। इमां शङ्कां स्वयमुतथ्याप्य परिहरति-

''छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथाहिदर्शनम्।।१-१-२६

छन्दसः अभिधानं, छन्दोऽभिधानं, तस्मात् छन्दोऽभिधानात् पञ्चम्येकवचनान्तम्। ''न, इति, चेत्, न, तथा,'' इति पञ्चापि पदानि अव्ययानि। निगदनं निगदः पचादित्वादच्। चेतसः अर्पणं चेतोऽर्पणम् चेतोऽर्पणस्य निगदः चेतोऽर्पणनिगदः तस्मात् 'चेतोऽर्पणनिगदात्' पञ्चम्येकवचनान्तम्। तथा, 'हि', अव्यये, 'दर्शनं' प्रथमैकवचनान्तं दशपदमिदं सूत्रम्।

तत्र ''गायत्री वा इदं सर्वम् ।।छा० उ० ३-१२-१

इत्युपक्रम्य, अनन्तरं तस्य सेयं गायत्रीत्यादिना पादकल्पना कृता। तत्र छन्दसः पादानामभिधानात् चरणाभिधानं न ज्योतिषि ब्रह्मत्वप्रतिपादनकारणम्। इति चेन्न! इत्थं न वक्तुं शक्यते तथा तेन प्रकारेण ब्रह्मत्वेनैव तत्र चेतसोऽर्पणस्य कथनं वर्तते। तथैव तत्र दर्शनं श्रुतिशब्दश्रवणमपि। यतो हि गायत्रीशब्दः गानमात्रविषयत्वात् न हि त्रातुं समर्थः। तस्मात् गायत्रीशब्दोऽत्र ब्रह्मवाचकः। स्त्रीत्वमुद्भूतवात्सल्याभिप्रायेण। तथा च श्रुतिः-

''गायत्री वा इद ँ्सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इद सर्वं भूतं, गायति च त्रायते च ।।छा० उ० ३-१२-१ यथा स्मरति गायत्र्यक्षरच्छलेन परमेश्वरं भागवते श्री सूतः-

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा,
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।

वागीद्राय तदात्मनाथ भगवद्रातताय कारुण्यत
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।।
छन्दोऽभिधानात्मक हेतुना च न ब्रह्मज्योतिर्निहि शङ्कनीयम्।
चेतोऽर्पणोक्तेश्च तथावलोकाद्गायत्रिनाम्ना भगवान्स्मृतोऽयं ।।श्रीः।।

अन्यश्चापि सद्धेतुर्दीयते-

"भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।।१-१-२७

अत्र चत्वारोऽपि पादाः भूतपृथिवी शरीरहृदयैर्निर्दिष्टाः सन्ति। इमानि गायत्र्यां न घटन्ते। तस्मात् श्रुतिरप्याह- "सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्"।।छा० उ० ३-१२-५ तत्र तस्य ब्रह्मणः पृथ्वीरूपे पादे सम्पूर्णभूतानि एवं भूतादयश्च ते पादाः भूतादिपादाः तेषां व्यपदेशः भूतादिपादव्यपदेशः तस्य उपपत्तिः भूतादिपादव्यपदेशोपपत्रेः। यद्वा - पादेषु व्यपदेशः पादव्यपदेशः, भूतादीनां पादव्यपदेशः भूतादिपादव्यपदेशः शेषं पूर्ववत्।

यद्वा - भूतादिषु पादव्यपदेशः भूतादिपादव्यपदेशः शेषं पूर्ववत्। गायत्र्यां पादेषु भूतादीनां व्यपदेशो न संभवः, न वा भूतादिषु पादव्यपदेशोपपत्तिः। स च ब्रह्मण्येवोपपद्यते। अतः एव इह ज्योतिशब्देन ब्रह्मैव निर्देष्टव्यम् भागवते गायत्रीं हिरण्यगर्भसमुद्भवां प्रवोचद्भगवानशुक्राचार्यः-

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचौ विभोः।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतो ऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः।।
शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः।।

(भागवत ४५-४८)

भूतानि पृथ्वी हृदयं शरीरं पादाविभूम्नो व्यपदेशिता ये।
तेनोपपद्यत ऋते परेशाज्ज्योतिस्ततो ब्रह्म पदप्रकरणे।।श्रीः।।

ननु अत्रोपदेशयोः अन्तरं द्वादशे षष्ठे "त्रिपादस्यामृतंदिवि" इति दिवि सप्तम्यन्तप्रयोगः। अपरत्र च दिवः इति पञ्चम्यन्तप्रयोगः। एवमधिकरणापादानयोः वैलक्षण्यात् द्वयोरुपदेशवैषम्ये ज्योतिष् शब्दस्य न ब्रह्मत्वं इत्यत आह–

"उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।१-१-२८।।

उपदेशे भेदः उपदेशभेदः तस्मात् उपदेशभेदात् अत्रापि हेतौः पञ्चमी। यतो

हि द्वयोरुपदेशे विभक्तिकृतभेदः तस्माद्धेतोः "त्रिपादस्यामृतं दिवि"।।छा० उ० ३-१२-६, इत्यस्य "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः "इत्यनेन नैवैकवाक्यता। ततस्तन्न ब्रह्म इति पूर्वपक्षः। यदि चेदित्थं ब्रूषे इत्याक्षेपः। इति चेन्नः, उभयस्मिन्नपि उपदेशभेदेऽपि अविरोधात्। योहि अधिकरणरूपोऽर्थः दिवीति सप्तम्या घोत्यते, स एवार्थः दिवः परः, इति पञ्चम्योत्तर पर इति शब्देन। **"यथा वृक्षे कोकिला," तथैव "वृक्षादग्रतः कोकिलः"** इत्युभयत्र समानता।। ततो ज्योतिर्ब्रह्मैव, न ज्ञानं, न वा प्रकाशः, अतएव गीतायां- "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।।गीता १३-१७

यथोक्तं भागवते-

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु।।

भागवत।। २/६/१९

दिवः परश्चेति दिवीति चैव, भात्यत्र यद्यप्युपदेशभेदः।
तथापि नैवोभयतो विरोधो द्वयोरथैक्यादभिधेययोश्च ।।श्रीः।।

(दशमंचैवाधिकरणं ज्योतिश्चरणनामकम्। श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं भक्तये हरेः।।)

।।श्रीराघवः शंतनोतु।।

।।अथ प्राणानुगमाधिकरणम्।।

उपनिषदां ब्रह्मस्थलविचारार्थं प्रवर्तितं नाम शारीरकशास्त्रम्। शारीरकशब्द एव विप्रतिपद्यन्ते विपश्चितः। वस्तुतस्तु शारीरो जीवात्मा तस्मैकं आत्मानात्मपरमात्मयाथार्थ्यज्ञानेन सुखं यस्मात् तत् शारीरकम्।

वस्तुतस्तु शारीरकशब्दोऽत्र शङ्कराचार्यानुरोधतः। मुख्यं नाम 'भिक्षुसूत्रं' 'ब्रह्मसूत्रं' च। भिक्षूणां तुरीयाश्रमिणां दिनचर्याप्रतिपादकं सूत्रम्, यद्वा - भगवत्कृपाभिक्षूणां प्रपन्नानां प्रपीत्सूनां चानुशासनसूत्रं भिक्षुसूत्रम्।

एवं कौषीतकीब्राह्मणे श्रूयते आख्यायिका- महाराजः - प्रतर्दनः पौरुषेण बाह्यान् तपसा च आन्तरान् शत्रून् विजित्य इन्द्रस्य धाम जगाम। तत्रेन्द्रः प्रसन्नो वरेण तं छन्दयामास। तत्रेन्द्रेणवाक्येषु कदाचित् स्वस्य, कदाचित् प्राणस्य कदाचित् ब्रह्मणश्च स्तुतिर्विहिता तत्र सन्देहो भवति। यत् प्राणपदं कस्मिन्नर्थे तात्पर्यग्राहकम्। प्रज्ञार्थे यद्वा मुख्यप्राणार्थे, अथवा ब्रह्मार्थे। तथा

हि तत्रत्या श्रुतिः- **"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च"**- इत्युपक्रम्य, स होवाचा प्राणोऽस्मिप्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व'- इति। अनन्तरमपि **"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति"** ।।कौ० ३-१-२-३

उपसंहारे च "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः।।कौ० ३-८ इत्यादि।। इह उपक्रमे प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा इति प्रज्ञालिङ्गम्। पुनश्चाभ्यासे **"शरीरं परिगृह्योत्थापयति"** इत्यनेन प्राणलिङ्गम्। उपसंहारे च **"आनन्दः अजरः अमृतः** "इतिब्रह्मलिङ्गम्। अस्यां विप्रतिपत्तौ अत्रत्य प्राणशब्दः किमर्थः। इत्यत आह सूत्रकारः-

"प्राणस्तथानुगमात्" ।।१-१-२९

"प्राणः" प्रथमैकवचनान्तं, 'तथा,' **'अव्ययं;** 'अनुगमात्'– पञ्चम्यैकवचनान्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्। तथा हि– तत्र "प्रकारवचने थाल् (५/३/२३) इति थाल्–प्रत्ययः। प्रथमसूत्रात् ब्रह्म इत्यनुवर्तते। तच्छब्दश्च पूर्वोक्तानि आकाश प्राणज्योतिश्चरणाधिकरणानि परामृशति। तेन प्रकारेण पूर्वोक्तप्रकरणत्रयस्य अनुगमात् अत्रापि ब्रह्मलिङ्गसद्भावात्। प्राणः कौषीतकीब्राह्मणे इन्द्रेण प्रोक्तः उपक्रमाभ्यासोपसंहारेषु प्रसिद्धः ब्रह्मैव। तत्र आयुः अमृतं इति ब्रह्मणो लिङ्गं, अन्ते, आनन्दः, अजरः अमृतः इति लिङ्गत्रयं ब्रह्मण्येव संघटते। न वा प्रज्ञायां, न वा प्राणे। यथा भागवते नवयोगेश्वरनिमिसंवादे-

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।।
त्रिषु प्रकरणेषु पुरोदितेषु यथेशलिङ्गानि विलोकितानि।
तथामृताद्यैः परमात्मलिङ्गैः प्राणोऽत्र तद्ब्रह्मपदं ब्रवीति ।।श्री।।

पुनरपि पूर्वपक्षयित्वा समुत्तरयति भगवान् बादरायणः-

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।।१-१-३०।।

'न' इत्यव्ययं, 'वक्तुः'– षष्ठ्येकवचनान्तं; आत्मनः उपदेशः आत्मोपदेशः तस्मात् **'आत्मोपदेशात्'** पञ्चम्येकवचनान्तम्। अधिष्ठितः शरीरत्वात्, अधिकृतश्च सख्यात् आत्मा जीवात्मा येन स अध्यात्मा, अध्यात्मनः जगन्नियामकस्य सम्बन्धः ज्ञाप्यज्ञापकरूपः इति अध्यात्मसम्बन्धः। बहोर्भाव भूमा अध्यात्मसम्बन्धस्य

भूमा इति **''अध्यात्मसम्बन्धभूमा।''** प्रथमैकवचनान्तम्। 'हि' अव्ययं, 'अस्मिन्' सप्तम्येकवचनान्तं सप्तपदमिदं सूत्रम्।

अत्र पूर्वसूत्रात् प्राणः, प्रथमसूत्रात् ब्रह्म इति च अनुवर्तते। वक्तुः आत्मोपदेशात् प्राणः ब्रह्म न, चेत् नः हि अस्मिन् अध्यायत्मसम्बन्धभूमा। नन्वत्रोपनिषदि वक्ता इन्द्रः स च बारम्बारं आत्मान मेवोपदिशति। तद्यथा- **''मामेव विजानीहि''** ''प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'' ''इत्यादिभिः। तथा **''त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीच्छालावृकेभ्यः प्रायच्छम्''** इत्यादिना, तर्हिकथं प्राणशब्दोऽत्र ब्रह्मपरकः इति चेत् न! हि यतोहि अस्मिन् परमात्मसंबन्धस्यैव बहुतरत्वम्। तस्मात् **''सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः''** इति न्यायेन भूयस्यल्पीयसोऽन्तर्भावात् अत्रत्य प्राणशब्दो ब्रह्म पर एव। अथ तर्हि **''त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं अहनम्''** इति मन्त्रे इन्द्रेण वृत्रवधस्यख्यापनं कृत्वा ब्रह्मज्ञानानुपयुक्ता किमात्माश्लाघा न व्यधापि? अस्मिन् अभिमानसूचके वाक्ये सति कथमध्यात्मसम्बन्धबहुरत्वं, कथं वा इन्द्रस्य ब्रह्मवादित्वम्? ब्रह्मवादी हि निरस्तसमस्तकर्तृत्वाभिमानाहंकृतिकः स्वशरीरमपि न स्मरति। इति चेच्छ्रूयताम्! अत्रेन्द्रेण नात्मश्लाघा व्यधायि, किन्तु ब्रह्मज्ञानमहिमैव वर्णितः, यत् पश्य ब्रह्मज्ञानमहिमानं यदहं त्रिशीर्षाणं त्वष्ट्रिपुत्रं पुरोहितं विश्वरूपं अहनं तथापि पापी नाभवं ब्रह्मज्ञानेन निर्धूतसकलपापत्वात्। यथोक्तं श्रीगीतायां-

''अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजितं सन्तरिष्यसि ।।

(गीता ४-३६)

त्रिशीर्ष्णः विश्वरूपस्य कथा श्रीमद्भागवते पल्लविता। यथा-

''तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम।।

(भागवत्-६-९-१)

शुश्रुमः कौषीतकी ब्राह्मणतः श्रुतवन्तः इति भावः। इत्यनेन पुराणनामवैदिकत्वं जल्पन्तो वावदूकाः परास्ताः। एवं वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशोऽपि ब्रह्मज्ञानमहिमप्रतिपादनाय यथा भागवते ब्रह्मा नारदं प्रति-

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्वतः ।।

भागवत २/५/१५

स्वोपदेशान्न चेन्द्रस्य प्राणो जीव इहेष्यते।
प्रकरणेऽध्यात्मसम्बन्धभूमा भूयो विभाव्यताम् ।।श्रीः।।

ननु ब्रह्मतो व्यतिरिक्तो देवतेन्द्रः ब्रह्मबुद्ध्या स्वोपासनं कथं निरदिशत्। **"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" "तं मामापुरमृतमुपास्व"** इति चेत् आह-

"शास्त्रदृष्ट्या तूपपदेशो वामदेववत्" ।।१-१-३१

शास्त्रस्य दृष्टिः शास्त्रदृष्टिः तया **'शास्त्रदृष्ट्या'** तृतीयैकवचनान्तम्। **'तु'** अव्ययं पक्षान्तर निरासकं, **'उपदेशः'** प्रथमैकवचनान्तं, वामदेवस्य इव इति **'वामदेववत्' "तत्र तस्येव"** इत्यनेन इवार्थे षष्ठ्यन्तात् वातिः, तु किन्तु, अत्र वामदेवस्य महर्षेरिव अत्रापि इन्द्रस्य ब्रह्माभिन्नस्यात्मनोपदेशः शास्त्रदृष्टया। अत्र शास्त्रे ब्रह्मविदो ब्रह्मीभाव उक्तः। यथा वामदेवमहर्षिः स्वशरीरेऽपि स्वात्मनि सूर्यत्वमनुत्वादि विलक्षणधर्मान् समचिख्यपत्। तथैवेह इन्द्रोऽपि तद्यथा वामदेवः-

"तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यनृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहमनुरभवं सूर्यश्चेति ।।वृ० उ० १-४-१०

एवमेव ब्रह्मणि ज्ञाते जीवेन ब्रह्मसाम्यं प्राप्यते, **"निरञ्जन परमं साम्यमुपैति"** इति श्रुतेः। इन्द्रो ब्रह्मज्ञः इति तु केनोपनिषदि चतुर्थे खण्डे श्रुत्यैवाभिहितम्। यथा- "तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति"। (केन ४-३)

अतएव श्रीमद्भागवतेऽपि भगवद्भावापन्ना श्रीव्रजाङ्गना आत्मनि कृष्णत्वं व्यवातिष्ठपत्। यथा-

"कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ।।

भागवत १०-३०-१९

तस्मादिन्द्रस्य स्वात्मोपदेशोऽपि शास्त्रदृष्ट्यैव अत्र भागवंते दशमे त्रिंशस्य चतुर्दशात् आत्रयोविंशं उदाहरणानि समवगच्छ।

यथा ऋषिर्वाभदेवः ददर्श सर्वमात्मनि।
तथोपदेशः शक्रस्य शास्त्रदृष्ट्येह संगतः।श्री।।

नन्वत्र क्वचित् प्रज्ञात्मा इति प्रज्ञावतो जीवलिङ्गं, क्वचिच्च प्राणोऽस्मि इति मुख्यप्राणलिङ्गं, क्वचिच्च "आनन्दोऽजरोऽमृतः" इति ब्रह्मलिङ्गम्। तेषु कतमे प्राणशब्दस्य तात्पर्यमिति सन्देहे समसूत्रयत् सत्यवतीनन्दनः-

"जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।।१-१३२

जीवश्च मुख्यप्राणश्च जीवमुख्यप्राणौ, तयोः लिङ्गात् "जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्" पञ्चम्येकवचनान्तं, 'न, इति, चेत्, न,' इत्यव्ययचतुष्टयम्। उपासनं-उपासा उपासायाः त्रैविध्यं उपासात्रैविध्यं तस्मात् **'उपासात्रैविध्यात्' 'पञ्चम्येकवचनान्तम्'**। 'इह ' अव्ययं, तेन योगः तद्योगः 'तस्मात्तद्योगात् ' पञ्चम्येकवचनान्तं त्रयोदशपदमिदं सूत्रम्।

अनुवृत्तिः पूर्ववत्, जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् प्राणः न ब्रह्म इति चेन्न! उपासात्रैविध्यात् आश्रितत्वात् इह तद्योगात्। इह कौषीतक्युपनिषदि- **"न वाचं विजिज्ञासीत। वक्तारं विद्यात्।।"** इत्यनेन वागुच्चारणकर्तृरूपजीवस्यलिङ्गात् प्राण प्रज्ञात्मा शरीरं परिगृह्योत्थापयति।। इत्यनेन मुख्यप्राणस्य लिङ्गात्। अत्र प्राणशब्दस्य ब्रह्मतात्पर्यं न भवितुमर्हति, इति चेन्न! इति पूर्वपक्षमाक्षिपति। एवं जीवप्राणब्रह्मणामस्तित्व स्वीकारे उपासनायां त्रैविध्यं समुत्थास्यति। प्रकृते प्रकरणे च **"अमृतमुपास्व"** इत्यैकैवोपासना निगदिता।

यद्वाजीवप्राणलिङ्ग्योः सतोरपि न दोषः। उपासात्रैविध्यात्। सच्चिदानन्दघनस्य ब्रह्मणः उपासनात्रैविध्यं वर्तते। चिदचिद्विशिष्टतया चिच्छरीरतया अचिच्छरीरतया विशुद्धावतारशरीरतया च। किंच- आश्रितत्वात् जीवः प्राणश्च परमात्मानमेव आश्रयतः। **"प्राणबन्धनं हि मनः"** इति श्रुतेः। एवं इह अस्मिन्प्रकरणे तद्योगात् तेन ब्रह्मणा योगात् प्रतर्दनेन पृष्टः **"यद्वै हिततमं मनुष्याय"** इति, तदा सः ब्रह्मैवोपदिदेश, हिततमं च ब्रह्मैव नान्यत्। तस्मादिह. तदुपदेशे योगात् अत्र ब्रह्मैव महातात्पर्येण हिततमत्वेनोपदिष्टम् यथा श्री भागवते-

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः।।
भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहाद्युच्चावचान्विभुः।
भजन्युत्सृजति ह्यन्यस्तस्तच्चापि स्वेन तेजसा।

भागवत ६/२/४५-४६

जीवस्य दैत्येन्द्र भिदो ह्यसोश्च, भेदाद् हरेः प्राण पृथक्त्वमस्ति।
तथाह्यु,-पासात्रिविधत्वमीयात्, योगाश्रयाभ्यां ह्यपृथक्चजीवः ।।श्रीः।।

''एकादशंचाधिकरणं यत्प्राणानुगमाभिधम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।
व्यासप्रणीते किल भिक्षुसूत्रेसमन्वयाध्यायगताद्यपादः।।
व्याख्यात एषः किल रामभद्राचार्येण सीतापतिपादभक्त्यै।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

इति जगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामीरामभद्राचर्यकृतौ श्री राघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रे समन्वयाध्याये प्रथम पादः।।

अथ समन्वयाध्याये द्वितीयः पादः

।।सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरणम्।।

कन्दावदातं जनपारिजातं तद्ब्रदह्मकल्याणगुणाभिरामम्।
सीताद्वितीयं हरिमदद्वितीयं रामाभिरामं प्रणमामि रामम्।।
अस्याध्यायस्य पूर्वस्मिन् पादे श्रीबादरायणः।
ब्रह्मजिज्ञासनीयत्वं सोपपत्ति ह्यतिष्ठपत्।।
रुद्राख्ये चाधिकरणे ह्यस्पष्टानां यथाश्रुतम्।
श्रोतानां भूरिवाक्यानां तात्पर्यं ब्रह्मणीरितम्।।
केषाञ्चनाथ वाक्यानां वेदविन्यस्तवर्त्मनाम्।
ब्रह्मण्येव समन्वेतुं पाषोऽभिरच्यते।।
तत्राद्यमष्टभिः सूत्रैरधिकरणं मनोहरम्।
प्रारभ्यतेऽत्र सर्वत्र प्रसिद्धाख्यं कृपावता।।
तदीयमादिमं सूत्रं सारवद्धेतुगर्भितम्।
असुसूचद् ब्रह्मसूत्रे भगवान् बादरायणः।।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् १/२/१

सर्वेषु इति "सर्वत्र" सप्तमीप्रतिरूपकमव्ययम्। प्रसिद्धस्य उपदेशः प्रसिद्धोपदेशः तस्मात् प्रसिद्धोपदेशात्। छान्दोग्योपनिषदि ब्रह्मविद्यायां ब्रह्मोपासनम् श्रूयते। तद्यथा-

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः

पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वति।" (छान्दोग्य ३/१४/१)

ब्रह्म शब्दस्य बह्वर्थत्वात् अर्थ सन्देहो जायते। इदं सर्वं जडचेतनात्मकं ब्रह्मात्मकं मत्वा– तज्जलानि "तज्जजगत्जायते यस्मात् लीयते यस्मिन् अनिति येन इति "तज्जलानि।" ब्रह्मैव शान्तो भूत्वा शान्ते स्थाने उपासीत। उपासीत इति प्रवर्तनायां लिङ्। यद्वा– अत्यन्ताप्राप्यमूलके विधौ। अत्र विप्रतिपत्तिः जीवोऽपि ब्रह्म।" ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम् ब्रह्मकर्मसमाधिना"। गीता ३/ २४

"सयोगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति।।" (गीता ५-२४)

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति" (गीता १८-५४)

इति शङ्कां निवारयन्नाह, **"सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्"** (१-२-१)

सर्वत्र सर्वेषु उपनिषद्वाक्येषु प्रसिद्धस्यैव ब्रह्मणः उपदेशात् प्रसिद्धाप्रसिद्धयोः प्रसिद्धस्यैव ग्रहणं, **"गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः"** इति नियमात्, इहापि सर्वत्रश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु प्रसिद्धत्वेनोपदिष्टस्य ब्राह्मण एव ग्रहणम्। तथा हि **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ररीय उप० २-१)

"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैत्ररीय उप० ३-५)

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं तदेव विद्धि त्वं ब्रह्म" (केन उप० १-५) **"यत्साक्षादपरोक्षं ब्रह्म"**

एवं स्मृतिषु **"ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्"** (गीता ३-१५)

"अक्षरं ब्रह्म परमम्" (गीता ८-३) **"ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म"** (गीता ८-१३) **"अनादिमत्परं ब्रह्म"** (गीता १३-१२) एवं श्रीमद्रामायणे **"अक्षरं त्वं परं ब्रह्म मध्येचान्ते च राघव"**-

(वा० रा० ६-११७-२१) तथा श्रीमन्मानसे–

(रामब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना। (१-११६-८) रामब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्वरहित सब उर पुरवासी। (१-१२०-७) रामब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अकथ अनादि अनूपा (२-९३-७)

रूपान्तराणि:-

श्रीरामो व्यापको ब्रह्म परमानन्द एव च।
परेशश्च पुराणश्च जगद्वेद चराचरम्।।
राम एव परं ब्रह्म अविनाशी च चिन्मयः।
सर्वहीनश्च सर्वेषामुरःपुरनिवासकृत्।।
रामो ब्रह्म परमार्थ रूपश्चा विगतस्तथा
नैवापि कथनीयोऽसावनादिरूपमागतः।।

तस्माद् , "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यत्र प्रयुक्तो ब्रह्मशब्दः निरस्तसमस्त हेयगुणकसकलनिरूपद्रवनिरवद्यनिरलिशयकल्याणगुणगणसागरसमस्त-विच्छेदपरिच्छेदरहितपरमानन्दरसैकघनसच्चिदानन्दघननिरस्तनिखिलहेयप्र-पञ्चपञ्चबाणरिपु निटिलनयननीराजन मन्दाकिनीजनकजनकनृपस-मर्चितश्रीमद्च्चरणा-रविन्दवृन्दारकावृन्दतवन्दारुमन्दारपरमपावन-प्रेममकरन्दश्रीमत्साकेतवेतन-सुषमासुधामहासुरधुनिनिमग्न-चेतनमकरकेतनःसर्वंसहास्वर्गविसुकृतक्षीरपरिपाकसचिव भानुमद्दुहित्रि-सुकृतेक्षुपाकभर्जितभक्तभवभयविपाककोटिकोटिजल्पाकश्वपाकपतित-पावनश्रीमत्सीताभिरामे परब्रह्मणि स्वतात्पर्यं ग्राहयति।

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

(भागवत १/२/११)

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रसिद्धस्योपदेशतः।
प्रसिद्धपुरुषो रामो ब्रह्मास्मिन्गीयते स्थले ।।श्रीः।।

हेत्वन्तरमाह-

"विवक्षितगुणोपपत्तेश्च" (१/२/२)

वक्तुम् इष्टाः। विवक्षिताः। विवक्षिताश्च ते गुणाश्च इति विवक्षितगुणाः। तेषामुपपत्तिः इति विवक्षितगुणोपपत्तिः, तस्याः "विवक्षिलगुणोपपान्तिः", पञ्चम्येकवचनान्तम्। 'च' अव्ययम्। द्विपदमिदं सूत्रम्। चकारः पक्षान्तरसूचकः। सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशादन्यदपि हेत्वन्तरम्। श्रुतिभिर्विवक्षितानां गुणानां उपपत्तेरपि अत्रत्यब्रह्मशब्दः श्रीरामरूपे ब्रह्मणि तात्पर्यग्राहकः न त्वन्यस्मिन् जीवे न वा ब्रह्मपर्याये यस्मिन् कस्मिंश्चिद्; ब्रह्मणः सन्ति अनन्ताः गुणाः यथा,- "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थवानि विममे रजांसि।" अत्र श्रुतिः स्पष्टं भगवद्गुणानुवर्णने स्वासामर्थ्यं ख्यापयति। यः पार्थवानि रजांसि

गणयितुं क्षमते स एव व्यापकस्य ब्रह्मणो गुणानपि गणयेत। अतएव श्रीमानसेऽपि श्रीभुशुण्डी गरुडं प्रति-

तुम्हहि आदि खग मशक प्रयन्ता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अन्ता।। तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तान कबहुँ को पाव कि थाहा।। (मानस ७-९१-५,६)

रुपान्तरण

त्वदाद्या मशकान्ताश्च खगाः सर्वे विहङ्गम।
नभस्युड्डीयमानाश्च नान्तं यान्ति यथा क्वचित्।।
तथैव श्रीरघुपतेरगाधो महिमार्णवः।
कदापि कोऽपि यत्नेन कथं पारं हि गच्छतु।।

एवं अनन्तेषु गुणेषु भगवदीयेषु सत्सु अवाङ्मनसगोचरत्वेन सर्वेषां वक्तुमशक्यत्वात्। श्रुतिभिः केचनैव वक्तुमीष्टाः अत एवाह **"विवक्षित"** इति। ते तावत्- द्वयोः स्थलयोः अत्रैव छान्दोग्ये। प्रथम स्थलं पूर्वं• शाण्डिल्यविद्यायां। **"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदाभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।।'** छा० उ० ३-१४-२। अत्र श्रुत्या भगवतः एकदैशव गुणाः विवक्षिताः। मन्त्रस्यास्य व्याख्यानं चेत्थम्– स परमात्मा यश्च पूर्वस्यां श्रुतौ समुपास्यत्वेन प्रोक्तः कीदृक् इत्यत आह भगवती श्रुतिः, दशेन्द्रियाणि एकञ्च मनः एकादशैव पावयितुं एकादशदेवानामाश्रयं परब्रह्मपरमात्मानं सगुणं साकारं एकादशभिर्विशिनष्टि मनोमय इत्यादिभिः। ननु मनोमय इति विशेषण मनुपपन्नम्। परमात्मनोऽवाङ्मनसगोचरत्वात्। यथा **"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः"** मु० उ० २/१/२ **"यन्मनसा न मनुते"** (केन १-४) **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** तै० २/९ **"मनसस्तु पराबुद्धि बुद्धे रात्मा परो महान्। महतः परमव्यक्तं अप्रव्यक्तात् पुरुषः परः"** कठ० ३/१/११ इत्यादि श्रुतिभिरपि ब्रह्मणो मनोऽतीतत्वप्रतिपादनात्। न च भगवतो निर्मनस्कत्वे तत्र-तत्र समनस्कलीलासु व्याकोपः। यथोक्तं श्रीमन्मानसे -जासु विलोकि अलौकिक शोभा। सहज पुनीत मोरमनु लोभा।।

मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी।।
रुपान्तरम्- यस्याश्चालौकिकीं शोभां निरीक्ष्य मम लक्ष्मण।
निसर्गपावने लोभो मनस्येव प्रजायते।।
विश्वासोऽतिशयस्तात नूनं स्वमनसो मम।

स्वप्नेऽपि येन नो दृष्टं परनारिमुखं क्वचित्।।

तत्र लीलारसमनुभवितुं भगवता सृष्टनवीनमनसस्त्वोपपत्ते

अतएव "अतएव" भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः,

वीक्ष्य रन्तु-मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

(भाग० १०/२९/१)

इति श्रीशुकवचनं संगच्छते। चक्रे इति निर्ममे इति टीकाकृतः। तस्मान्ममनोमयत्वमनुपपन्नं भागवतः। इति चैन्मैवं। भगवतो निर्विकारत्वात् मनसो विकारः मनोमयः इति विकारार्थे न मयट् - प्रत्ययः। मनसो बर्हिमूर्तत्वाच्च न वा नित्यमिति योगविभागात् स्वरूपे नवा प्रकृतिवचनत्वात् प्राचुर्ये मयट्। तर्ह्यि,सङ्गतमेतत्। मैवं। अत्र नासौ 'मयट्' विकार्थः प्राचुर्यार्थः स्वरूपार्थो वा। कस्तर्हि? मयट् प्रत्यय एव नहि, 'न भवेत् वंशो न वाद्येत वंशी।' कथं साध्येत इति चेत्, मयधातुर्गत्यर्थः; मनांसि भक्तानां चेतांसि मयति गच्छति इति मनोमयः। ननु अशुद्धमेतत् मनोमय इति विग्रहे मनो मयते **'कर्मण्यण्'** इत्यनेन अण्प्रत्यये णिति वृद्धौ' मनोमायः इति स्यात् इति चेन्न। मयते इति मयः पचादित्वात् अच्, मनसां मयः इति मनोमयः तस्मिन् मनोमये इति व्याख्यातेनादोषात्। यद्वा - नायं कृत्प्रत्ययान्तः; किं तर्हि? तद्धितान्त एव, केन सूत्रेण तद्धितान्तत्वम्? **'तत्प्रकृतिवचने मयट्'** (पा० अ० ४/४/१२१/) ननु प्रथममेव प्राचुर्यार्थे निराकृतत्वात् नासौ प्रकृतिभावचनो -मयट् प्रत्ययः। प्रकृते वचनं प्रकृतिवचनम्। कस्तर्हि? अधिकरणवचनो मयट्। व्युत्पत्तिश्च उच्यतेऽस्मिन्निति वचनः प्रकृतस्यवचनः इति प्रकृतिवचनः। प्रकृतं प्राचुर्येण कृतम्। यथा **"अपूपमयो यज्ञः"**। एवमेवात्रापि भक्तानां मनांसि प्रचुराणि सन्ति यस्मिन् स मनोमयः। यस्मिन् कोटि-कोटि परिव्राजकविमलात्ममहात्मनां मनांसि मधुकरायन्ते स एव भगवान् रामो मनोमयः।

यथा श्रीमद्वाल्मीकीये रामायणेऽयोध्याकाण्डे-

नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।

नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे।।

(वा० रा० २/१७/१३)

अतएव श्रीगीतासु"-मन्मना भव मद्भक्तः (९/३४)

"मय्येव मनआधत्स्व" १२/८ पुनः; मन्मना भव मद्भक्तः" (१८/६५)

इत्यादीनि संगच्छन्ते। अतएव मानसे महर्षि वाल्मीकिः-

स्वामि सखा गुरु मातु पितु जिनके सब तुम तात।
मन मन्दिर तिनके बसहु सिय समेत दोउ भ्रात।।

मानस २/१३०

रुपान्तरम्- (येषां स्वामीसखाचार्यः माता तातस्त्वमेव हि।
तेषां मनोमन्दिरेषु वस श्रीलक्ष्मणान्वितः।।)

प्राण शरीरः। प्राणः शरीरः यस्य 'प्राणश्च प्रणवे प्राणे' इति कोशात्। प्राणः प्रणवः ओंकार एव शरीर यस्य स प्राणशरीरः; **"तस्य वाचकः प्रणवः"** इति योगसूत्रात्। भा - प्रकाशः सैव रूपं यस्य स भारूपः। अतएव मानसे-

सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहि तहँ पुनि बिग्यान बिहाना। (मानस १/११६) **रुपान्तरम्-** स्वयंम्प्रकाशरूपो हि रामश्च भगवान् शिवे।

तत्र नैवास्ति विज्ञानप्रभातं कर्हिचित् पुनः।।

श्रुतिरपि- **"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"** यद्वा - भा परमः प्रकाशः रूपे स्वरूपेयस्य स भारूपः। अतएव - **"सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोःप्रभुः'** (वा० रा० २/४४/१५) इति संगच्छते। परमप्रकाशरूपत्वं भगवति श्रीराम एव। तस्यैव ब्रह्मणो जगता सह प्रकाश्य प्रकाशक भावःसंघटते। यथा श्री मानसे-

सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधिपति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।।

(१/११७/६,७)

रुपान्तरम्- सर्वेषाञ्चैव भूतानां यः परमः प्रकाशकः।
स चानादिरयोध्यायाः पतिः श्रीराम उच्यते।।
जगत्सर्वं प्रकाश्यं श्री रामस्तु प्रकाशकः।
मायाधीशश्च कण्याणगुणज्ञानसुमन्दिरम्।।

सत्यसङ्कल्पः - सत्यः - सद्भ्यो हितः संकल्पो यस्य सः सत्यसङ्कल्पः। आकाशमिव निर्लेपः आत्मा स्वरूपं यस्य स आकाशात्मा। यद्वा - आत्मा शरीरे, तस्मात् आकाशमिव नीलः आत्मा शरीर यस्य स आकाशात्मा। यथाकाशं घनविद्युत्तारकमण्डलमण्डितं भवति तथैव भगवच्छ्रीविग्रहोऽपि घनोपमैः केशैः, तारोपमानैः भूषणैः, विद्युदुपमानेन पीताम्बरेण च मण्डितः। एवं

भगवतो निराकारतावादो निरस्तः।

'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेः। सर्वाणि वेदविहितकर्माणि यस्य स सर्वकर्मा। सर्वे गन्धाः सौगन्ध्यपदार्था यस्मिन् , यद्वा सर्वाणि गन्धवन्ति पुष्पाणि अलंकरणानि यस्य स सर्वगन्धः। एवं सर्वे रसाः स्वादाः यस्मिन् स सर्वरसः, यद्वा - सर्वे शृंङ्गारकरुण-वीर-शान्त-रौद्र-भयानकबीभत्सा-द्भुत-प्रीति-वात्सल्य-भक्त्याख्या- द्वादशरसाः यस्मिन् स सर्वरसः। एवं भूतः इदं सर्वं चिदचिदात्मकम् स्वीकृतवान्। यथा शरीरी शरीरमङ्गीकरोति तथैव चिदचिदात्मकं जगदिदं भगवान्। अतएव श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धे-

खं वायुरग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतीषि सत्वानि दिशो द्रुमादीनि।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।।

भा० ११/२/४१

प्रपञ्चितञ्चैतद् भगवज्जगच्छरीरशरीरीभावप्रकरणं श्रीमन्मानसे-

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु वचन बिस्वासु।
लोक कल्पना वेदकर अंग अंग प्रति जासु।।
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अंग अंग विश्रामा।
भ्रकुटि विलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला।।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरू दिवस निमेष अपारा।।
श्रवन दिसा दस वेद बखानी। मारूत स्वास निगम निजबानी।
अधर लोभ जम दसनकराला। माया हास बाहु दिक्पाला।।
आनन अनल अम्बुपति जीहा। उत्पत्ति पालन प्रलय समीहा।।
रोम राजि अष्टादस मारा। अस्थि शैल सरिता नस जारा।।
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कल्पना।।
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।।
मनुज वास सचराचर रूप राम भगवान् ।।

(मानस ६/२४ सेदिरेक)

अथैतत् रुपान्तराणि-

रघुवंशमणिः रामो विश्वरुप उदाहृतः। प्रत्यङ्गं यस्यलोकस्य कल्पिताः भोः प्रतीयताम् ।

पातालं यस्य पादोऽस्ति ब्रह्मधामशिरस्मृतम्। विश्रामोऽत्परलोकानां यस्य प्रत्यङ्गमुच्यते।।

कृतान्तस्तस्य विज्ञेयो भ्रूविलासो भयंकरः। दिवाकरश्च नयनं घनमाला कचास्तथा।।

नासिका यस्य नासत्यावाश्विनौ परिकीर्तितौ। निशाश्च दिवसा यस्य निमेषोन्मेषकाः दृशोः।।

लोभोऽधरो यमो यस्य कराला दसनाः किल। मायैव यस्य हासोऽस्ति बाहू दिक्पालसंस्रयौ।।

मुखमग्निश्चवरुणोजिह्वा यस्य प्रकीर्तिता। उत्पत्तिः पालनलयौ यस्य चेष्टाः बुधाः विदुः।।

अष्टादशवनस्पतयो राजन्ते रोमषु प्रभोः। अस्थीनि शैलश्रृङ्गाणि सरितः स्नायवः स्मृताः।।

उदरं सागरो यस्य अधोगावौ च यातनाः। जगन्मयो प्रभुरिति बहव्या कल्पनयाऽत्र किम्।।

अहं शिवो मतिर्धाता, मनश्चन्द्रो हरिश्चहृत्।
चराचरजगद्रूपो नरवासोऽस्ति राघवः।।

"वाकं वाणी नमो वाक्प्रशास्महे" इत्याधिक्तेः। न विद्यते प्रतिपादकतया वाकं यस्मिन् स अवाकी। **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** तै० उ० २/९ इति श्रुतेः। अत एव अनादर- दरः भयम् न विद्यते आ ईषदपि भयं यस्य स अनादरः। सर्वातिशायित्वात् निरस्तसाम्याधिक्यवत्वाच्च। अत एव श्रीमद्रामायणे विभीषणं प्रति-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मि इति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतत्व्रतम् मम ।।

(वा० रा० ६/१८/३३)

अतएव च काठक श्रुतौ-

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयाद्रिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।

(कठ० ६/३)

स्मृतिश्चापि-

मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युर्धावति पञ्चमः।।

इत्थमेवाग्रेऽपि विवक्षिताः गुणाः। एवं विवक्षितानां मनोमययत्वादीनां अपहतपापमत्वादीनाञ्च निरस्तसमस्तहेयगुणप्रत्यनीकानां सकलकल्याणगुणगणानां श्रीरामे एव ब्रह्मण्युपपत्तेः। पूर्वश्रुति वर्णितोपास्यं ब्रह्मैव। अहो ! सामान्यतमे संसारिणि जीवे मनोमयत्वम् कथमुत्पद्येत; स्वयमेव जीवप्रातिनिध्यं कुर्वन् प्राञ्जलिः प्राह परमेश्वरं पार्थः-

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिस्थिराम्।।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढदम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

गीता ६/३३, ३४

यथा प्राह पौराणिको बाल्मीक्यवतारः गोस्वामितुलसीदासः श्रीविनयपत्रिकायाम् एकोननवति तमे पद्ये--

मेरो मन हरिजू। हठन तजै।
निसिदिन नाथ! देउसिख बहु विधि, करत सुभाऊ निजै ।।१।।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारून दुःख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ।।२।।
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै ।।३।।
हौं हारयौ करि जतन विविध- विधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसीदास रस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ।।४।।

एत द्रूपान्तरम् पद्यमयम्-

हरे हठं त्यजति न मनो मदीयम्
अर्हनिशं शिक्षये नाथ! बहु सहजं चरति स्वकीयम् ।।१।।
यथानुभवति प्रसवपीडामति युवतिर्मन्दमतिः।
गतशूलानुकूलया पुनरपि परिभज्यते पतिः ।।२।।
भ्राम्यति श्वे लोलुपो गृहमथ पदत्राणं सहते।
विचरति नहि लज्जते कापथं गन्तुं प्रोत्सहते ।।३।।

विजितोऽहं कृत विविधप्रयत्नः प्रबलं मनो ह्यजेयम्।
तुलसीवश्यं भवेत् प्रभो यदा क्रियतां त्वया विधेयम् ।।४।।

पाञ्चभौतिकशरीरवतो जीवस्य प्राणः कथं शरीरतां भजेत्। अन्धकारवति क्व घटेत भारूपता,षड्विकारयुक्तस्य क्षोदिष्ठज्ञानवतः कथं स्यात् सत्यसंकल्पता। शुभाशुभकर्मवतः कथं स्यादाकाशस्य निर्लेपता। जन्ममरणजराजर्जरकलेवरस्य परिछिन्नशक्तिकस्य सततमलाच्छन्नस्य कामक्रोधमदलोभमोहमात्सर्यकिंकरस्य कथमुपपद्येरन् सर्वगन्धत्व - सर्वकर्मत्व - सर्वरसत्वादयः। तस्माद्विवक्षितानां समस्तानां लोकोत्तराणां गुणानां परमात्मन्यैवोपपत्तेः तत्रैव ब्रह्मपदतात्पर्यम्।।

यथा श्री भागवते धर्मं प्रति पृथ्वीवचनम्--

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्।।
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो धृतिः स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिः धैर्यंमादर्वमेव च।।
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानो ऽनहंकृतिः।।
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिंचित् ।।

भागवत २६-२९

अणीयांश्चैव जीवात्मा गुणास्तत्र विवक्षिताः।
श्रुतीनां नोपपद्यन्ते जीवात्मा ब्रह्मणो ततः ।।श्रीः।।

अथ इमे गुणाः कथं न जीवे आरोप्यन्ताम्? तथा हि - **"निरञ्जन** परमं साम्यमुपैति" इतिः श्रुतिः। इति जिज्ञासायामाह-

"अनुपपत्तेस्तु न शारीर" १-२-३

तुं - किन्तु, आरोपिता अपि जीवे गुणा घटन्ते न हिः न उपपत्तिः अनुपपत्तिः तस्याः 'अनुपपत्ते'- पञ्चभ्येकवचनान्तं, 'तु' अव्ययं, 'न' अव्ययं, शरीरस्य अयं - 'शारीरः' "तस्येदं (पा० ४/३/१२०) इति अण्। अनुपपत्तेः हेतोः शारीरः शरीरसम्बन्धिजीवः, न,- न ब्रह्म। यतो हि -जीवे मनोमयत्वादि गुणाः न उपपद्यन्ते, अतो निश्चीयते यत् शरीरसम्बन्धिजीवात्मा न ब्रह्म। शारीर इति पदं जीवब्रह्मणोः भेदतारतम्यं स्पष्टयदति। ब्रह्म शरीरे तिष्ठदपि

शरीरगुणदोषाभ्यां न लिप्यते। यथा कठोपनिषदि- "सूर्योयथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः;" (।।क० उ० २-२-११) अतएव जीवः शरीरसम्बन्धि, परमात्मा शरीरे तिष्ठन्नपि शरीरसम्बन्धनिरपेक्षः। अनुपपत्तेरपि हेतुं द्योतयन्नाह शारीरः, कथन्नोपपद्यन्ते? इत्यत आह- यतो हि शारीरः शरीरेण बद्धः, शरीरे बद्धोवा। शैषिकोऽण्। शरीरबद्धत्वात् परिच्छिन्नेऽस्मिन् आकाशात्मत्वादयः, कथमपि नोपपद्यन्ते। तस्माद्- ब्रह्मपदस्य तात्पर्यग्राहकः शारीरतो विलक्षणः स च परमेश्वर एव। यथोक्तं श्री भागवते-

विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः।।

भागवत ६/१६/४६

शरीरधर्मबद्धत्वाद विवक्षितगुणाः श्रुतेः।
शारीरे नोपपद्यन्ते तस्मिन्नो ब्रह्मता ततः ।।श्रीः।।

अथ जीवात्मपरमात्मनोः कथं नैक्यम्? "अहं ब्रह्मास्मि" "सोऽहमस्मि" "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्यादि श्रुत्यनुरोधात्। इति जिज्ञासायामाह-

"कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च" १-२-४

कर्म च कर्ता च कर्मकर्तारौ कर्मकर्त्रोर्ण्यपदेशः कर्मकर्तृव्यपदेशः तस्मात् कर्मकर्तृव्यपदेशात्- पञ्चम्येकवचनान्तं 'च' इत्यव्ययं द्विपदमिदं सूत्रम्। उपासना विधायके मन्त्रे जीवात्मनः कृते कर्तृव्यपदेशात् परमात्मनः कृते कर्मव्यपदेशाच्च। शारीरः न ब्रह्म। चकारात् पक्षान्तरसूचनं। तत्र प्रथममन्त्रे "ब्रह्मणः कृते कर्मनिर्देशः, जीवात्मनः कृते च कर्तृनिर्देशो वर्तते। यता "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत"- अत्र उपासकः जीवात्मा, उपास्यञ्च परमात्मा। उपासीत इति क्रियायाः उपासकः कर्ता, यथा -भक्तो राममुपास्ते, अत्र भक्तः कर्ता, रामः कर्म, तथैवात्रापि। एकस्यां व्यक्तौ विरुद्ध धर्मिणी कर्मत्वकर्तृत्वे नोपपद्येते। कर्ता व्यापाराश्रयः कर्म च फलाश्रययो भवति।

एममेव अत्रैव प्रकरणे अपरस्यां श्रुतौ कर्मककर्तृव्यपदेशः। तद्यथा- "सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम्भयात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।। (छा० उ० ३-१४-४) अत्र एतद्ब्रह्म इत्युपक्रम्य एतं इति कर्मत्वेन निर्दिश्यः अभिसंभवितास्मि इति स्पष्टं कर्तारं

निर्दिशति। इह प्रथमान्त अहमितिकर्ता द्वितीयान्तश्च एतं इति कर्म। तथा हि - कर्तुः कर्म ईप्सिततमं भवति "कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० अ० १-४-४९) यत कर्त्रा क्रियया संबद्धु अतिशयेन इष्यते तदेव कर्म भवति। एवं - 'अहं एतं संभावितास्मि",- इत्यत्र अहं पदार्थः शाण्डिल्यरूप कर्त्रा संभावना क्रियया एतच्छब्दार्थः ब्रह्म सम्बद्धम् अतिशयेनेष्यमाणमास्ते। यदि कर्मकत्रोर्भेद न स्यात् तर्हि कर्ता स्वक्रियाया कं संबद्ध्नीयतात्। द्वयोर्भेदस्यावश्यकत्वात्? अतोऽस्मादपि हेतोः कर्तृकर्मणोर्व्यवहाररूपाच्छारीरो जीवात्मा न ब्रह्म अतएव भागवते सनकादयः पृथुराजं प्रति-

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या;
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-।
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।

(भागवत ४/२२/३९)

कर्मणा च तथा कर्त्रा व्यपदिष्टेशजीवयोः।
पृथक्त्वे स्पष्टतां नीते जीवो ब्रह्म कथं भवेत् ।।श्रीः।।

अन्यमपि हेतुमाह जीवब्रह्मणोर्भेद-

"शब्दविशेषात्" १-२-५।।

विशेषो विलक्षणता, शब्दयोर्विशेषः शब्दविशेषः तस्मात् शब्दविशेषात्; पञ्चम्येकवचनान्तमेकपदमिदं सूत्रम्। किंच - शब्दयोरपि वैलक्षण्याद्धेतोः शारीरो जीवात्मा ब्रह्म न भवितुं अर्हति। तथा हि- "एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणी (छा० उ० ३-१४-३) अन्यच्च,- अत्रैव - "एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् ।।छा० उ० ३-१४-३ इह एकस्मिन्नेव मन्त्रे द्विः परमात्मा प्रथमान्ततया जीवः षष्ठ्यन्ततया च निर्दिष्टः। "एष मे आत्मा इति षष्ठीप्रथमयोः विभक्त्यर्थवैलक्षण्यं। शब्दयोश्च मे इति अस्मच्छब्दः षष्ठ्यन्तः सर्वनाम संज्ञकः, आत्मा इति प्रथमान्तप्रातिपादिकम्।

शब्दयोः विभक्त्योः अर्थयोश्च वैलक्षण्यात् शारीरो जीवात्मा न ब्रह्म यथोक्तं भागवते शुकाचार्येण परीक्षितं प्रति-

तस्यात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ।।

(भागवत २/२/३६)

अत्र हरि इति प्रथमा नृणामिति षष्ठी इति शब्दवैशिष्ट्यं स्पष्टम्।
प्रथमाधिष्ठितं ब्रह्म जीवः षष्ठी विभक्तिगः।
विशेष्याच्छब्दयोर्नूनं जीवो न ब्रह्म कर्हिचित् ।।श्रीः।।

किंच - न केवलं श्रुतयः परन्तु जीवात्म परमात्मभेदं तु स्मृतयोऽपि साधयन्ति-

"स्मृतेश्च" ।।१-२-६।।

स्मर्यते श्रुत्यर्थो यया सा स्मृति तस्याः स्मृतेः पञ्चम्येकवचनान्तं च इत्यव्ययं द्विपदमिदं सूत्रम्। वेदान्तशास्त्रे उपयोगिनी स्मृतिर्भगवद्गीता, तत्र पदे पदे ब्रह्म जीव भेदः साधितः। यथा-

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

(गीता१८-६१)

-इत्युपक्रम्य, उपदेशोपसंहारवाक्ये- "**इति ते ज्ञानमाख्यातम्**" (गी० १८-६३)

-इत्यत्र ज्ञानोपदेशस्य विश्रामः। किन्तु ततोऽव्यवहितपूर्वं "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् (।।गीता १८-६२) इत्यत्र परमात्मनः शरणागतिं जीवात्मपार्थस्य कृते गच्छेति लोडन्तनिर्देशेन समादिदेश भगवान् एवं सर्वमपि परतः प्रमाणशास्त्रं स्मृतिसंज्ञं प्रत्यगात्मपरमात्मनोः परस्परं भेदमेव निर्दिशति यथा श्री भागवते वृत्रासुरवचनम्-

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणास्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ।।

भागवत ६/१२/२६

गीतासु च पुराणेषु मन्वादिस्मृतिसंग्रहे।
रामायणे समाम्नातो भेदो वै ब्रह्मजीवयोः ।।श्रीः।।

अथैवं जीवब्रह्मभेदे साधिते श्रुत्यक्षरेभ्यः शङ्कामुत्थाप्य तत्रैव समाधत्ते-
"अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।।१-१-७।।

अर्भक - शब्दोऽत्र अल्पवाची, अर्भकं अल्पं ओकः निवासः यस्य तत् अर्भकौकः तस्यभावः अर्भकौकस्त्वं तस्मात् अर्भकौकस्त्वात्, अत्र ल्यब्लोपे-पञ्चमी। तस्य व्यपदेशः तद्व्यपदेशः तस्मात् तद्व्यपदेशात्। अत्रैव तृतीय श्रुतौ अर्भकौकस्त्वं हृदयरूपाल्पपरिणामनिवासत्वं अपेक्ष्यैव तस्य ब्रह्मणः

व्यपदेशः कृतो वर्तते। तस्माद्धेतोः इदं न ब्रह्म, अयं तु क्षोदिष्ठः शारीरः इति चेन्न! कथमल्पपरिमाणता? अत आह - "निचाय्यत्वात् एवं, "चायृ' पूजने ब्रह्मणः निचाय्यत्वात् पूज्यत्व हेतोः निचाय्यत्वं पूज्यत्वं वा अपेक्ष्य एवं इत्थं अल्पपरिमाणता निर्दिष्टा।

वस्तुतः अत्रैव श्रुतौ 'व्योमवत्' आकाशवत् निर्देशोऽपिकृतः, पूजकानां समक्षं स "अणोरणीयान्" भवति। अन्येषां समक्षं स आकाशादपि ज्यायान् भवति। अतः स्थानसङ्कोचं निरीक्ष्य नैव ब्रह्ममहिमा परिहातव्यः। सा श्रुतिरित्थम्-

"एष म आत्मा अन्तर्हृदयेऽणीयान्ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा-ज्जयायान्दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः ।।छा० उ० ३-१४-३ तस्मात् पूजनापेक्षया अल्पपरिमाणत्वेऽपि ब्रह्मणो व्यापकत्वे न क्षतिः यथोक्तं श्री भागवते-

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः।
नानवभाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः।।
तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम्।
नारायणमणीयासं निराशीरजयत् प्रभुम्।

(भागवत ९/१८/४९-५०)

हृदये पूज्यमानत्वात्तस्याल्पपरिमाणता।
व्योमवद्व्यापकत्वं हि ब्रह्मणो वास्तवी स्थितिः।।श्रीः।।

ननु यदि ब्रह्म जीवेन सह तस्य हृदये तिष्ठति तर्हि जीव इव कर्मशुभाशुभं समश्नुते न वा इत्यत आह-

"सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ११-१-२-८ जीवेन सह तिष्ठतः ब्रह्मणः जीवकृत- संभोगप्राप्तिर्दुर्वारैव इति चेत्? न। इत्थं न वाच्यम्। जीवस्य हृदये तिष्ठन्नपि जीवकृतसंभोगं ईश्वरो न प्राप्नोति। कथं? अत आह वैशेष्यात् विशेष एव वैशेष्यं **"स्वार्थे ष्यञ"** तस्माद् वैशेष्यात्। जीवब्रह्मणोः वैशेष्यं श्रुत्या निर्दिष्टम्। यथा- "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय समानं वृक्षं परिषष्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (।।मु० उ० ३-१-१) जीवः स्वादु पिप्पलं भक्षयति, अन्यः परमात्मा अनश्नन् अभुञ्जानोऽपि कर्मफलानि अभिचाकशीति अभितः शोभते। अतो जीवहृदये तिष्ठन्नपि तत् कर्मफलं न भुङ्क्ते परमेश्वरः अतएव श्री गीतासु

"नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः ।।

गीता ५-१५

यथोक्तं श्रीमानसे भगवता बृहस्पतिना सुरेन्द्रं प्रति-

"जद्यपि सम नहिं राग नन रोषा।
गहहिं न पाप पुण्य गुण दोषा ।।

(मानस २-२१९-३)

रुपान्तरम्-

"यद्यप्येष समो रामो रागद्वेषविवर्जितः।
पापं पुण्यं गुणं दोषं न गृह्णाति कदाचन।।

अतएव जीवकृतकर्मजनितसुखदुःखयोः सम्भोगस्य प्राप्तिः न ब्रह्मणः तस्य वैशेष्यात्। इयमेव तस्याघटितघटनापटीयासीशक्तिः, यया पद्मपत्रमिव तत्र तिष्ठन्नपि तत्रत्यविकारैर्न लिप्यते। ननु तस्मिन्नस्ति कश्चिच्छक्तिविशेषः इत्यत्र किं मानम्? इति चेच्छ्रुतिरेवेति ब्रूमः। तथा हि- "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच।" (श्वे० उ० ६-८) इयमेव शक्तिः अव्यक्तपदेन कठोपनिषदि प्रोक्ता-

"महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः" (कठ ३-११)

अथवा, - नात्र स्वार्थिकःष्यञ्, कस्तर्हि? भावार्थ एव। शेषः सेवकः विशिष्टः शेषः पराशक्तिरूपः सेवक यस्य स विशेषो भगवान्, तस्यभावो वैशेष्यम्, तस्मात् वैशेष्यात्। अतएव श्रीगीतासु-

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।

(गीता ४-१४.)

यथोक्तं भागवते श्रुतिभिः-

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्;
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ।।

(भागवत/१०/८७/३८)

"अतः शुभाशुभैर्मुक्तः कर्मभिर्भक्तवत्सलः।
जीवस्यहृदये तिष्ठन् साक्षी साक्षात् प्रकाशते ।।श्रीः।।
"प्रथमंचाधिकरणं द्वितीयाङ्घ्रौ प्रभाषितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण श्रीवैष्णव सुखाय च।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ द्वाभ्यां अत्रधिकरणं प्रारभ्यते।।

ननु कठोपनिषदि द्वितीयवल्यां नचिकेतसं प्रति यमराजो ब्रूते- "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः (।।कठ० १-२-२५)

इह ब्रह्मणक्षत्रयोरोदनत्वस्य मृत्योरुपसेचनत्वस्य च श्रवणात् एतेषां नूनमशिता; कञ्चन अशनमशितारमपेक्षते, इतिलोकप्रसिद्धम्। अत्र परमात्मैव चराचराशनः इति चेन्मैवम्! "**अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**" (मु० उ० ३-१-१) इति श्रौत्रनिषेधात्। अनुपदमेव पूर्वसूत्रेण वैशेष्यहेतुकेन सम्भोग सम्प्राप्तिप्रतिषेधाच्च, अथ जीवः "**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति**" मु० उ० ३-१-१ सोऽपि न सम्भवः, तस्य कर्मफलभोक्तृत्वेन श्रुतत्वात्। अथाग्निः "**अग्निरन्नादः**" बृ० उ० १-४-६, इति श्रुतेः। एवं त्रिषु समुपस्थितेषु को नाम तत्र भोक्ता इति संशये जागरूके, समसूत्रयद् भगवान् बादरायणः-

"अत्ता चराचरग्रहणात् ।।१-२-९।।

अत्तीति अत्ता तृज् प्रत्ययान्तप्रथमैकवचनान्तं, चरं - चेतनं, अचरं - जडं, चरञ्च अच चराचरे जात्याख्यायामेकवचनं, तयोर्ग्रहणं चराचरग्रहणं। अथवा चराणि च अचराणि च चराचराणि तेषां ग्रहणं चराचरग्रहणं तस्मात् "चराचरग्रहणात्" - पञ्चम्येकवचनान्तम्। तत्र श्रुतौ ब्रह्मशब्देन वैशेष्य क्षत्रशब्देन च तूर्यस्योपलक्षणात् चातुर्वर्ण्यात्मकचेतनस्य ओदनत्वोपलक्षणात्। उपसेचतनत्वेन च जडवर्गस्य ग्रहणाच्चराचराणां भोक्तृत्वस्य जीवे अग्नौ चानुपपत्तेः। एतेषां अत्ता प्रलयविधया भक्षणकर्ता परमात्मैव न जीवः। अतएव श्रीगीतासु द्वाभ्यां पार्थः परमात्मनि प्राणिप्रलयं प्राह-

"यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नासाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलदिभः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्रा प्रतपन्ति विष्णो ।।

गीता ११-२९-३०,

न च तत्र **"अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"** मु० उ० ३-१-१, इति श्रुतौ परमात्म भोक्तृत्वनिषेधोऽस्तीति वाच्यम्! तत्रत्य प्रकरणानुरोधेन श्रुत्या परमात्मकर्तृकजीवप्रतियोगिककर्मफलभोगस्यैव निराकृतत्वेनादोषात। यथोक्तं भागवते दुर्वाससं प्रति ब्रह्मणा-

स्थानं मदीयं सह विश्वमेतत् क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति।

(भागवत ९/४/५३)

सम्भोग प्राध्यभावेऽपि वैशेष्यात् परमात्मनः।
चराचराणां ग्रहणादत्तेति विश्रुतो विभुः ।।श्रीः।।

पुनरस्मिन् पक्षे प्रकरणस्याभिधानियामकत्वरूपहेतुं प्रदर्शयन्नह।

"प्रकरणाच्च" ।।१-२-१०।।

चकारः स्वपक्षदाढ्र्यसूचनार्थः, प्रकरणं हि तात्पर्यनियामकं भवति। भोजनकाले 'सैन्धवमानय' इत्युक्तवति भोजनप्रकरणानुरोधेन लवणमेवानीयते सिन्धुशिला-प्रसूतम्। नत्वश्वोऽप्यानीयते, सैन्धवपदवाच्यः सन्। तथैवेहापि प्रकरणे ब्रह्म प्रक्रान्तम्। कठोपनिषदि द्वितीयवल्यां नचिकेतसा धर्माधर्मकृताकृतभूतभविष्यत् परिभूत परब्रह्मजिज्ञासायां- **"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"** कठ० १-२-१५ इति प्रतिज्ञाय **"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म"** (कठ० १-२-१६) इत्युपक्रम्य **"अणोरणीयान् महतो महीयान्- "**कठ० १-२-२०, **"महान्तं विभुमात्मानम्"** (कठ० १-२-२१) **"नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यः"** (कठ० १-२-२३,) इति पौनः पुन्येन समभ्यस्य **"यमेवैष वृणुते तेनलभ्यः"** कठ० १-२-२३ इत्युपसंहृतेऽस्मिन् समग्रेऽपि प्रकरणे ब्रह्मण एव प्रकीर्णत्वात् स एवात्र अत्ता। ननु प्रकरणेऽस्मिन न केवलं ब्रह्मणः प्रकीर्णत्वम्। किं तर्हि जीवात्वनोऽपि। तथा हि, - "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" **(क० उप० १-२-१८)**

इत्यत्र जीवात्मनः स्पष्टमेव संकीर्तितत्वात्। इतिचेद्; इष्टापत्तिः। जीवात्मनो भगवद् विशेषणतया प्रकरणेऽस्मिन् तेन सह संकीर्तितत्वेऽपि

'राजा गच्छति' इत्यादिवत् ब्रह्मण्येव प्राधान्यव्यपदेशान्नदोषः। इदमेव त्वस्मद्विशिष्टाद्वैतम्। यद्वा - नात्र जीवात्मचर्चा, तर्हि -'न हन्यते' हन्यमाने शरीरे' इति कथम? पूर्ववत् सम्भोगसम्प्राप्त्यभाव एव प्रतिपाद्यते शरीरे हन्यमानेऽपि तस्मिन् जीवात्मना सहतिष्ठन्-साक्षी परमात्मा न हन्यते। अथ तर्हि उभयो समानत्वे जीवात्म-परमात्मनो को विशेषः? इति चेत्; साधु पृष्टमायुष्मता। इयान् विशेषः यच्छरीरे हन्यमाने जीवात्मापि न हन्यते; किन्तु तत्रत्य पीडया परिभूयते परन्तु परमात्मा तु तयापि न परिभूयते। **''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च''** (श्वेता० उप० ६-१२) इति श्रुतेः।

तस्मात् अस्य प्रकरणस्य परमात्मविषयत्वात् चराचराणां ग्रहणाच्च जगत् प्रलयविषये परमात्मैव अत्ता। यथोक्तं भागवते कपिलेन देवहूतिं प्रति-

भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्दृष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः।। ३/२८/४१

कठोपनिषत्प्रकरणे ऽस्मिन् साम्रेडं ब्रह्म शाश्वतम्।
प्रकीर्णं तत्प्रकरणत्वाद् ब्रह्मात्ता श्रुतिसम्मतम् ।।श्रीः।।
द्वितीयञ्चधिकरणां द्वितीयांघ्रौ प्रभाषितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण मुदे सीतापतेः किल।।

श्री राघवः शन्तनोतु

।।गुहाप्रविष्टाधिकरणम्।।

अथ द्वाभ्यां गुहाप्रविष्टाधिकरणं निरूप्यते।
ननु कठोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्यां श्रूयते-

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नये ये च त्रिणाचिकेताः।।

अस्मिन् गुहाप्रविष्टयोः सन्देहः। अत्र गुहां कौ प्रविष्टौ? सन्निहितत्वात् बुद्धेर्जीवस्य? बुद्धिजीवौ उताहो प्राणेन सम्बद्धत्वात् प्राणजीवौ अथवा अनादिकालतो बद्धसख्यत्वात् जीवात्मपरमात्मानौ इति पूर्वपक्षमुत्तरयन् प्राह। भगवान् वेदव्यासः,

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्- ।।१/२/११।।

अतो हि गुहां हृदयरूपिणीं कन्दरां प्रविष्टौ अनादिकालतः कृतप्रवेशौ

आत्मानौ। आत्मा च आत्मा च आत्मानौ। सरूपत्वात् एकशेषः। प्रथमः आत्मशब्दः जीवात्मपरः द्वितीयश्च परमात्मपरः। किं प्रमाणम्? इत्यत आह, हि हेतुद्योतकोऽयं निपातः। यतो हि तद्दर्शनात्, यतस्तद्दर्शनं अतो हेतोः। तच्छब्दोऽत्र पूर्वकथितयोः जीवात्मपरमात्मनोः परामर्शकः; तथा च तयोः जीवात्मपरमात्मनोः दर्शनं तद्दर्शनम् तस्मात् तद्दर्शनात्। श्रुतौ स्पष्टमेव जीवात्मपरमात्मनोस्तत्र दर्शनं वर्तते। तथा हि - लोक्यते इति लोकः शरीरः तस्मिन् परार्थे परमे हृदयेकदेशे गुहां अष्टदलरूपिणीं सुकृतस्य सत्कर्मणः ऋतं शुभकर्मफलं पिबन्तौ छायातपौ इव जीवात्मपरमात्मानौ आस्ते। अत्र छाया जीवः आतपो भगवान्। जीवे स्वाभाविकोऽन्धकारः, परमात्मनि नैसर्गिकः प्रकाशः।

ननु जीवस्य ऋतपानं सिद्धम्। 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति'- इति श्रवणात्। परन्तु न परमात्मनः। अनश्नन्नन्यः इति निषेधात्? इति चेच्छृणु, जीवे पिबति शुद्धः परमात्मनि ण्यन्तार्थकः इति गृहाणः। एवमन्यत्रापि जीवात्मपरमात्मनोर्गुहाप्रवेशोदृष्टः यथा अत्रैव द्वितीयवल्यां परमात्मनः,

> तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
> अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।

(कठ० उप० १-२-१२)

एवं जीवात्मनः अत्रैव द्वितीये प्रथमवल्याम्- ''या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।। गुहां प्रविष्टा तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत।'' (कठ उप० २-१-७)

एवं स्मृतावपि, - ''देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत (गीता २-३०)'' ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति (गीता १८-६१)

यथोक्तं गर्भस्तुतौ देवैः श्रीभागवते-

> एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल-
> श्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
> सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
> दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ।।

(भागवत १०-२-२७)

> जीवात्मा परमात्मा च सखायौ द्वाविमौ गुहाम्।
> हृदयाख्यां प्रविष्टौ स्तस्तथैव दृश्यते श्रुतौ ।।श्रीः।।

एतत् समर्थने अपरमपि हेतुमाह,

विशेषणाच्च ।।१-२-१२।।

'विशेषणात्' पञ्चम्येकवचनान्तम्। 'च' अव्ययम्। 'चकारः' स्वपक्षद्रढीकरणार्थः विशेषणादपि हेतोः अत्र गुहां प्रविष्टौ जीवात्मपरमात्मानावेव इह कानिचिद् विशेषणानि। तानि तयो रेव संगच्छन्ते। यथा,

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" (मुण्डक उप० ३-२-१)

इह सुपर्णौ सयुजौ सखायौ इति विशेषणानि तयोरेव । मनो जीवात्मनोः, प्राणजीवात्मनोः बुद्धिजीवात्मनोश्च नित्यसखित्वाभावात् अतो जीवात्मपरमत्मानौ गुहां प्रविष्टौ। किं च पूर्वोक्तयोः **"तं दुर्दर्शं"** (कठ १-२-१२) **"या प्राणेन संभवति"** (कठ उ० १-४-७) इत्यनयोः प्रोक्तानि विशेषणानि ब्रह्मजीवात्मभ्यामृते न क्वचिदपि सङ्गस्यन्ते।

तस्माद्- गुहां प्रविष्टौ जीवपरमेश्वरौ।यद्यप्येतद् व्याख्यानं प्राचामनुरोधेन-नव्यास्तु- **"विशेषणाच्च"** (१-२-१२) इत्यस्य अन्यथैव व्याख्यानं प्रस्तुमः।

कथं जीवात्मपरमात्मनावेव गुहां प्रविष्टौ नान्यौ कौचनापि? किमत्र काचिद् राजाज्ञा?-

इति चेदुच्यते। नैव राजाज्ञा! किन्तु महाराजाज्ञा। कस्य महाराजस्य? इतिचेत्, करतलीकृतसमस्तवेदवेदाङ्गस्य साक्षाद्भगवदीयकलावतारस्य परमोदारस्य पाराशरकुमारस्य वसिष्ठवंशवैजयन्तीविलासस्य भगवतो व्यासस्य। का सा? 'विशेषणाच्च' - इत्येव, नावगन्तुं शक्यते चेत्, अवगमयितुं प्रयते।

जीवोऽयं परमात्मनो विशेषणम्। सम्बन्धश्च शरीरशरीरिभावः। **"यश्चात्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।। य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"** (माध्या० शा० बृह० उप० ३-२२)

इति माध्यान्दिनाः पठन्ति। काण्वास्तु आत्मशब्दस्य स्थाने 'विज्ञानभित्ति' पठन्ति। तदप्यभीष्टमेव आत्मपर्यायत्वात्। एवं शरीरशीरिभावसम्बधेन जीवात्मा परमात्मनो विशेषणं सिद्ध्यति। तस्य विद्यमानत्वे सति विधेयभूतपरमात्माऽन्वितत्वेसति निर्विशेषब्रह्मव्यावर्तकत्वाद् विशेषणत्वं सूपपन्नम्। विशेषण विशेष्ययोः अपृथग्भावः सर्वतन्त्रसमयः। चिज्जीवः, अचितप्रकृतिः उभे अपि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधे सत्यौ न परमात्मानं जहीत। अतो विशेषणात् परमात्मविशेषणाद्धेतोः द्वयोर्मध्ये

अपृथक्भावसम्बन्धे सिद्धे गुहां प्रविष्टौ जीवात्मपरमात्मानौ शेषशेषिणौ इति सूत्रकार एव विशिष्टाद्वैतवादसिद्धान्तं निर्णिनाय। इदं श्रीराघवकृपास्फुरितमनीषस्य मे प्रातिभं मनीषितम्- यथा श्रीभागवते

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं, गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं, नमामहे देववरं वरेण्यम् ।।

(भागवत ८-५-२६)

विशेषणानां सद्भावात् परमात्मविशेषणात्।
जीवस्य ताविहात्मानौ गुहास्थावितिनिश्चयः ।।श्रीः।।
"तृतीयाञ्चाधिकरणं पादे ऽस्मिन् भाषितं मया।
श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रार्यसंज्ञिना।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथान्तराधिकरणम्।।

छान्दोभ्योपनिषद्युपकोशलविद्यायां प्रवर्तमाने ब्रह्मविचारे इत्थमाम्नायते। यदक्षिणि यः पुरुषो विलोक्यते, स एव आत्मा इति। यथा-

"य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेद्ब्रह्मेति (।।छा० उ० ४-१५-१)

अत्र अक्षिणि किमु जीवः उताहो चक्षुरघिष्ठानभूतः आदित्यदेवः, उताहो परमात्मा। तत्र "**रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः**" इति श्रुतेः। "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्" इति मन्त्रवर्णाच्च, अक्षिणि दृश्यमानः पुरुषः सूर्यनारायण एव, इति पूर्वपक्षः। अथोत्तरमाह षड्भिः तत्र प्रथमं सूत्रम्-

"अन्तर उपपत्तेः" १-२-१३

अन्तं संसारस्य अन्तं राति भक्तेभ्यः ददाति इति अन्तरः समीपो वा। अक्षिणि अन्तरः वर्तमान पुरुषः परब्रह्म एव। कथं? इत्यत आह "उपपत्तेः" अग्रे दत्तानां विशेषणानां परब्रह्मण्येव उपपत्तेः। अत्र 'अभयत्वं, अमृतत्वं ब्रह्मत्वं' च जीवे न संघटते। जीवाः अनेके "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान् (।।कठ २-२-१३) "**द्वितीयाद्वै भयं भवति**", जीवो भावे सद्वितीयत्वसंभावनया तत्र भयंमनिवार्यम्। एवंस्मृतिरपि "अभयममृतं च" सततदत्तभक्ताभये निरामये श्रीरामे ब्रह्मण्येव। अत एव वाल्मीकिः स्मरति-

"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम (।।वा० रा० ६-१८-३३)

तस्माद् गोपीगीते गोपीका अपि-

"विरचिताभयं वृष्णि धुर्यते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।"
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्
(।।भागवत १०-३१-५)

एवममृत्वमपि तव-

कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदाजनाः
(।।भागवत १०-३१-९)

एवं अत्रत्यविशेषणानां ब्रह्मण्युपपत्तेः अक्षिणि दृश्यमानो पुरुषः अन्तरः परमात्मैव यथोक्तं भागवते भगवता उद्धवं प्रति-

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुणि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृटक् ।।
(भागवत ११-१५-२६)

नेत्र संस्थो हि पुरुषो दृश्यते यस्तु योगिभिः।
विशेषणानामुपपत्तेरान्तरः सतु राघवः।।

नन्वारोपिततया मुक्तजीवेऽपि अमीषां गुणानामुपपत्तिरिति चेत्। आह-

"स्थानादिव्यपदेशाच्च ।।१-२-१४

स्थानं आदिर्येषां ते स्थानादयः तेषां व्यपदेशः इति स्थानादिव्यपपदेशः तस्मात् 'स्थानादिव्यपदेशात्' - पञ्चम्येकवचनांन्तः 'च' - अव्ययं द्विपदमिदं सूत्रम्। किंच- स्थानादीनां व्यपदेशादपि हेतोः अक्षिणि अन्तरो भगवानेव। बृहदारण्यके अन्तर्यामी ब्राह्मणे उद्दालक प्रश्नमुत्तरयता भगवता याज्ञवल्क्येन चक्षुर्विषयको मन्त्रोऽयमुदीरितः- "यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (।। बृ० उ० ३-७-१८) अत्र स्थानप्रमुखाः पञ्चनिर्देशाः, ते च चक्षुराधारा एव। चक्षुषि तिष्ठन् इत्यनेन चक्षुस्थानता, चक्षुषोऽन्तरः इत्यनेन चक्षुर्बाह्यत्वम्। चक्षुर्नवेद इत्यनेन चक्षुरविषयत्वं, यस्य चक्षुः शरीरं इत्यनेन चक्षुर्विग्रहत्वं, चक्षुरन्तरः यमयति इत्यनेन चक्षुर्नियम्यत्वं व्यपदिष्टम्।

यद्येतस्य चक्षुः शरीरं तर्हि शरीरे शरीरिणः सद्भावन्यायेन अक्षिणि दृश्यमानः पुरुषः परब्रह्मैव - यथोक्तं भागवते

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ।।

(भा० २-१०-८)

स्थानबाह्यशरीरज्ञानियम्यव्यपदेशतः।
नेत्रस्थो वै पुमान् ब्रह्म रामचन्द्र स आन्तरः।।

ननु एषोऽन्तरक्षिणि दृश्यते "इति मन्त्रे दृश्यत्वश्रवणात् जीवात्मपरमात्मनोः दृश्यत्वाभावात्, अक्षिणि वर्तमानः पुरुषः जीवप्रतिबिम्ब एव? इति शङ्कामपनुदन्नाह-

"सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।।१-२-१५

सुखेन विशिष्टं सुखविशिष्टं तस्याभिधानं सुखविशिष्टाभिधानं तस्मात् 'सुखविशिष्टाभिधानात्' पञ्चम्येकवचनान्तं, 'एव च - इत्यव्ययपदे त्रिपदमिदं सूत्रम्। अत्र श्रुतौ सुखविशिष्टस्य परमात्मनः अभिधानाद्धेतोः अक्ष्यन्तरो ब्रह्मैव न जीवः न वा तत्प्रतिबिम्बः। यथा "**एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा अभयममृतं**" भयभीतस्य मृत्युग्रसितस्य च न सुखविशिष्टता। अत्र अभयं अमृतं इत्युक्त्वा परमात्मनो भयमृत्युशून्यत्वं अभिधाय सुखविशिष्टत्वं प्रतिपादितम्। तच्च श्रीराम एव ब्रह्मणि। यथा च श्रीमानसे-

चारिउ शील रूप गुन धामा।
तदपि अधिक सुखसागर रामा ।।

(मानस १-१९८-६)

रुपान्तरम् चत्वारोऽपि च रुपस्य धामानि गुणशीलयोः।
तेषामतिशयो रामः सुखस्य सागरः किल।।

अतएव विभीषणं प्रति अभयदानं, वानराणांचोज्जीवनं संघटते। यथा श्रीमानसे-

"सुधावृष्टि भै दुहुँदल ऊपर।
जिए भालु कपि नहिं रजनीचर ।।

(मानस ६-११३-६)

रूपान्तरम्-

सुधावृष्टिर्बभूवाथ सेनयोश्च द्वयोः किल।

अजीवन् ऋक्ष कपयो न पुनारजनीचराः।।

इदमभयत्वं अमृतत्वं च जीवे न संभवम्। यथा प्राह श्रीभागवते कृष्णावतार प्रसंगे श्रीदेवकी-

"मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् लोकान् सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादव्याजं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति।।

भागवत १०-३-२७

तस्मात् अत्रत्य शब्दानुरोधेन **"श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्"** इतिन्यायेन च अक्ष्यन्तरो राजीवलोचनो ब्रह्म राम एव। इदं श्रीराघवकृपालब्धसमाधानस्य मम व्याख्यानम्। अथ प्राचामनुरोधेनापि विवृणोमि- कामलायनगोत्रोत्पन्न उपकोशलः जबालापुत्रस्य सत्यकामस्य सन्निधौ द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचर्यमुवास। सत्यकामेन समावर्त्य सर्वेषु शिष्येषु गृहं प्रेषितेषु असमावर्तितं ग्लानिमापन्नं निजपरिचरणपरं अग्नयः प्रकटीभूय तस्मै उपदेशमिमं प्रोचुः।

"अथ ह्यग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः।।

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स हो वाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च खं च न विजानामीति ते होन्चुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति।(छा० उ० ४-१० ४, ५) इह ख शब्दवाच्य आकाशः तत्र कखयोरभेदात् कं ब्रह्म खं ब्रह्म इत्यस्य सुखविशिष्टता? इति चेत्! कं सुखं अस्त्यस्मिन् इति कं **"आकृतिगणेन"** अर्शआदित्वादजन्तं, मत्वर्थश्च वैशिष्ट्मं। अनन्तरं ते समूह्य आकाशं ब्रह्म इति प्रोचुः। अथ गार्हपत्यः आदित्ये ब्रह्म प्रोवाच। अन्वाहार्य वचनः चन्द्रमसि ब्रह्म। आवाहनीयः विद्युति ब्रह्म। किन्तु आकाशसूर्यचन्द्रविद्युत्सु निरूपितेषु ब्रह्माधारेषु तत्राप्यसन्तुष्यन्तो अग्नयः इयं अस्मद्विद्येति व्याहृत्य इमां बहिरङ्गां निवेदयाञ्चक्रुः। अन्तरङ्गां आत्मविद्यां तुभ्यं आचार्य उपदेक्ष्यति, इति तिरोदधिरे। आचार्यः प्रोष्यागतः निरीक्ष्य ब्रह्मतेजसम्पन्नं उपकोशलं विशेषमाह "अक्ष्याधारं ब्रह्म इति तत्रत्यवस्तुस्थितिः। अत्र कत्वरूपसुखविशिष्टस्य ब्रह्मत्वेनाभिधानादस्यामेव विद्यायां द्वयोरुपन्यासात् काभिन्न स्वरूपं, अक्ष्याधारभूतं ब्रह्म अन्तरः इति प्राचीनव्याख्यानं हार्दम्। अत्र किमपि विचार्यते, पूर्वपक्षोऽयमन्तरधिकरणे अन्तः शब्दश्च **"य एषोऽन्तरक्षिणि दृश्यते"** इति छान्दोग्ये चतुर्थाध्यायस्य पञ्चदशखण्डस्य प्रथमः। सुखविशिष्टत्वं च इतः पूर्वं चतुर्खण्डव्यवहिते दशमे **"प्राणोब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति"** सति संभवे यत्ररोगस्तत्र निदानं करणीयम्। शिरषि पीड्यमाने चरणनिदानं न

व्यावहारिकं, वस्तुतः कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति न सिद्धान्तः। अतएव तत् अग्निविद्यात्वेनोपदिष्टं अक्ष्यन्तरप्रकरणमेव। आत्मविद्या सिद्धान्तभूता। सिद्धान्तप्रतिपादनाय पूर्वपक्षो नाद्रीयते, तस्मात् सिद्धान्तमन्त्र एव हेतुबीजं मृग्यं सुखविशिष्टाभिधानरूपम्। तदत्रैव द्वितीये मन्त्रे अक्षिणि दृश्यमानस्य ब्रह्मत्वमभिधाय सुखविशिष्टत्वं स्पष्टमभिधीयते। यथा-

"य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति।। "एत संयद्वाम इत्याचक्षत एत हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद।। "एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद।। एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ।। (छा० उ० ४-१५-१, २, ३, ४)

इह एतं संयद्वामं आचक्षते इत्यत्र एतच्छब्देन प्रथममन्त्रचर्चितः पुरुष एव परामृश्यते। सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शित्वस्वभावात्। फलतः एतं अक्षिणि दृश्यमानं पुरुषमेव पूर्वं अभयामृतब्रह्मपदैर्व्यपदेश्यमानं संयद्वामं इत्याचक्षते। वामशब्दो हि कल्याणपर्यायं सुखवाचि, 'संयन्ति सम्यक् यान्ति वामानि यं स संयद्वामः तं संयद्वामं इति तत्र विग्रहः। स च नैवास्मात्कल्पनप्रसूतः, श्रुतिः स्वयमेव संयद्वाम शब्दं बहुव्रीहिणा विगृह्णाति। सर्वाणि वामानि एनं संयन्ति इति।

एवमत्रैव समस्तसुखविशिष्टस्य परमात्मनः स्पष्टं अभिधानं। वस्तुतस्तु- 'अस्ति भाति प्रियं- 'इति त्रीणि ब्रह्म सत्तालिङ्गानि, अमीषांमर्थानुवादः - 'सच्चिदानन्द' इति। अस्तीति सत् भातीति चित् प्रियमिति आनन्दः। अत्र प्रथमेन मन्त्रेण अस्तित्वसाधनं पुनर्द्वाभ्यां आनन्दव्यवस्थापनं, पुनस्तूर्येण एष वै भामनी "इत्यादिना चित्प्रतिष्ठा। एवं सिद्धान्तमन्त्रेषु एव व्याक्रियमाणसूत्रघटक-सुखविशिष्टशब्दः सामग्रयां सत्यामपि तदर्थमितः पूर्वं कथं पूर्वाचार्यैरन्वधावि? इति निदानं तु त एव प्रष्टव्याः, वयं तु 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता" इत्येदं कथयित्वा विरमाम अतएव श्रीभागवते शुकाचार्यः-

गोप्यश्चकृष्णमुपलभ्यचिरादभीष्टं,
यत्प्रेक्षणेदृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरन्तम्।।
सुखेनैव विशिष्टस्य प्रकरणे ब्रह्मणोऽत्र वै।
अभिधानादतोनैव जीवो रामः स नेत्रगः ।।श्रीः।।

प्रकरणं निगमयति-

"अतएव च स ब्रह्म" ।।१-२-१६।।

एतष्मादित्यतः "एतदोऽन्" (पा० अ० ५-३-५) इत्यनेन अनादेशः। एवकारः इतरहेतुव्यव्छेदकः, चकारः समुच्चयार्थः निश्चयार्थो वा। अग्निभिः प्राण क खेषु ब्रह्मत्वेनोपदिष्टेषु कं तु विजानामि खं तु न विजानामि। इति जिज्ञासमान उपकोशले "यदेव खं तदेव कं यदेव कं तदेव खं इति सुखविशिष्टस्य आकाशवद् व्यापकस्य ब्रह्मणः अभिधानादेव तत् प्रकरणस्थः अक्ष्याधारः ब्रह्म। इति प्राचां पन्थानमनुसरता व्याख्यातम्।

वस्तुतस्तु एतच्छब्दप्रकृतिकस्तसिलान्तोऽयम् अतः इति शब्दः, सन्निकृष्टं सिद्धान्तिनं हेतुं पराम्रक्ष्यति।

"कं ब्रह्म खं ब्रह्म "इति न सिद्धान्तः। इतरथा तं समुपदिश्याग्नयो ब्रूयुरुपकोसलम्। यथा वारुणीविद्या समाप्तौ प्रोक्तं तैत्तिरीये- **"सैषा भार्गवी वारुणी विद्या** ।।(तै० उ०-३-६) प्रकृते तु अग्नयः **"कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति"** स्वविद्यां आचार्योपदेक्ष्यमाणात्मविद्यातः क्षोदियसीं प्राहुः। यथा-

"ते होचुरुपकौसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चायार्यस्तु ते गतिं वक्ता" ।।(छा० उ० ४-१४-१)

एवं पूर्वपक्षसिद्धान्तः कथमेतच्छब्दपरामृष्टः स्यात्? तस्मान्मदुक्त एव पक्षो ज्यायान्। तेन अतः अतिसन्निकृष्टात् चतुर्थाध्यायस्य पञ्चदशखण्डियात् मन्त्रत्रये प्रतिपादितात् सुखविशिष्टकथनरूप हेतोरेव नान्यस्मात् अपि **"य एषोऽन्तरक्षिणि"** इति मन्त्रे प्रोक्तः स पुरुषः ब्रह्मैव। एवकारः ब्रह्म इति शब्देनान्वयन् ततो व्यतिरिक्तं जीवं प्रतिबिम्बं च व्यवच्छिनत्ति । अहो! दुर्भाग्यमेतत्, यच्छङ्कराचार्येण निगदितं - **"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति"** सिद्धान्ताभासरूयमग्निविद्यास्थलमेव गतानुगतितया वल्लभाचार्येभ्यः सर्वेऽपि पूर्वाचार्या अनुचक्रुः।

"विहायवल्लचार्यान् मध्वरामानुजावपि।
अन्धाविवान्वकुरुतां शाङ्करं ह्यत्र कापथम्।।
कण्ठलग्नं मणिं पश्यन - कोटिसूर्यसमप्रभम्।

तमुपेक्ष्यं बहिर्याति वीक्षितुं धिग् विडम्बनम् यथोक्तं भागवते-

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं, स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।
प्रत्यकप्रशान्तं सुधियोपलम्भनं, ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ।।

(भा० ५-१९-४)

अस्मादेव समीपस्थात् हेतोब्रह्म सनातनम्।
अक्षिस्थः पुरुषोब्रह्म न जीवो प्रतिबिम्बको ।।श्रीः।।

अथ अत्रत्य फलश्रुत्यनुसारेणापि तमेव पक्षं दृढयति-

"श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।।१-२-१७

"ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारूणिः सत्प्रतीममात्मानं वैश्वानर मध्येति ।।छान्दो० ५/१६/२।। आत्मनं वैश्वानरं इति कोनु आत्मा? किं ब्रह्मेति अनयोः स्थाने कर्मत्वेन निर्दिष्टं दृष्टवा ब्रह्मपर्यायः वैश्वावर इति निश्चीयते। एवभ्य प्राणाग्निर्वैश्वानरः नाग कूर्मकृकलधनञ्जय वैश्वानरेषु अन्यतमोऽयं पुनश्च- आत्मानं वैश्वानर शब्दस्यैव प्रयोगः। अनन्तरं उद्दालकेन प्रेषितान् प्राचीन शालादीन अश्वपतिः केकयः आह- अधुनायावत् यूयं वैश्वानरं अंशतः मधध्वेस्म। पूर्ण वैश्वानरोपासनात्वियम्-

"तान्होवा चैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वा सोऽत्रमत्थ यक्त्वेतमेव प्रादेशमात्र मभिविमानमात्मानं वैश्वानर मुपाक्ते स सर्वेषु केकिषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेण्वा हमस्वन्नमत्ति।।" (छान्दो० ५/१८/१।।)

अत्र संदेहः। कोऽयं वैश्वानरः? ब्रह्मशब्दपर्यायात् परमात्मा पुनश्च- **"तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथित्येव पापावुर एव वेदिर्लोम्य नि वर्हिर्हृदयं गाहिपत्यो मगेऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः।।"** छान्दो० ५/१८/२।।

एवं परिकलिता वयवः किं जीवः? उताहो भूताग्निः। यद्वा- प्राणः यद्वा देवता। यतोहि सर्वेषां कृते श्रुतिषु निर्देषा उपलभ्यन्ते। जाठराग्नौ यथा- अयमग्निर्वैश्वानरो योऽर्यमन्तः पुरुषे येनेदयन्नमभ्यात्तं थदिदमद्यते बृहद० ७/९/६।। भूताग्नौ यथा- विश्वम्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतु मह्नामकृण्वन् (ऋ० सं० १०/८८/६२) देवतायां यथा- वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः (ऋ० सं० १/९८/१) परमात्मन्यपि "तदात्मन्येव हृदयेऽवनौ बैश्वानरे प्रास्यत्" (अष्टक ३ प्रश्न० ११अनु० ८) प्रश्नोपनिषद्।। प्राणेऽपि तावत्- **"स एव वैवानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरूदयते"**

श्रुताः उपनिषदः येन स श्रुतोपनिषत्कः तस्यगतिः इति श्रुतोपनिषत्कगतिः तस्याअभिधानं इति श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानं, तस्मात् श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात् पञ्चम्येकवचनान्तं 'च',- इत्यव्ययं द्विपदमिदं सूत्रम्। उपनिषच्छब्दश्च प्रकरणात् अत्रत्योपकोशलविद्यापनिषत्परः। यद्यत्रोपकोसलविद्यायां वर्णितः अक्ष्याधारः पुरुषः ब्रह्म नाभविष्यत्? तर्हि एतां ज्ञातवतः गतिं श्रुतिर्नाभिधास्यत्। अभिहितवती च गतिं त्रिः; अतो ज्ञायते यदक्ष्याधारपुरुषः राजीवलोचनो भगवान् रामो ब्रह्मैव। तथा हि- **"सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद"** ।।(छा० उ० ४-१५-३) **"सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद"**।।छा० उ० ४-१५-४।।

यत्तु- केचन उपनिषदन्तराणां फलश्रुतिरत्र सङ्गमयितुं समीहन्ते त **"उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितकल्पने मानाभावः"** इति न्यायात्। मया न श्रद्धीयन्ते **"न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचते सत्यभिक्षुके"** इति न्यायेन च यथोक्तं भागवते श्रीकृष्णेन उद्धवं प्रति-

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः ।।

(भा० ११-२५-३१)

श्रुतोपनिषदः पुंसो गतिः श्रुत्या त्रिरीरिता।
ब्रह्मण्येव च सा युक्ता ततो ब्रह्मान्तरः पुमान् ।।श्रीः।।

"ननु स्यान्नाम" श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानं **"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"** इति श्रुत्यनुसारं ब्रह्मवेत्तर्यपि आनन्दादिगुणानामुपपत्तेः, अत्र प्रतिबिम्बो जीवो वा अक्ष्याधारः। इत्यत आह हेतुद्वयगर्भकं सूत्रम्-

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।।१-२-१८।।

चकारः पक्षान्तरोपस्थापकः पुनश्च ब्रह्मसमर्थनहेतुद्वयमुपस्थाप्य विश्रमयत्यधिकरणम्। अनवस्थितेः न अवस्थितिः **"छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्"** (रघुवंश २-६), तस्मात् पराधीनावस्थितित्वात् नेत्रे स्वतन्त्रावस्थितेरभावात् प्रतिबिम्बो न अक्ष्याधारः। असम्भवादपि निरस्तस्वतन्त्रसत्ताके अभयत्वादीमसम्भवादपि न प्रतिबिम्बः। एवं जीवात्मत्मापि सर्वेन्द्रियभासकत्वात् हृदये परमात्मना सह स्थितत्वाच्च नैवाक्ष्याधारः। तथा अस्मिन् विस्मृतस्वरूपत्वात् कलितजननमरणभये सामये अमृतत्वादीनामसम्भवाच्च नेतरः प्रतिबिम्बः जीवो वा न ब्रह्म। यथोक्तं श्रीभागवते-

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।

एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्।।
आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ।।

(भाग ११-२८-५, ६)

अवस्थितिः पराधीना जीवात्मपरमात्मनोः
ततस्तौ नान्तरस्तत्र ह्यमृतादेरसम्भवात्।।
"चतुर्थञ्चाधिकरणे द्वितीयाङ्घ्रौ प्रभाषितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण भाष्येऽस्मिन् रामभक्तये।।

।।श्री राघवः शान्तनोतु।।

।।अथान्तर्याम्यधिकरण्।।

अथ त्रिभिः अन्तर्याम्यधिकरणं निरूपयति-

"अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मण्यपदेशात् ।।१-२-१९

बृहदारण्यके अन्तर्यामिब्राह्मणे उद्दालकः अरूणपुत्रः मद्रेषु गन्धर्वगृहीतायाः ब्राह्मणभार्यायाः गन्धर्वविषमुदाहरन् तत्रत्यं वृत्तान्तं श्रावयामास। तत्र च तेन पृष्टमन्तर्यामिलक्षणमपि पप्रच्छ- यश्च इमं परञ्च लोकं सर्वाणि भूतानि च अन्तरो यमयति, तं त्वं वेत्थ!, यदि नहि, तर्हि वेदविदवदिनस्ते मूर्धा निपतिष्यति? इति पृष्टो याज्ञवल्क्यः

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृ० ३०-३-७-३) एवमादिभिर्मन्त्रैरन्तर्यामिपदार्थं पृथिव्यादिविज्ञानान्तनियामकत्वेन विवेचयामास याज्ञवल्क्यः। तत्रायं सन्देहः यत् पृथिव्यादिविज्ञानान्तानां पदार्थानां नियामकः विज्ञाता शरीरी कः? जीवात्मा परमात्मा वा? जीवात्मैव तस्य लब्धसिद्धेरपि तादृश् गुणोपपत्तेः इति पूर्वपक्षः। ब्रह्मत्यनुवर्तते, 'अन्तर्यामी'– 'प्रथमैकवचनान्तं', अधिदैवादिषु स्पतमीबहुवचनान्तं, "तद्धर्मव्यपदेशात्"– पञ्चम्येकवचनान्तं त्रिपपदमिदं सूत्रम्। 'अधिदैवादिषु'– इत्यत्र वैषयिकी सप्तमी, विषयत्वं च प्रयुक्तत्वरूपम्। एवं अधिदैवादिप्रयुक्तः अन्तर्यामी ब्रह्मैव, तद्धर्मव्यपदेशात् ब्रह्मधर्मव्यपदेशात्- अत्र अन्तर्यामिप्रकरणे अधिदैवादिषु विंशतिकृत्वः प्रयुक्तः अन्तर्यामिशब्दः ब्रह्मवाचक एव। कथं? हेतुमाह– तद्धर्मव्यपदेशात्, तत्पदेन परब्रह्म परामृश्यते तस्य धर्माः तद्धर्माः तेषां व्यपदेशः तद्धर्मव्यपदेशः तस्मात् तद्धर्मव्यपपदेशात्।

यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिषु प्रयुक्तः अन्तर्यामि त्रीणि विषिणोति। अधिभूतं, अधिदैवं, अध्यात्मं च। तत्राधिभूतानि पृथिवीजलतेजःप्रभृतीनि, अधिदैवानि आदित्यादीनि, अध्यात्मानि प्राणादीनि। येषु अधिभूताधिदैवादिषु प्रयुक्तः अन्तर्यामि शब्दः ब्रह्मैव तात्पर्ययति। तत्र सर्वत्रैव तस्य धर्माणां 'स्थितत्व-बहिर्भूतत्व-ज्ञानाविषयत्व-शरीरित्व-नियामकत्वामृत्वादीनां' व्यपदेशात्। अल्पशक्तिको जीवः पृथिव्यादीनां नियामको न भवितुं शक्नोति। तस्मात् श्रीसीतारामाख्यं ब्रह्म अन्तर्यामी। यथा श्रीमानसे-

अन्तर्यामी राम सिय तुम सर्वज्ञ सुजान।
जौं फुरि कहहुँ तो नाथ निज कीजिय वचन प्रमान।।

(मानस २-२५४)

रुपान्तरम्-

सर्वान्तर्यामिणौ सीतारामौ सर्वज्ञ एव हि।
नाथ सत्यं यदि ब्रूयां प्रमाणीक्रियतां वचः।।

अतएव भागवते-

स एष आद्यः पुरुषः कल्पेकल्पे सृजत्यजः।
आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च ।।

(भा० २-६-३-९)

अधिदैवादिषु प्रोक्तो ह्यन्तर्याम्यच्युतो हरिः।
अमृतत्वादि धर्माणां ब्रह्मणो व्यपदेशतः ।।श्रीः।।

ननु एतस्य धर्मषट्कस्य प्रकृतौ भूयो निवेशात् अत्र सैवान्तर्यामी पदवाच्या? इति पूर्वपक्षं निरस्यन्नाह-

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।।१-२-२०।।

स्मृतिः सांख्यस्मृतिः तया प्रोक्तं स्मार्तम्, प्रकृतिः सांख्यकल्पस्मृतिप्रसूता न अन्तर्यामी भवितुं न शक्नोति। कथं? अत आह- अतद्धर्माभिलापात् तस्य प्रकृतिपर्यायस्याचेतनस्य अविवेक्यादयो धर्मा तेषां अभिलापः कथनं तद्धर्माभिलापात्। तस्या प्रकृतेः अचेतनस्याः धर्माणां अविवेकित्वादीनां कथनाभावात् अत्राचेतनं प्रकृत्यपरनामधेयं प्रधानं अन्तर्यामी ब्रह्म न। प्रकृतिः खलु विज्ञानादीन् कथं नियमयेत्? तस्मात् अत्रान्तर्यामी श्रीसीतारामाभिधं ब्रह्मैव। यथा भागवते-

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तथैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत।।
यथा प्रसुप्त पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा।।

(भागवत ३-२६-७०, ७१)

अचेतनायाः प्रकृतेरभिलाषश्च तत्र वै।
अभावात् तत्प्रकरणे च सा नान्तर्यामितामियात्।।श्रीः।।

ननु न स्यात् प्रकृतिः अन्तर्यामी, अचेतनत्वात्, किन्तु चेतनो जीवः स्यान्नाम अन्तर्यामी, चक्षुरादित्वात् तस्मिन्नेव द्रष्टृत्वादेरुपत्तेः।यथा "अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता।(बृ० उ० ३-७-३), इत्यत आह–

शारीरञ्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।।१-२-२१

शरीरं प्रविष्टः शारीरः "शैषिकोऽण," शारीरः जीवात्मा, पूर्वसूत्रात् 'न'– इत्युनुवर्तते शारीरश्च न अन्तर्यामी। यतो ह्येनं जीवात्मानं उभयेऽपि माध्यान्दिनकाण्वाः भेदेन नामभेदेन विषयभेदेन च अधीयते, अध्ययनविषयं कुर्वन्ति। माध्यान्दिनाः– "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० उ० ३-७-२२)

काण्वास्तु– "आत्मशब्दस्थाने विज्ञानमिति" पठन्ति। तयोः पर्यायेऽप्यर्थसाम्येन एकीभावः। एवं शारीरो जीवात्मा, अयं परमात्मा पुनश्च– "सदाजनानां हृदये सन्निविष्टः" (कठ० १-४-१३)

एवं द्वयोर्धार्यधारक रक्ष्यरक्षकः– स्वामीसेवकभावेन परमात्मनो जीवं भेदयन्ति। तस्मात् जीवो नान्तर्यामी, अन्तर्यामी तु केवलं भगवान् राम एव। अतएव मानसकारा प्राहुः-

अन्तर्यामी प्रभु सब जाना। पूछत काह कहहु हनुमाना।।

(मानस ६-३७-७)

रुपान्तरम्–

सर्वमेव समाजग्यौ अन्तर्यामी च राघवः।
किं प्रष्टुमिच्छसि प्रेत्य हनुमान् साधु भव्यताम्।।

ननु अन्तर्यामित्वेन ब्रह्मणि साधिते द्रष्टृत्वादयस्तस्मिन् कथं घटेरन्?

अन्तर्यामिणमुद्दिश्य श्रुतिः स्पष्टं- **"अदृष्टः द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता"** इति मिथोविरुद्धधर्मचतुष्टययुग्ममाह। ब्रह्मणस्तु नैतत् संभवम्। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं"- इत्यादिश्रुतेः? चेन्मैवम्! तस्य कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य इन्द्रियनिरपेक्ष्य विषयग्रहणसामर्थ्यवत्वात्। दिव्येन्द्रियकरणसम्पन्नत्वाच्च। तथा हि श्वेताश्वरोपनिषदि-

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।

(श्वे० उ० ३-१६)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।।

(श्वे० उ० ३-१७)

किञ्च- जीवस्येव न तस्येन्द्रियाधीनत्वं, तस्य सर्वेन्द्रियेषु सर्वेन्द्रियवृत्तयः तस्यैकैकमिन्द्रियं सर्वेन्द्रयवृत्तिसम्पन्नं भवति। अतएव बृहद्ब्रह्मसंहितायां- **"यस्येन्द्रियाणि सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति"** सर्वशक्तिमत्वात् स चरणेनापि अशितुं शक्नोति चक्षुषापि धावितुं, उपरतक्रियोऽपि सक्रियो भवितुम्। अतएव कठोपनिषदि प्राह यमराजः-"आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः" (कठ० १-२-२१) अत एव- श्वेताश्वतरश्रुतिः "अपाणिपादत्वेऽपि जवनत्व ग्रहीतृत्वं अचक्षुष्ट्वेऽपि द्रष्ट्टत्वं अकर्णेऽपि श्रोतृत्वं इति मिथोविरुद्ध धर्माश्रयतां भगवतः प्रत्यपीपदत। यथा-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रथं पुरुषं महान्तम्।।

(श्वे० उ० ३-१९)

न च अपाणिपादः इत्यनेन ब्रह्मणः साकारता प्रतिषिद्धेति वाच्यम्?"

(सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम।
सर्वतः श्रुतिमल्लोकं सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।

(श्वे० उ० ३-१६)

इत्यत्र भगवत्साकारता प्रातिपादनानुरोधात्, अपाणिपादः- अप्रयुक्तपाणिपादः, अचक्षुरित्यस्य अनङ्गीकृतचक्षुव्यार्यापारः अकर्ण इत्यस्य अव्यापारितकर्णः इति व्याख्यानेनादोषात्। अतएव श्रीमानसे-

"विनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।
(मानस १-११८ ५, ६, ७, ८)

रुपान्तरम्-

"पदं विना चलत्येष विना कर्णं श्रृणोत्यसौ।
करं विनैव कुरुते नानाकर्माणि राघवः।।
आननेनाथ रहितो सर्वान् भुङ्क्ते रसानहो।
वागिन्द्रियं विना वक्ता श्रेष्ठो योगी जगत्पतिः।।
तनुं विना च स्पृशति विना नेत्रं हि पश्यति।
अशेषं चैव वासां स विना घ्राणेन जिघ्रति।।
इत्थं सर्व प्रकारेण कृतिर्यस्य ह्यलौकिकी।
यस्य दिव्यो हि महिमा वर्णयितुं न शक्यते।।

किं च- तत्रैव प्रकरणे ब्रह्मणोऽतिरिक्तस्य द्रष्टृत्वादिप्रतिषेधोऽपि तदेव सगुण, साकारं, सर्वाधारं कौसल्याकुमारं सीताश्रृङ्गारं परमेश्वरं प्रभुं ब्रह्म श्रीरामं अन्तर्यामित्वेन राद्धान्तयाम्बभूव। यथा-

"नान्याऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।(बृ० उ० ३-७-२३)

एवं निरस्तसकलपुंदोषसंभ्रमो मैथिलीमनोरमो जगदीश्वरः श्रीरामः परब्रह्म अन्तर्यामी। यथोक्तं भागवते परीक्षितं शुकाचार्येण-

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय- सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।।
(भा० १०-१४-५५)

माध्यान्दिनास्तथा काण्वा भेदेनैनमधीयते।
जीवात्मानं भगवतो नात्मान्तर्यामितः किल।।
"पञ्चमं चाधिकरणं पञ्चमप्राप्तिसिद्धये।
रामभद्रेण विदुषा व्याख्यातं श्रीपतेर्मुदे।।

।।अथादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्।।

अथ सूत्रत्रयेण अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणं निरूप्यते। मुण्डके प्रथमखण्डे पराविद्याप्रकरणे श्रूयते,

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।।

(मुण्डक, उप० १-१-६)

अत्रायं सन्देहः यत्– अदृश्यत्वादिगुणाः कस्य? जीवस्य प्रकृतेर्ब्रह्मणो वा? शरीरस्य क्षणभङ्गु-रत्वात् ज्जीवस्यापि वास्तवं स्वरूपं अदृश्यत्वादि गुणकं, प्रकृतेरविकृतित्वात् सावयवत्वापेक्षत्वेऽपि तस्याः न क्वापि हस्तपादादिकं दृश्यते। न वा तत्प्रवर्तकेन महर्षिकपिलवर्येण क्वापि सा साकारा व्यकल्पि।

अतएव त्रिषु किमनेन भवितव्यम् अदृश्यत्वादिगुणकेन? इति पूर्वपक्षे? सूत्रकारः प्राह,

।।अदृश्यत्वादिगुणकस्तद्धर्मोक्तेः ।।१/२/२२।।

अतएव च स ब्रह्म' (१-२-१६) इत्यतः 'स'– इत्यनुवर्तते," अदृश्यत्वादिगुणकः स एव तद्धर्मोक्तेः। अदृश्यत्वादयः गुणाः यस्मिन् स अदृश्यत्वादिगुणकः, तस्य ब्रह्मणः धर्माः नित्यत्वादयः इति तद्धर्माः। वचनम् उक्तिः तद् धर्माणाम् उक्तिः तद्धर्मोक्तिः तस्याः तद्धर्मोक्तेः।

अत्र श्रुतौ अदृश्यत्वादयो गुणः भगवत एव न तु जीवस्य न वा प्रकृतेः। न च भगवतो अदृश्यत्वादित्वे निराकारतापत्तिरितिवाच्यम्? तत्र प्राकृत दृश्यत्वादिनिराकरणे श्रुतेस्तात्पर्येणादोषात्। तथा हि श्रीमद्भगवद्गीतासु पार्थं प्रति परमेश्वरवाक्यम्, विनिगमकमस्यानुपपत्तौ–

न तु मां शक्यसे द्रष्टु मनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।

(गीता ११-८)

के एतस्य धर्माः? नित्यत्वसर्वगतत्व सुसूक्ष्मत्वाव्ययत्व– भूतयोनित्वाख्याः। इमे न सर्वांशेन जीवे प्रकृतौ चोपपद्यन्ते, असंभवात्, जीवस्तावदणुः "एषोऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यः"– इति श्रुतेः। तस्मान्न तस्य सर्वगतत्वम्। न वा विभुत्वम्। न च सुसूक्ष्मत्वम्। शरीरावच्छेब्देन तदानन्दव्ययान्नहि तस्मिन्नव्ययत्वम्

"तस्मात् वा एतस्मात् वा आत्मनः आकाशः संभूतः" (तैत्तिरीय उप० २-२) इति श्रुतेः। न वा तस्मिन् भूतयोनित्वम्। ननु अदृश्यत्वादिगुणक इत्युक्त्या ब्रह्मणो निर्धमत्वनिर्गुणत्वव्याघातः इष्टापत्तिः। दीयन्तां ताभ्यां- प्रच्छन्नबौद्धकपोलकल्पनाप्रसुभ्यां तिलाञ्जलयः।अस्माकं ब्रह्म तु सगुणमेव। वात्सल्यादिनिरतिशयनिरवधिकनिरुपद्रवसकलगुणगणकल्याणकल्लोलिनीवल्लभत्वात्। निर्गुणत्वं तु निरस्तहेयगुणत्वनिर्लीनगुणत्वनिरूपमनिरुपद्रव गुणत्वादिभिः।

प्राग्व्याख्याततत्वात् परिहृतचर्चो भवामि। इमे ब्रह्मणोऽव्यभिचारिणो धर्माः न क्वापि व्यभिचरन्तीति अतएव भागवते-

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ।।

(भा० ६-१६-२३)

नित्यत्वमुख्यधर्माणां तस्मिन्नेवोपदेशतः।
अदृश्यत्वादिगुणकः स ईशो नापराविह।।

अथ "निरञ्जनः साम्यं परममुपैति," "**ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति**", ब्रह्मसन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि श्रुत्यनुरोधात् गौण वृत्यापि ब्रह्मधर्माः समारोप्यन्तां जीवे। यथा नित्यत्वं जीवे वर्तते एवमव्ययत्वमपि निरवयवत्वात्। एवं अन्येऽपि यत्किञ्चिद्रूपेण आरोपणीयास्तत्र। एवं प्रकृतावपि। सा तु स्पष्टं भूतयोनिः प्रसवधर्मित्वात्, "**अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेता उप० ४-५)

इत्यस्मिन् पूर्वपक्षे आह सूत्रकारः,-

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।।१/२/२३।।

भेदस्य व्यपदेशः भेदव्यपदेशः,- विशेषणश्च भेदव्यपदेशच विशेषणभेदव्यपदेशौ ताभ्यां "**विशेषणभेदव्यापदेशाभ्यां**" । तत्र मुण्डकश्रुतौ ब्रह्मणः कृते कानिचित् विशेषणानि सुस्पष्टञ्च प्रकृत्यपेक्षया भेदव्यपदेशो वर्तते। आभ्यां हेतुभ्यां इतरौ ब्रह्मणो भिन्नौ प्रधानप्रत्यगात्मानौ नैवादृश्यत्वादिगुणकौ। चकारः सर्वज्ञात्वादि नैकगुणसमुच्चायकः। तत्र द्वितीयमुण्डकस्य प्रथमखण्डे यथा-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।।

(मुण्ड० २/१/२)

अत्र दिव्यः अमूर्तः स बाह्यभ्यन्तरः अजः अप्राणः अमनाः शुभ्रः इति सप्तविशेषणाति तानि न वा जीवे न वा प्रकतौ संगच्छन्ते। न मूर्च्छतीति अमूर्तः अत्र मूर्च्छा मोहे। त्रिगुणमयत्वात् प्रकृतिर्मूढा। जीवाश्चापि मोहमापद्यन्ते। "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः ।(मुण्ड० १/२/८।।) इते श्रुतेः।

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (।।गीता ५/१५।।) इति स्मृतेश्च। बाह्यान्तराभ्यां सहितः स बाह्याभ्यन्तरः व्यापकत्वात्। अन्तर्बहिश्च व्याप्त इति भावः। अप्राणः अमनाः इदं द्वयमपि जीवप्रकृत्योर्न घटेते। शुभ्रत्वं गुणावच्छिन्नत्वात् तयोर्दूरापास्तमेव। एवं भेदव्यपदेशोऽपि– 'अक्षरात् परतः परः'– अत्र पूर्वं अक्षरं प्रकृतिः परिणामिनी ततः परः पुरुषः जीवात्मा लयधर्मी तस्मादपि परः परमात्मा लयशून्यः। इति त्रयाणां स्पष्टं भेदव्यपदेशः। तस्मात् आभ्यां हेतुभ्यां इतरौ प्रकृति जीवात्मानौ न ब्रह्म। यद्वा– प्रकृतिजीवात्मानौ परमात्मनो विशेषणे तथाहि–

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।।

(श्वेता० ।।१/९।।)

इह ज्ञः सर्वज्ञः परमात्मा, अज्ञः अल्प सो जीवात्मा ईष्टे, इति ईशः परमात्माः, अनीशः असमर्थो जीवात्मा, एका अजा प्रकृतिः, साच भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता। भोक्ता प्रत्यगात्मा, भोग्यार्थाः पदार्थाः ताभ्यां युक्ता, द्वाभ्यां विलक्षणः आत्मा परमात्मा ह्यनन्तः। एवं त्रयमिदं ब्रह्म। द्वे विशेषणे एकं विशेष्यं चिदचिद्विशिष्ट मद्वैतं ब्रह्म। भेव्यपदेशश्च अत्रैव–

"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" ।(श्वेत० १/१०), इह क्षरं प्रकृतिः, अक्षरं जीवः, तौ क्षरात्मानौ प्रकृतिप्रत्यगात्मानौ, एकः देवः परमात्मा ईशते शास्ति। अत्र स्पष्टं भेदस्य व्यपदेशः क्षरात्मानौ ईशते। एवं भेदव्यपेशात् इतरौ प्रकृति जीवात्मानौ नादृश्यगुणकौ।

यथा श्रीभागवते जन्तोर्वचनम्-

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे-च्छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम्।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं,वन्दे परं प्रकृति पुरुषयोः पुमांसम् ।।

(भा० ३-३१-१४)

विशेषणानां सद्भावाद् भेदस्य व्यपदेशतः।
प्रकृतिः प्रत्यगात्मा च नादृश्यगुणकाविह ।।श्री।।

किञ्च– प्रकृतिजीवात्मनोः अदृश्यत्वात् गुणराहित्ये अपरं हेतुमाह-

रूपोपन्यासाच्च ।।१/२/२४।।

चकारः अप्यर्थः। रूपाणां उपन्यासः रूपोपन्यासः तस्मात् रूपोपन्यासात्। रूपाणामुपन्यासादपि हेतोः अदृश्यत्वदिगुणकः परमात्मैव। मुण्डकोपनिषदि भगवत एव विश्वरूपस्य कल्पना-

"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भयां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा"– इमानि रूपाणि प्रकृतिजीवयोर्न घटन्ते। अतोऽदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव। अतएव श्री भागवते–

पश्यन्त्यदोरूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ।।
(भा० १-३-४)

विश्वेषां चैव रूपाणामुपन्यासात् परेशितुः।
सोऽदृश्यगुणकः साक्षात् न जीवः प्रकृतिः क्वचित्।।श्रीः।।
षष्ठश्चैवाधिकरणं रूपोपन्यासनामकम्।
द्वितीयपादे व्याख्यातं रामभद्रेण धीमता।।

।। अथ वैश्वानराधिकरणम् ।।

वैश्वानरःसाधारणशब्दविशेषात् ।।१/२/२५।।

अथ नवभिः वैश्वानराधिकरणं निरूप्यते–

वैश्वानरः परमात्मा स च पूर्णः सर्वतोऽधिकः अतएव सर्वातिशायिनी नव संख्यैवात्र निर्दिष्टा। छान्दोग्ये औपमन्यवादयः वैश्वानरविद्यायाः जिज्ञासवः अश्वपतिं कैकेयमुपजग्मुः। ते च तं वैश्वानरविद्यां जिज्ञासितवन्तः। "आत्मा किं ब्रह्मेति छान्दो" (५/११/१) अत्र स्पष्टमेव आत्म ब्रह्म शब्दौ पृथगुच्चार्य ते जीवब्रह्मणोः पृथङ्मीमांसां चक्रुः। अत्र को नु आत्मा? किं ब्रह्मेति जिज्ञासायां अन्ते आत्मशब्दस्य न कोऽपि पर्यायः। परन्तु ब्रह्मशब्दमनुक्त्वा वैश्वानरशब्दस्य प्रयोगः यथा–

"ते ह संपादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारूणिः सत्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति" ।।छान्दो० ५/१०/२।। आत्मानं वैश्वानरं इति, कोनु आत्मा? किं ब्रह्मेति? अनयोः स्थाने कर्मत्वेन निर्दिष्टं दृष्टवा ब्रह्मपर्यायः वैश्वावर इति निश्चीयते। एवञ्च– प्राणाग्निर्वैश्वानरः नागकूर्मकृकलधनञ्जय वैश्वानरेषु अन्यतमोऽयं, पुनश्च- 'आत्मानं वैश्वानरं अध्येमि; तं भगवो ब्रूहि,' इति, अत्रापि ब्रह्मस्थाने वैश्वानर शब्दस्यैव प्रयोगः। अनन्तरं उद्दालकेन प्रेषितान् प्राचीनशालादीन् अश्वपतिः केकयः आह– अधुनायावत् यूयं वैश्वानरं अंशतः भजध्वेस्म। पूर्ण वैश्वानरोपासनात्वियम्–

"**तान्होवा चैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाँसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु केकिषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति।।**" (छान्दो० ५/१८/१।।) अत्र संदेहः। कोऽयं वैश्वानरः? ब्रह्मशब्दपर्यायात् परमात्मा पुनश्च- "**तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमा नि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः।।**" (छान्दो० ५/१८/२।।) एवं परिकलितावयवः किं जीवः? उताहो भूताग्निः। यद्वा- प्राणः, यद्वा– देवता। यतोहि– सर्वेषां कृते श्रुतिषु निर्देषा उपलभ्यन्ते। जाठराग्नौ यथा- "**अयमग्निर्वैश्वानरो योऽर्यमन्तः पुरुषे येनेदयन्नमभ्यात्तं यदिदमद्यते**" (बृहद० ७/९/६।।) भूताग्नौ यथा– "विश्वम्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्वामकृण्वन्" (ऋ० सं० १०/८८/६२) देवतायां यथा– "**वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः**" (ऋ० सं० १/९८/१) परमात्मन्यपि "**तदात्मन्येव हृदयेऽवनौ वैश्वानरे प्रास्यत्**" (अष्टक ३ प्रश्न० ११अनु० ८) प्रश्नोपनिषद्।। प्राणेऽपि तावत्- "**स एव वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते**" (प्रश्न ११७)

एवं प्राणे भूते तथा जीवे जाठरे चेश्वरेश्वरे।
क्रान्ते वैश्वानरः शब्दः संदेहं जनयेदिह।।
तत्संदेहनिरासाय सूत्रैश्च नवभिः किल।
वैश्वानराधिकरणं व्यासदेवो न्यरूपयत।।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।।१/२/२५।। अत्रापि सह इत्यनुवर्तते। वैश्वानरः स ह ब्रह्मैव कथम्? साधारणशब्दविशेषात्। विशेष्यते इति– विशेषः, भावे घञ् साधारणशब्दैः– ब्रह्मसाधारणशब्दः विशोषितत्वाद्धेतोः वैश्वानरः ब्रह्मैव।

यथा ब्रह्मणः कृते विश्वरूप कल्पना तथैव वैश्वानरकृतेऽपि। तथाहि- "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुते जाश्चक्षुविश्वरूपः" इत्यादि। (छान्दो० ५/१८/२।।) इदं जीवे भूताग्नौ जाठराग्नौ प्राणापाने च न घटेत, अतो वैश्वानरो भगवान्। अतएव भागवते महाराजं प्रति शुकदेवः–

वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तान्, प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ।।

(भा० २-२-२४)

ब्रह्म साधारणैः शब्दैः विशेषात् सर्वशेषपः।
वैश्वानरः स एवात्र रामो ब्रह्मादिसंज्ञकः।।

अन्यामपि उपपत्तिमाह- स्मृतावपि वैश्वानरशब्दो ब्रह्मपरक एव–

स्मर्यमाण मनुमानं स्यादिति ।।१/२/२६।।

स्मृतिरपि श्रुतेनुकूलमर्थं स्मरति। यथा पतिव्रताता पतिं। 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।' "अत आह स्मर्यमाणमिति यत्र क्वापि स्मृतौ स्मर्यमाणं अनुकूलं मानं अनुमानं स्यादिति। अतएव श्रीमद्वाल्मीकीये"– "अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः" (।।६/११/२७।।) कोपश्च मूर्धन्यो भवति, अतः श्रुति र्न व्यभिचरति। यथा भागवते श्रीकृष्णस्य अग्निपानम्–

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्वणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत।।

(भा० १०-१९-१२)

अनुकूल प्रमाणं वै स्मृतिर्वेदार्थचिन्तिका।
परमात्मानमेवाह वैश्वानरमनूत्तमम् ।।श्रीः।।

पुनश्च पूर्वपक्षद्वयं उत्थाप्य समाधत्ते शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपिः–

चैनमधीयते ।।१/२/२७।।

शब्दादिभ्यः शब्दादिहेतुभ्यः अन्तः प्रतिष्ठानाच्च वैश्वानरः जीवात्मा? इति चेत्, न इत्थं वाच्यम्। तथा तेनैव प्रकारेण तत्र ब्रह्मदृष्ट्युपदेशात् विराट्रूपकल्पनायाः असम्भवाच्च। एनं पुरुषं परं पुरुषं अपि निश्चयेन च अग्निनाम्ना अधीयते जनाः स्मरन्ति। शतपथ ब्राह्मणे एषोऽग्नि वैश्वानरः इति अग्निवैश्वानरसामानाधिकरण्यात्- प्रश्नोपविषदि- "एष वैश्वानरो विश्वरूपः"

इत्यस्मात् शब्दात् आदिपदेन शक्तिग्रहात् लोकप्रसिद्धेश्च। अन्तः प्रतिष्ठानाच्च- **"स यो हैतमेवमग्निवैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद"** (शतपथ ब्राह्म० १०/६/१/११।।) "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देह माश्रितः।" इति गीतावचनाच्च। वैश्वानरो न परमात्मा? इति चेत् न, तत्र श्रुतौ तेनैव प्रकारेण ब्रह्मदृष्टेरुपदेशः। यथाऽग्नि मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ हृदयं गार्हपत्यः मनोऽन्वहार्यपचनः आस्यं आहवनीयः। अतएव श्रीमद्भागवते अक्रूरः-

"अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।
द्यौ कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम्।।

(१०/४०/१३।।

एवं- "अग्नि मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ" (मुण्ड० २/१/४।।) इति ब्रह्मदृष्ट्युपदेशः। एतस्य विराड् रूपस्य अन्यत्रासम्भवश्च।

शब्दादेर्हृदयस्थत्वात् जीवात्मा स न चोच्यताम्।
ब्रह्मदृष्ट्युपदेशाच्चासम्भवात् पुरुषो हि सः।।

नन्वपरिच्छिन्नस्य परमात्मनः प्रादेशनिर्देशाः कथं संगच्छेरति शंकां समाधातुं जैमिन्यास्मरथ्य बादरि बादरायणानां मतानि प्रस्तूयन्ते-

अतएव न देवता भूतं च १/२/२८।।

अस्मादेव करणात् वैश्वानरः नवाग्निर्देवता, नवा भूतं भूताग्निः चकारेण जीवप्राणाधिनां निषेधः। अतएव दावानलमुक्तिप्रसंगे भागवते-

कृष्णस्य योगवीर्य तद्योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ।।

(भा० १०-१९-१४)

तस्मान्न देवताग्निः स भूताग्निर्नैव कर्हिचित्।
न जीवो न किल प्राणो हरिर्वैश्वानरो मतः ।।श्रीः।

अथ जैमिनिमतमनुवदति-

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।।१/२/२९।।

जैमिनिराचार्यः-

साक्षादप्यविरोधं वैश्वानरस्य परमात्मार्थत्वे अविरोधं विरोधाभावं मन्यते। यथा-

"अंगति– सर्वत्र गच्छति इति अग्निः। एवं– 'विश्वेषां नराणां अयं वैश्वानरः', विश्वे नरावा यस्मिन् स विश्वानरः" स एव वैश्वानरः, · स्वार्थे अण्। 'नरं संज्ञायाम्' ।।पा० अ० ६-३-२९) इति दीर्घः, अनया व्युत्पत्त्या साक्षाद्ब्रह्मवाचकत्वे जैमिनिविरोधाभावं मन्यते यथा श्रीभागवते–

कान्तिस्तेजः प्रभासत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ।।

(भा० १०-८५-७)

साक्षाद्वैश्वानरः शब्दो यदि ब्रह्माभिधायकः।
तथा पि न विरोधोऽस्तीत्युवाच किल जैमिनिः ।।श्रीः।।

ननु अपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः कथं हृदये गार्हपत्यादिपरिच्छेदः? अत आह आश्मरथ्यमतम्–

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।१/२/३०।।

उपासकानुरूपं परमात्मनोऽभिव्यक्तिवति। अतएव भागवते ब्रह्मा–

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज;
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुँसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयंसे सदनुग्रहाय ।।

(भा० ३-९-११)

ऐश्वर्यसमभिव्यक्तेरपरिच्छिन्नतेजसः।
व्यक्तिर्भवति सर्वत्र आश्मरत्थ्योऽब्रवीत् किल।।

बादरेरनुमतमनुवदति–

अनुस्मृतेर्बादरिनः।।१/२/३१।।

आनुकूल्ये स्मृतेः उपासनायाः हेतोः वैश्वानरोऽयं विराडपि लघुर्भवति। अणोरणीयान् महतो महीयान् (कठ २/२०।।) अनुस्मृत्युपासनम्,। यथा श्रीभागवते नृसिंहावतार प्रकरणे–

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं;
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।

अदृश्यतात्यद्‌भुतरूपमुद्‌वहन्,
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ।।

(भा० ७-८-१८)

उपास्यकानां प्रीत्यर्थं आनुकूल्यस्मृतेः किल।
विर्भुर्लघुत्वमायाति ब्रवीत्येतद्धि बादरिः ।।श्रीः।।

पुनश्च जैमिनिमतमनुवदति–

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।।१/२/३२।।

जैमिनिराचार्यः अग्निसम्पत्तेः भगवदैश्वर्यसम्पन्तेश्च ब्रह्मणः प्रादेशमात्रतां स्वीकरोति। अतएव श्रुतिः–

"न तस्य कार्यं करणं च विघते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेत ६/८) अथवा सम्पत्तेः प्रेमभक्तिसम्पत्तेः भगवता प्रादेशः स्वीक्रियते यथा-

व्यापक ब्रह्म निरञ्जन निर्गुन बिगत बिभेद।
सो अज प्रेम भगति बस कौशिल्या की गोद।।

(मानस १/१९९)

रुपान्तरम–

यद्व्यापकं ब्रह्म निरञ्जनञ्च यन्निर्गुणं त्यक्तविनोदभावम्।
स प्रेमभक्तेश्च वशंवदोऽजो विराजते कोसलजाङ्कवर्ती ।।

अतएव भागवते देवकी–

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते,
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ।।

(भा० १०-३-३१)

ऐश्वर्यप्रेमसम्पत्तेः प्रादेशं परमात्मनः।
ब्रूते जैमिनिराचार्यः श्रुतीनां किल दर्शनात् ।।श्रीः।।

अथोपसंहरति–

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।।१/२/३३।।

च- अन्यच्च अस्मिन वैश्वानरप्रसंगे एवं परंमात्मानं वैश्वानरत्वेन साधका आमनन्ति। अतएव- "य एतमभि विमानमात्ममानमुपासते। स एव सर्वेषु लोकेषु परमेश्वरदत्तं भोगमत्ति।

अतएव गजेन्द्रो निखिलकारणतया भगवन्तं स्तौति-

नमो नमस्तेऽखिल कारणाय निष्कारणायादभुतकारणाय।
सर्वागमाम्नाय महार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय ।।

(भा० ८-३-१५)

एवं वैश्वानरत्वेन हरिं सर्वेऽपि साधकाः।
आमनन्ति महोरूपं प्रादेशं हृदयेऽग्निवत् ।।श्रीः।।
वैश्वानराधिकरणं रामवैश्वानराप्तये।
श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रेण भाषितम्।।
द्वितीयोऽयं मया पादः प्रथमाध्यायगोचरः।
श्री राघवकृपाभाष्ये यथाश्रुतमभाष्यत।।

इति श्रीभगवद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वाभिरामभद्राचार्यकृतौ श्री राघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

।। प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।।

।। अथ घुम्वाद्यधिकरणम् ।।

निहत्य युधि रावणं विवुधवृन्दविद्रावणं,
प्रतापदहनोज्वलत्प्रबलसायकज्वालया।
निदग्धखलकाननो धरणिजासुमित्रासुत्-
तृतीय इह राघवो जयति रामभद्रो भुवि।।

एवं द्वाभ्यां पादाभ्यां विविधैः प्रमाणैः ब्रह्मणः जिज्ञास्यत्वमुपपादितम् समन्वितानि च तत्रैव सर्वाणि श्रौतानि वाक्यानि। अथ द्वादशैरधिकरणैः तृतीयः पादः प्रारभ्यते। तत्र पूर्वं सप्तभिः सूत्रैः द्युभ्वाद्यधिकरणं

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।।१/३/१।

द्यौश्च भूश्च इति द्युभुवौ ते आदी येषां ते द्युभ्वादयः तेषामायतनं द्युभ्वाद्यायतनम्। आथर्वणश्रुतौ मुण्डकोपनिषदि आथर्वणिकाः इत्थं पठन्ति।"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जावथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" (।।मुण्ड० २/२/५।।) अत्रेत्थं संदेहो भवति यत्– द्यौः पृथिवी अन्तरिक्षं मनः प्राणः अमी क्व विश्राम्यन्ति। एषां क आधारः जीवः प्रकृतिर्वा परमात्मा वा। सांख्यमते जगत्कारणत्वात् मूलप्रकृतिरपिद्युप्रभृतीना मायतनं भवितुं शक्नोति सर्वेषां जनयितृत्वात् यथोक्तं श्रीगीतासु-

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। (गीता ९/१०।।) एवं जीवात्मापि सर्वेषाम् आत्मभूतत्वात् तपःप्रभावेण विश्वामित्रादिरिव लब्धसिद्धित्वात्। इत्यत आह- द्युम्वादीनां आयतनं परमात्मैव कथं? हेतुमाह– "स्वशब्दात्।" स्वशब्दोऽत्र परमात्मवाची। अस्यां श्रुतौ तमेवैकं आत्मानं जानथ इत्यात्मशब्दप्रयोगात्। जीवप्रकृत्योश्च अनात्मत्वात्। अत्र परमात्मैव द्युभ्वादीनामायतनम्। ननु जीवात्मन्यपि आत्मशब्दः? इति चेत? श्रूयताम्, जीवे आत्मशब्दो गौणवृत्या। परमात्मनि च मुख्यवृत्या शास्त्राणि मुख्ये प्रवर्तन्ते न तु गौणे। "प्रधाने कृतो यत्नः फलवान् भवति"– इति नियमात्, **"गौण मुख्ययोर्मुख्येकार्यसम्प्रत्यः" "प्रधानाप्रधानयोः प्रधानस्यैव ग्रहणम्।"** इति न्यायाभ्यां च, अत्रत्य स्वशब्दः मुख्यवृत्या पर्यवसन्नस्य परमात्मन एव ग्राहकः न त्वनात्मनोः प्रकृतिजीवयोः। यद्वा 'तमेवैकमिति एवशब्दः प्रकृतिं व्यवच्छिनत्ति; एक शब्दश्च जीवात्मानम्। यद्वा- "अन्या वाचो विमुञ्चथ" इति श्रुतिरपि परमात्मव्यतिरिक्तयोः प्रकृतिजीवात्मनोः प्रतिषेधति। यद्वा- स्वशब्दोऽत्र आत्मीयपरः। आत्मीयस्य शब्दस्य ग्रहणात्। अत्र आत्मीयशब्दो हि अमृतस्यैष सेतुः। एष परमात्मा अमृतस्य वर्णधर्मवर्जितस्य परमात्मानं प्राप्तुमिच्छो र्जीवात्मनः सेतुः। अतएव श्रीमानसे "यत्पादप्लवमेकमेव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां"। एवमेव छान्दोगाः पठन्ति-

"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठाः" (छान्दो ६/८/ ४।।)

अतो द्यभ्वा द्यायतनं निखिलमंगलायतनयशस्कं श्रीरामाख्यं परब्रह्मैव- अपरमपिहेतुमाह- यथा भागवते नारदं प्रति ब्रह्मा–

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।

स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोक कल्पना ।(२/५/४२)
दिवोभुवस्तथान्येषां हरिरायतनं स्मृतः।
आत्मात्मीयधनज्ञातिवाची स्वशब्दः किल ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह–

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ।।१/३/२।।

चकारो हेत्वन्तरानुवादकः। किञ्च– निरस्तकर्मबन्धनाः सर्वेऽपि मुक्ता जीवाः कोटिकोटिपरहंसपरिव्राजकाचार्य विमलात्ममहात्मानः सरितः सागरमिव तमेवानाथनाथं सीतानाथं परब्रह्मपरमात्मानं श्रीराममुपसर्पन्ति। न जीवात्मानं नवा प्रकृतिं तेऽपि द्युप्रभृतीनामन्यतमाः तथाहि– उपसृप्यते ।इति उपसृप्यः, कर्मणिण्यत्।' मुक्तानां उपसृप्यः मुक्तोपसृप्यः, व्यपदिश्यते इति व्यपदेशः, मुक्तोपसृप्यञ्चासौ व्यपदेशश्च इति मुक्तोपसृप्यव्यपदेशः। तस्माद् 'ल्यब्लोपे-पञ्चमी'। यद्वा– अत्र 'भावेण्यत्'। व्यपदेशोऽपि भावे घञन्तः। मुक्तानामुपसर्पणं मुक्तोपसृप्यं तस्य व्यपदेश मुक्तोपसृप्य व्यपदेशः तस्मात् मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्। श्रुतिर्हि-परमात्मान्येव मुक्तानां व्यपसर्पणं करोति। यथा नदी सागरमेव गच्छति नान्यं। तथैव कर्मपाशविमुक्तो विद्वान् परमात्मानमेव गच्छति नान्यम्।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदाविद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।

(मुंड० ३/१/३)

ब्रह्मणः चतुर्मुखस्य योनिः जन्मदाता इति ब्रह्मयोनिः, तं ब्रह्मयोनिम् अन्यदपि- "यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।" (मुण्ड० ३/२/८।।) प्रकृतेः परः जीवः ततोऽपि परात्परं "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" (७/१/१६) इत्यनेन स्मादादेशाभावः। अतएव श्रीमद्वातमीकीये रामायणे–

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्रइव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव स दैवप्रियदर्शनः।।

(बाल्मी० १२/१/१/१६)

किञ्च- श्रीमद्भागवतेऽपि–

आत्मारामाश्च मुनयो निर्गन्था अप्यरूक्रमे।

कुर्वन्त्य हैतुकी भक्तिं इत्थे भूतगुणो हरिः।।

(भागवत १/७/९।।)

द्युभ्वाद्यायतनादेव व्यापकत्वाद्-भगवति मुक्तानामुपसर्पणं युज्यते। ततोऽन्यत्र दयालुत्वाद्यभावात्। दयालुत्वं हि सामर्थ्यमपेक्षते। सामर्थ्यञ्च केवलं सकललोकविश्रामे ब्रह्मणि सीताभिरामे रामे युज्यते। तदवतारभूते कृष्णेऽपि च। नान्यत्र। अतः प्राह उद्धवः विदुरं प्रति श्रीमद्भागवते तृतीये–

अहो बकीयं स्तन् कालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततो कंन्रा दयालुं शरणं व्रजेम।।

(।।भागवत ३/२/२३।।)

मुक्तास्तमुपसर्पन्ति साम्रेडं श्रुतयो जगुः।
ततो द्युप्रभृतीनां च हरिरायतनं किल ।।श्रीः।।

अथ प्रकृते स्वशब्दवाच्यत्वं निषेधति ननु स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः- आत्मा, आत्मीयः धनं ज्ञातिश्च। 'यस्याव्यक्तं शरीरम्' इति श्रौतवचनात्, भगवतः शरीरवचनाच्च। प्रकृतिः तदात्मीयत्वात् कथन्न स्वशब्दवाच्या कथं न तत्र द्युभ्वाद्यायतनत्वम्? इत्यत आह–

नानुमानमतच्छब्दात् ।।१/३/३।।

अत्र पदच्छेदद्वयं– 'न अनुमानं नानुमानम्।' अनुमीयते अनुमानेन प्रमीयते इत्यनुमानं प्रकृतिः। यद्वा- 'न आनुमानम् नानुमानम्।' अनुमानस्येदं आनुमानम्। यद्वा- अनुमानेन प्रमितं आनुमानम्। 'शैषिकोऽण् प्रत्ययः'। एवम्भूतं आनुमानमात्रसांध्यम् प्रधानमपि न द्युभ्वाद्यायतनं कथम्? हेतुमाह– अतच्छब्दात्। तद्बोधकः शब्दः तच्छब्दः न तच्छब्दः अतच्छब्दः तस्मात् अतच्छब्दात्। अभावो नञर्थः। "रक्षोहागमलध्वर्संदेहाः प्रयोजनम्" इत्यत्र प्रयुक्तासंदेह शब्दवत्। हेतौ पञ्चमी। यतः अतच्छब्दः अतः अनुमान आनुमानं वा न द्युभ्वाद्यमयतनं इति वाक्ययोजना। तत्र श्रुतौ प्रकृतिबोधको नैकोऽपि शब्दोपलभ्यते। यथा- तमेवैकं जानथ आत्मान मन्या वाचोः विमुञ्चथ अमृतस्य एष सेतुः इत्यत्र तं एकं एषः सेतुः इति सर्वे पुल्लिंगनिर्देशाः, संयोगतः आनुमानिकं क्वापि प्रकृतिसंगिकत्वात् स्त्रीत्वे निर्दिष्टं, क्वापि च प्रधाननामतया क्लीबे निर्दिष्टं न विलोक्यते। तस्मात् तत्र श्रुतौ प्रकृतिबोधकशब्दाभावात् अनुमानप्रमाणगम्यं प्रधानं न द्युभ्वाद्यायतनम्।। यथोक्तं श्रीभागवते–

दैवा त्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।

आधन्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ।(३/२६/१९)

आनुमानं प्रधानं च द्युभ्वाद्यायतनं न हि।
तद्बोधकानां शब्दानामत्र कुत्राप्यभावतः।।

अत तर्हि मा भूत् द्युभ्वाद्यायतनम् प्रधानम्? किन्तु जीवस्यापि आत्मशब्दवाच्यत्वात्, "तमेवैकं जानथावात्मानः" (२/१/५ मु०) इति तद्बोधकशब्दोपलब्धेश्च जीवात्मैव भवतु द्युभ्वाद्यायतनम्। इत्यत आह–

प्राण भृच्च ।।१/३/४।।

प्राणं बिभर्ति इति प्राणभृत्– जीवात्मा "**कर्तरिक्विप्; ह्रस्वस्य- पिति कृति तुक्।**" (६/१/७१ पाणिनीय) इत्यनेन तुगागमः। चकारः अप्यर्थः। पूर्वसूत्रात् 'न, अतच्छन्दात्'– इति पदद्वयमनुवर्तते। प्रथमसूत्रात् "द्यभ्वाद्यायतनम्"। सूत्राकारश्च। प्राणभृच्च, द्युभ्वाद्यायतनम न, अतच्छब्दात्। प्राणभृज्जीवानापि दिवः भुवः अन्तरिक्षस्य समनसां प्राणादीनां आयतनं न भवितुं शक्नोति। तस्यां श्रुतौ तदनुगुणेषु च श्रुत्यन्तरेषु जीवात्मबोधकश्रौतशब्दानामभावात्। यद्यपि "तमेवैकं आत्मानं" (मुण्ड २/१/५।।) इत्यत्र आत्मशब्दः कथञ्चिद् जीवात्मपरतया नीयेत किन्तु उत्तरत्र अमृतस्यैव सेतुः इति वाक्यशकलेन सोऽपि प्रयासः वितथीक्रियते। 'अमृतस्य जीवात्मनः'– कृते परमात्मैव सेतुः स्व स्वस्य सेतुर्न भवति।

यथोक्तं भागवते सूतेन-

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।

(भागवत १/२/१०)

तच्छब्दानामभावश्च प्रकृतेर्जडकर्मणाम्।
प्राणभृच्चाप जीवात्मा द्युभ्वाद्यायतनं नहि। ।।श्रीः।।

तमेव पक्षं द्रढयितुं हेत्वन्तरमपि।

भेदव्यपदेशात् ।।१/३/५।।

भेदस्य व्यपदेशः भेदव्यपदेशः व्यपदेशो व्यवहारः। "आत्मानं जानथ" इति तत्र श्रुतौ कर्मकर्तृभ्यां श्रुतिः भेदस्य व्यपदेशो वर्तते। जानथ इति कर्तृवाच्यप्रयोगः के जानथ? इत्यपेक्षायां यूयम्। "**युस्मद्युपपदे समानाधिकरणेस्थानिन्यपि**" मध्यमः (पाणिनीय० १/४/१०५।।) एवं 'जानथ'

इति क्रियया मध्यमपुरुषबहुवचनकर्ता यूयमित्याक्षिप्तः। आत्मानमिति कर्म। कर्ता ज्ञाता, कर्म ज्ञेयः जानथेति बहुवचनप्रयोगात्। जशन्तयुष्मच्छब्दवाच्यतया बहुत्वसंख्यान्विता अनेके जीवाः आत्मानमिति अमोऽनुरोधेन एकवचनसंख्यान्वितः परमात्मा एक एव। इत्यपि श्रौतं गम्भीरं हार्दं अतएव ज्ञातृज्ञेययोः सेवक-स्वामिनोः नियम्यनियामकयोः भजक-भजनीययोः भेदस्य व्यपदेशात् नैव जीवात्मा द्युभ्वाद्यायनम्। किञ्च- अपरस्मादपि हेतोः जीवात्मा न द्युभ्वाद्यायतनम्। यथोक्तं भागवते उद्धवं प्रतिभगवता श्रीकृष्णेन-

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पंचस्कन्धः पंचरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ।।

(भाग० ११/१२/२२)

तत्र तत्रैव शास्त्रेषु जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रोक्ता भिदा ततो जीवो द्युभ्वाद्यायतनं न च ।।श्रीः।।

प्रकरणात् ।।१/३/६।।

प्रकरणस्य तात्पर्यनियामकत्वम्। सर्वतन्त्रसमयः। तथाहि- वाक्य पदीये भर्तृहरिः-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।।

अनवच्छेदः संदेहः। एवमत्रत्यप्रकरणे परमात्मैवोपक्रान्तः। एवं- "आविः सन्निहितं"- (२-२-९) इति ब्रह्मैव समुपक्रम्य- 'यदर्चिमद्धनुर्गृहीत्वा' इत्यभ्यस्य, पुनश्चतुर्थे- 'ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते' इति प्रदर्श्य प्रकरणेऽस्मिन् असकृत् परमात्मैव स्मृतः। अतः परमात्मप्रकरणादपि द्युभ्वाद्यायतनं न जीवात्मा। किन्तु परमात्मैव।

यथोक्तं भागवते-

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टेस्तस्मै महेशाय नमस्करोमि।।
मुण्डकीयोपनिषदः प्रकरणेऽस्मिन् पदे पदे।
ब्रह्मणो हि प्रकरणाद् वै द्युभ्वाद्यायतनं हि तत् ।।श्रीः।।

हेत्वन्तरं दत्वाधिकरणमुपसंहारं नीयते–

स्थित्यदनाभ्यां च ।।१/३/७।।

चकारो हेत्वर्थानुवादकः। स्थितिः अवस्थितिः अदनं भोजनम्। स्थितिश्च अदनञ्च स्थित्यदने ताभ्यां स्थित्यदनाभ्यां मुण्डके तृतीयस्य प्रथमे जीवात्मपरमात्मनोः विभागवैशिष्ट्यं वर्णयन्ती श्रुतिः परमात्मन्यस्थितत्वं जीवात्मनि च कर्मफलभोक्तृत्वं प्रत्यपीपदत्। यथा–

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्तन्यो अभिचाकशीति" ।।मु० ३/१/१।। इह अनश्नन् अन्यः इत्यनेन ब्रह्मणः स्थितिः। पिप्पलं स्वाद्वत्ति इत्यनेन जीवात्मनोऽदनमुक्तम्। भोगलिप्तः आयतनं न भवति, अतो द्युभ्वाद्यायतनम् लोकाभिरामो भगवान् रामः परब्रह्मैव। अतएव श्रीमानसे- कौसल्यां विश्वरुपं दर्शयता भगवता श्रीरामेण प्रतिरोमरोमकोटि-कोटि ब्रह्माण्डानि प्रस्तुतान्यकृषत।

दिखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ।।

(रामचरित १/२०१)

रुपान्तरम्–

अखण्डमद्‌भुतं रुपं दर्शयामास मातरम्।
प्रतिरोम विराजन्ते ब्रह्माण्डन्येव कोटिशः।।

यथोक्तं भागवते श्रीउद्धवं प्रति भगवता–

सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ।।

(भागवत ११/११/६)

द्वासुपर्णेति मन्त्रेऽस्मिन्नात्मनो भोक्तृता श्रुता।
परमात्मस्थितिः प्रोक्ता द्युभ्वाद्यायतनं तु सः ।।श्रीः।।
प्रथमं प्रथमाध्याये तृतीयांघ्रौ प्रभाषितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण ह्यधिकरणं सतां मुदे।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।।अथ भूमाधिकरणम्।।

अथ द्वाभ्यां भूमाधिकरणं निरूप्यते। छान्दोग्ये सप्तमे देवर्षिर्नारदः सनत्कुमारमुपसृत्य जिज्ञासांचक्रे। तत्र वाङ्मनसंकल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नापतेज आकाशस्मरादाशाप्राणेषु उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वस्माद् भूयस्त्वं निगदता सनत्कुमारेण प्राणानां सर्वेभ्यो भूयस्त्वं न्यगादि। यथा- "प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन प्राणे सर्व "समर्पितम्" (।।छा० उ० ७-१५-१) अनन्तरं सर्वतो भूयिष्ठे प्राणं जिज्ञासिते सति तत् स्वरूपनिर्धारणे सत्यत्वेनं पुनश्च "**विज्ञानत्वेनः**," पुनश्च– "**मतित्वेन**," पुनश्च"–**श्रद्धात्वेन**, **पुनश्च**– "**तिष्ठात्वेन**" पुनश्च– कृतित्वेन, अन्ततः सुखमेव जिज्ञासाप्रयोजनं निर्धारयामास सनत्कुमारः।। अथ त्रयोविंशेखण्डे भूमानमेव सुखं प्राह- "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति" (।।छा० उ० ७-२३-१) अत्र सन्देहः। कोऽयं भूमा? बहोर्भाव भूमा इति विग्रहे "पृथिव्यादिभ्यः" इमनिज् वा (५/१/१२२) इत्यनेन इमनिज् प्रत्यये "बहोर्लोपो भू च बहो (६/४/१५८) इत्यनेन भू आदेशे निष्पन्नोऽयं भूमाशब्दः श्रौतलक्ष्यानुरोधात् धर्मिणं बोधयति। तत्र भूयस्त्वतारतम्ये प्राणमेव भूयांसं जगाद आशायाः। अयं च भूमा प्राणरूपः कः? किं प्राणवायुः, यद्वा प्राणितीति प्राणः इति कर्त्तृव्युत्पत्या जीवात्मा, उताहो परमात्मा इतिपूर्वपक्षे, निर्णिनाय भगवान् बादरायण–

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।।१-३-८।।

भूमा परब्रह्म परमात्मैव। कथं न जीवः? इत्य आह-सम्प्रसादात् अधिउपदेशात् सम्प्रसादो जीवः सम्यक् प्रसीदति परमात्मा यस्मिन् स सम्प्रसादः। नन्वस्य सम्प्रसादसंज्ञायां किं मानम्? श्रुतिरेव मानं इति ब्रूमः।" "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।। (छा० उ० ८-१२-३) इह सम्प्रसादः परंज्योतिः उपसम्पद्यते श्रुतिवाक्येन सम्प्रसादरूपजीवस्यापि परं गन्तव्यत्वेन परम ज्योतिस्वरूपं भूमाख्यं परब्रह्मैव, परज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति सम्प्रसादात् जीवात् अधि उपरिष्टात् परमात्मतत्वोपदेशात् भूमा परब्रह्मैव। यथा भागवते अथैव ब्रह्मस्तुतौ–

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत।।
ब्रह्मणः सर्वधर्माणां नोपपत्तिरनीश्वरे।
जीवे तदन्यथा श्रीशे ब्रह्मभूमा ततः श्रुतम्।।श्रीः।।

अन्यमपि हेतुमा-

धर्मोपपत्तेश्च ।। १-३-९ ।।

चकारः अप्यर्थः, धर्माणामुपपत्तिः धर्मोपपत्तिः तस्या धर्मोपपत्तेः ब्रह्मणोधर्मा अत्रैव उपपद्यन्ते। तत्र अन्यश्रवणदर्शनज्ञानाभावरूपधर्मः अमृतत्वलक्षणः अत्रैवोपपद्यते। स्वमहिमत्वंचापि, जीवात्मनोऽप्याधारपरमात्मा। किन्तु परमात्मन आधारतां श्रुतिः स्वयमेव प्रतिषेधति। "आधारे आधाराभावात् अनाधार आधारः", "मूले मूलाभावादमूलं मूलं" इति नियमात्। तथाचात्र श्रुतिः-

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति (।।छा० उ० ७-२४-१)

एवममीषां धर्माणां ब्रह्मं ब्रह्माण्युपपत्तौ स परमात्मैव भूमा ।।श्रीः।।

"द्वितीयं चाधिकरणं द्वितीयाङ्घ्रेः प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपा भाष्ये भक्त्यै सीतापतेर्मया।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।अथाक्षराधिकरणम्।।

अथ त्रिभिः अक्षराधिकरणं निरुप्यते। "बृहदारण्यके तृतीयाध्याये अष्टमे ब्राह्मणे अन्तर्यामिचर्चानन्तरं गार्गी याज्ञवल्क्यं अक्षरविषये पृच्छति। यथा- "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति"।। बृ० उ० ३-८-७ अनन्तरं याज्ञवल्क्यः आकाशाधारं अक्षरमभ्यचष्टद्ध, "स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽखानाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोतमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन" ।(बृ० उ० ३-८-८) अत्र सन्देहः किमिदमक्षरं प्रकृतिः पुरुषो वा, अक्षरत्वमुभयोरपि, "अक्षरात्परतः परः" (मुण्डक ३-२-२) इति श्रुतेः। यद्वा- परमात्मैव। अत आह सूत्रकारः-

"अक्षरमम्बरान्तधृतेः" ।।१-३-१०।।

अम्बरान्तानां आकाशपर्यन्तानाम् चराचराणां धृतेः धारणात् अक्षरं परमात्मैव

"एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितो ऽमृतः।।"
आकाशान्तपदार्थानां धारणानिजतेजसा।
अक्षरम्परमात्मानमभिधत्ते सनातनम्।।श्रीः।।

(श्रीभागवत १०/२४/२३)

ननु कथं आकाशान्तं परमात्मैव धर्तुं शक्नोति। न जीवात्मा न वा प्रकृतिः। इति जिज्ञासायामाह–

"सा च प्रशासनात्" ।।१-३-११।।

सा अम्बरान्तधृतिः प्रशासनाद्धेतोः अक्षरस्यैव नान्यस्य। अक्षरेणैव प्रशासितानि आकाशदीनि विधृतानि तिष्ठन्ति। प्रकृति जीवात्मानौ न प्रशासितुमलम्। तद्यथा- "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यांच दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ।(बृ० उ० ३-८-९)

एवं जीवस्य प्रकृतेश्च परतन्त्रत्वात् प्रशासनरूपो धर्मस्तयोर्न घटते। स तु चिदचिदात्मकनिखिलजगत्प्रशास्तरि भगवति संघटतेः ।यथोक्तं भागवते देवहूतिं प्रति भगवता-

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।

यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्।। यद्वनस्पतयो भीता लताश्चोषधिभिः सह।

स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च।।
स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे स गिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्।।
नमो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।

लोके स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्।।

(भागवत ३/२९/४०-४३)

अशासनाच्च सर्वेषां नियन्तुर्जगदात्मनः।
धृतिः सा ब्रह्मणो ज्ञेया न जीवे प्रकृतौ न सा ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाहं-

"अन्यभांवव्यावृत्तेश्च" ।।१-३-१२।।

चकारः अप्यर्थः अन्ययोः प़रमात्मनो विलक्षणयोः प्रकृतिजीवात्मनोः ये भावाः धर्माः अणुत्वाविवेकित्वपरतन्त्रत्वादयः तेषां व्यावृत्तेः निरसनादपि हेतोः प्रकृतिप्रत्यगात्मानौ नाक्षरवाच्यौ। अत्र श्रुतौ प्रकृतिजीवात्मनोः धर्माणां व्यावृत्तिर्दृश्यते। तथा हि– प्रकृतिः– विकारः स्थूलः अक्षरं अस्थूलम्, जीवः अणुः अक्षरं अनणु, प्रकृतिर्लोहितशुक्लकृष्णा "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"। (श्वे० उ० ४-५), इदं अलोहितम्। एवं अन्येषां चक्षुरादीनां आकाशादीनां च भावव्यावृत्तेः एभ्यो विलक्षणं चक्षुः श्रोत्रादिवर्जितम् पञ्चभूतेभ्यः पृथम्भूतं मनोप्राणाद्यतीतं ब्रह्म अक्षरम्।यथोक्तं भागवते भगवता-

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणैः गतागतैर्वस्तुगुणैर्नसज्जते।
तथाक्षरं सत्वरजस्तमोमलैरहं मतेः संसृति हेतुभिः परम्।।

(श्रीभागवत्-११/२८/२६)

जीवात्मनश्च प्रकृतेः श्रुतिषु प्रतिषेधितः।
आविवेक्यादिभावानां न तावक्षरसंज्ञकौ ।।श्रीः।।
तृतीया चाधिकरणं रामभद्रार्य धीमता।
श्रीराघवकृपाभाष्ये व्याख्यातं खरभिन्मुदे।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अथेक्षति कर्माधिकरणम् ।।

ईक्षति कर्म व्यपदेशात्सः ।१/३/१३।।

आथर्वणे प्रश्नोप़निषदि मन्त्रे ओंकारस्य मात्राफलं वर्णयता महर्षिणा त्रिमातृफलमुक्तम्। यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमत्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना

विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्म लोकं स एतस्माज्जीव घनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते (प्र० ५/५)।। अत्र कोऽयं पुरुष पादवाच्यः? जीवात्मा परमात्मा वा? चतुर्मुखोवा। यतोहि- सामभिर्ब्रहमलोकं नीयते। इह ब्रह्मलोकः ब्रह्मण एव लोकः ब्रह्मलोकः। ब्रह्मलोकं च ब्रह्मा चतुर्मुखा एव वसति। एवं तत्र पुरुषं ब्रह्माणं ईक्षते इत्यत आह- ईक्षति कर्म व्यपदेशात्सः ।।१/३/१३।। ईक्षणं ईक्षतिः "इकस्तिपौधातुनिर्देशे इत्येनेन भावे स्तिप् प्रत्ययः। ईक्षतेः कर्म तस्य व्यपदेशः **ईक्षति कर्म व्यपदेशः** तस्मात् ईक्षति कर्म व्यपदेशात् परमात्मनि ईक्षति कर्मव्यपदेशो वर्तते। कथमतेज्ज्ञायते? अग्रिममन्त्रे स्पष्टं ब्रह्मनिर्देशः अजरत्वाभयत्वामरत्व लक्षणः। स च परमात्मन्येव घटते न तु जीवात्मनि। यथा- तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्त मजरममृतमभयं परं चेति (प्रश्न ५/७) एवं न ब्रह्मा ईक्षतेः कर्म एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते इति वचने कस्मात् जीवघनात् परः हिण्यगर्भः ततोऽपि परं पुरुषं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनि (मुण्ड० २१२) इति श्रुतेः। तस्माद् ब्रह्मलोकशब्दोऽपि न षष्ठीतत्पुरुषेण समस्तः। केन तर्हि न केनापि। ब्रह्म इति पृथक्। लोकमिति पृथक्पदम्। लोक्यते इति लोकः तं लोकम्। सर्वदर्शन सुलभमिति भावः। एतेन दशवर्षसहस्राणि दशवर्ष शतानि च। रामो राज्यमुपा सित्वा ब्रह्मलोक प्रयास्यति" इति श्लोकीयः ब्रह्मलोक शब्दोऽपि व्याख्यातः (वाल्मी०१/१/९७) रामस्य परब्रह्मणः अजरामृताभयस्य ब्रह्म लोकगमनानुपपत्तेः। ब्रह्म राज्यं राम मुपासित्वा लोकं दर्शनं प्रयास्यति। संवृत लीलोऽपि दर्शनाय सुलभो भविष्यतीति हार्दम्। यथोक्तं भागवते श्री अक्रूरेण-

अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं,
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा।
संपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्विषो,
वोढा मुदं वीतविशङ्क अर्जिताम्।

(भागवत १०/३८/१९)

ईक्षतेः कर्मणश्चैव ब्रह्मणि व्यपदेशतः।
पुरुषः स पर ब्रह्म श्रीरामः पुरुषोत्तमः ।।श्रीः।।
तुरीयञ्पाधिकरणं तुरीयप्रेमप्राप्तये।
श्रीरामभद्राचार्येण भाष्येऽस्मिन् सम्प्रभाषितम्।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ दहराधिकरणम्

दहर उत्तरेभ्यः ।।१/३/१४।।

अत्र पदच्छेदे पक्षद्वयं- सप्तम्यन्तः प्रथमान्तश्च। दहरे उत्तरेभ्यः दहरः उत्तरेभ्यः, सप्तम्यन्तपक्षे अयादेशे वैकल्विके यलोपे पूर्वत्रासिद्धत्वाद् गुणाभावे प्रथमान्त पक्षे च भोभगो इत्यादिना रोर्यलादेशे शेषं पूर्ववत्। उत्तरेभ्यः शब्देभ्यः हेतुभ्यः दहरे वर्तमानं ब्रह्मैव इति सप्तम्यन्तपक्षेऽर्थः। दहरः ब्रह्मैव इति प्रथमान्तपक्षेऽर्थः। अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्म पुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति (।।छा० ८/१।।) अत्र ब्रह्मणा निर्मिते नवद्वारे पुरे अथवा ब्रह्माधिष्ठिते पुरे यदि हृदयाख्यं दहरं आकाशं तस्मिन् विराजमानो यः अन्तराशः दहराख्याः तस्य अन्तः किमपि अन्वेष्टव्यम्। अत्र को नाम दहराः। भूताकाशोवा हृदयाकाशोवा। तत्र भूताकाशः हृदयाकाशश्च द्वौपूर्वपक्षौ। तौ निरस्यन्नाह उत्तरेभ्यः मन्त्रेभ्यः हेतुभूतेभ्यः अत्र प्रयुक्तः दहरशब्दः परमात्मश्रीरामतात्पर्यकः। उत्तरमन्त्रौ यथा-

"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावीग्नश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमस्य वुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति (का० ८/३) इह मन्त्रे द्यावा पृथिव्यग्निवायुसूर्यचन्द्रसर्वभूताधारतादहरस्येवोक्ता सा भूताकाशे हृदयाकाशे च कथं संगच्छेत। एवं पम्चमोऽपि मत्र०- "स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत् सत्यं ब्रह्म पुरमस्मिन्कामः समाहिता (छा० ८/५) कीदृशोऽयं यः परमात्मा वृद्धावस्थया न वृद्धो भवति न वा एतस्य शरीरस्य वधेन हन्यते एवम्भूतः परमात्मनैव दहरो न जीवत्मा।

उदरमुपासते य ऋृषिवर्त्मसु कूर्पदृशः,
परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे।।

(भागवत १०/८७/१८)

उत्तरेभ्यश्च मन्त्राणां वाक्येभ्यः परमेष्ठिनः।
गुणधर्मावबोधभ्योदहरं ब्रह्म शाश्वतम् ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह दहर ब्रह्मत्वसमर्थने।-

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्ञ्च ।।१/३/१५।।

गतिश्च शब्दश्च गतिशब्दौ ताभ्यां गतिशब्दाभ्यां । पञ्चमीद्विवचनम्। एवं गतेः शब्दाच्च दहरशब्दवाच्यं ब्रह्मैव। अत्रैव श्रुतिः कथयति यद्यथा क्षेत्रं न जानन्त्यः सुवर्णनिधिसमीपं गत्वाऽपि न प्राप्नुवन्ति। एवं असत्येन प्रत्यूढाः प्रतिदिन सुषुप्त्यवस्थायां परमात्मानं प्राप्नुवन्त्योऽपि इमाः प्रजाः परमात्मानं न पश्यन्ति। अत्र गत्या ब्रह्मलोकशब्देन च परमात्मैव दहरत्वेन प्रतिपाद्यते। अत्रापि षष्ठे नवमे सति सम्पद्यापि तं न ज्ञातवन्तः इति लिंगेनापि दहरपदवाच्यः ब्रह्मैव।

"इमाः प्रजाः अहरहर्गच्क्षन्त्य एतं ब्रह्मलोकं व विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ।।छा० ८/३/२।। सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति। (छा० ६/९/२)

तथा श्री भागवते

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमायं।
सत्संग्रहाय भवपान्थ निजाश्रमाप्तावन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते।

(भा० ६/९/४५)

धृतेश्च सर्वलोकानां ब्रह्मणः सेतुरूपिणः।
महिम्नोऽस्मिंश्च सद्भावात् दहरो ब्रह्म कीर्त्यते ।।श्रीः।।

अन्यदपि कारणमाह-

"धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।।१/३/१६।।

धृतेः, च, महिम्नः, अस्य, अस्मिन, उपलब्धेः- इति पदच्छेदः। धृतिर्धारणम्। धृतेः- पञ्चम्येकवचनान्तम् । अत्रापि हेतुद्वयम् । अम्बरान्तस्य धारणादस्य परमात्मनश्च महिम्नोऽस्मिन्नेव परमात्मन्युपेलब्धेः दहरः परमात्मा इत्येव निश्चीयते। छान्दोग्ये विधृतिः सेतुंरितिकथनेन अस्य जगतः धारणम 'अपहतपाप्मा' इति कथनेनास्मिन महामहिमोपलभ्यते। अतोऽपि दहराकाशः ब्रह्मैव। तथाहि- "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानां सम्भेदाय। नैतं सेतुमहोरात्रे न तरतो, न जरा न मृत्त्युर्नशोको न सुकृतं न दुष्कृतम् । सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते। अपहतपाप्मा ह्यथ ब्रह्मलोक" (छा० ८/४/) एवं सेतु शब्दोऽस्य महिमानं प्रकटयति। अयमेव भवसागरस्य सेतुः। यथा श्रीमानसेऽपि-

अतिनागर भवसागर सेतू। त्रातु सदा दिनकरकुल केतू ।।

(मा०३/११/१४)

अपरमपिहेतुमाह

प्रसिद्धेश्च ।।१/३/१७

किञ्च- प्रसिद्धेरपि हेतोः दहराकाशो ब्रह्मैव। तद्यथा- आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा (।।छा० ८/१४।।) अस्य लोकस्य का गति रित्याकांश इति होवा च सर्वाणि ह वा इमानि भूताव्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।।छा० उ० १/९/१ अत्र यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यसंविशन्ति (तैत्तरीय ३/२) इत्युक्तश्रुतिलक्षणं जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणः आक्राशात् सर्वाणि भूतानि समुत्पद्यन्ते इत्यनेनैकवाक्यतापन्तं पूर्णतया संघटक। एवं आकाशस्यापि जगज्जन्मादिकारणलक्षणकब्रह्मण इव प्रसिद्धेः दहराकाशो ब्रह्मैव। तथा प्राह भागवते गजेन्द्रः-

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदेन फल्व्या च कलया कृताः ।।

(भागवत ८/३/२२)

जगज्जन्मादिहेतुत्वाप्रसिद्धेः, ब्रह्मणः किल।
तस्य चैहैकवाक्यत्वात् दहरो ब्रह्म नान्यथा ।।श्रीः।।

ननु दहराकाशप्रकरणे जीवस्य परामर्शः एवं- "एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकाम सत्यसंकल्पः" ।।छा० ८/१/५।। इति मन्त्रोक्तगुणाष्टकं मुक्तजीवेऽपि, न च मुक्तेषुः गुणाष्टकमनुपन्नमितिवाच्यम्, सतिपापे मुक्तेरेवासम्भवात्। तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति इति श्रुतेः इति जिज्ञासायामाह-

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ।।१/३/१८।।

इतरस्य ब्रह्मणो भिन्नस्य जीवस्य परामर्शात् हेतोः स एव इतरः जीवः दहराकाशः इति चेन्न? असम्भवात्। तस्मिन्नेव दहराकाशे वर्णितानां गुणानां जीवे असम्भवात् जीवो न दहराकाशः। यथा- "यावान्वा अयमाका शस्तावानेषोन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावनिश्च वायुश्च सूर्या चन्द्रमसौ उभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति" (छा० ८/१/३) एवं जीवे द्यावा पृथिवी वह्निपवनसूर्यचन्द्राणां समाहितत्वासम्भवात् जीवो न दहराकाशः किन्तु

ब्रह्मैव। तथा हि भागवतम्-

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ।।

(भागवत ३/२८/४१)

ब्रह्मेतर परामर्शादात्मादहर उच्यताम्।
तन्नासम्भवतो जीवे भगवान्दहरः किल ।।श्रीः।।

अथ पूर्वपक्षं उत्थाप्य स्वयं समाधत्ते। ननु अत्रैव सप्तमे खण्डे आत्मनोऽपि अपहतपापमत्वादिकं। सोऽपि जरामृत्युशोकविवर्जितस्तं न बाधयेते क्षुत्पिपासे। सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति- इति वचनेन तस्यापि कामाः संकल्पाश्च सत्याः, तर्हि कथं न जीवो दहराकाशः। ननु अपहतपाप्मत्वं न जीवे तथाहि अपहतानि पापानि यस्य **'सोपहतपाप्मा'** इति मन्त्रे पापापहननकर्तृत्वं ब्रह्मणि जीवस्तु यस्येति षष्ठ्यर्थोऽन्यपदार्थे। न च तृतीयार्थोऽन्यपदार्थोस्तु। अपहतं पाप्म अघौघं येन सोपहतपाप्मा इति चेत् असम्भवात्। जीवकर्तृकं पापहवनमसम्भवम् पापरहितस्य निन्नज्ञानसम्पन्नत्वेन ब्रह्मजिज्ञासैव निष्प्रयोजनिका। किञ्च- कौमारयौवनजराणां देहेसद्भावात् जीवे विरजत्व। विशोकत्वमपि न सम्भवम्। सत्यात्मवत्वहेतुत्वात्। एवमेवान्येऽपि गुणाः इति सर्वं मनसि कृत्याह।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।।१/३/१९।।

इह पूर्वादिभ्यो नवम्थोवा ६/२/१६ इत्यनेन विकल्पविहितस्य ङसेस्मादेशस्याभावपक्षरूपम्। अन्यथा उत्ररस्मादिति स्यात्। तथाहि- उत्तरात् दहरविद्यातः उत्तरस्मात् प्रसंगात् य आत्मा अपहपाप्मा इत्यादि प्रजापतिवाक्यात जीव एव दहराकाशः इति चेत् नः तु स जीवस्तु आविर्भूतस्वरूपः पूर्वं सत्यस्य स्वरूपं तिरोहितं- पश्चात् श्रवणमनादिद्वारा स आविर्भूतस्वरूपो भवति। इह तु निसर्गत आविर्भूतस्वरूपो परमात्मैव दहराकाशस्वरूपो भावितुमर्हति। अतएव आविर्भूताः स्वरूपभूताः जीवाः यस्मात् स आविर्भूतस्वरूपः। किञ्च- स अन्वेष्टव्यं इत्यत्र अन्वेष्टव्यम् सप्रयोजनकम्। तदन्वेष्टव्यं यस्यान्वेषणे किमपि प्रयोजनं स्यात्। नहि स्वयमेव स्वमेवान्विच्छेत्। नवा आत्मा आत्मानं विजिज्ञासेत। ततस्ततोन्यः कश्चन। अत्र अपहतपात्मत्वादयः स्वाभाविका यत्र वर्तन्तां स एव दहराकाशपदवाच्यः। ब्राह्मणः स्वरूपं नित्यमाविर्भूतम्। जीवस्य तिरोभूयते। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (गीता ५/६५) तस्मात तत्र प्रत्येकं गुणेषु नित्यत्वमनुसंधेयम्।

अन्यार्थश्चपरामर्शः ।।१/३/२०।।

ननु यदि जीवस्य नैवात्र ग्रहणम् तर्हि तत्र परामर्शः किमर्थं कृतः। यथा- " ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति। (छा० ८०/१०/५) अथ इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।।छा० ८० १/६।। एवमेव प्रजापतिवाक्येऽपि इतिशंकापनुदन्नाह- अन्यार्थश्च परामर्शः (१/३/२०) जीवस्य परामर्शः ग्रहणन्तु अन्यार्थः। दहर विद्यायां एतस्य दहराकाशोपासनया सम्प्रदायस्यास्य शरीरादस्मात्समुत्थाय परमज्योतिषः प्राप्तिः स्वेन नित्यभगवत्कैंकर्याख्येन स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिश्चयथा- "एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते इति अथवा तु शब्दः अभ्युपगमवादद्योतनार्थः। यद्यपि तत्र जीवपरामर्शो विद्यत एव नहि। तथापि तुष्यतुदुर्जन न्यायेन त्वदनुरोधेन वा यदि जीवपरामर्शं स्वीक्रियेतापि तथापि स न दहराकाशपदवाच्यः। तस्य परामर्शस्तु आविर्भूतगुणाष्टकतया पितृलोकादिविहरणार्थः। यथा- सपदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुतिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ।१। अथ यदि मातृलोकलामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ।।२।। अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पा देवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ।।३।। अथयदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य श्वसारः समुत्तिष्ठन्ति स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ।।४'। अथ यदि सखिलोक कामो भवति संकल्पा देवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ।।५।। गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ।।६।। अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानेन संपन्नो महीयते ।।७।। अथ यदि गीववादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्थ गीतिवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ।।८।। अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्री लोकेन संपन्नो महीयते ।।९।। यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुतिष्ठन्ति तेन सम्पन्नो महीयते ।।१० (छा० ८/२।।) एवं पितृमातृलोकानां प्राप्तये सत्य संकल्पादय" न तु ब्रह्मत्वाप्तये यथोक्तं भागवते-

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपद किं वा दासानामवशिष्यते।।
प्रजापतेर्वाक्यगतं गुणाष्टकम्।
यदप्यादो ब्रह्म मुहुः प्रशंसति।
अथापि चेदन्य सुखं समीहितु
श्रुतिपरामर्शमिमं प्रभाषते ।।श्रीः।।

पुनः प्रश्न मुत्थाप्योत्तरयति-

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।।१/३/२१।।

ननु तत्र दहराकाशे स्थानस्याल्पता वर्णिता यथा- "यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो ऽस्मिन्तराकाशः" ।।छा० ८/१) अत्र ब्रह्मपुराख्यं शरीरमल्पं तत्रापि हृदयमल्पं पुण्डरीकाकारं ततोऽपि अल्पः दहराख्यः आकाशः। एवं अत्यल्पं स्थानं ब्रह्मणः तच्च भूमा, "स च भूमा, यो वै भूमातत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" इति श्रुतौ। तस्य भूमात्वं तस्मात् अणुरेव जीवः। इत्यत आह- अल्पश्रुतरिति चेत्तदुक्तम् ।।१/३/२१।। श्रुतिषु तस्य ब्रह्मणः अल्पस्थानश्रुतेः हेतोः दहराकाशो जीव एव। इति चेत्? तदुक्तम्, एतस्य समाधानं अर्भकौकस्त्वप्रकरणे व्याख्यातं। यथा तत्र उपासकानुरोधेन उपासकानां हृदयपरिमाणमनुसृत्य ब्रह्मणः स्फुरणं तथैवात्रापि। यथोक्तं भागवते परीक्षितगर्भदर्शन प्रकरणे-

अंगुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपि च दर्शनश्यामं तडितवाससमच्युतम् ।।
(भागवत १/१२/८)

स्थानस्यैवाल्पश्रवणात् न जीवो दहरो भवेतः।
तत्तु भक्तानुरोधेन हरेः पूर्वं यथोदितम् ।।श्रीः।।

अन्यदपि कारणमाह-

अनुकृतेस्तस्य च ।।१/३/२२।।

तस्य दहराकांशरूप ब्रह्मणः अनुकृतेः अनुकरणात् जीवो न दहराकाशः। अपहतपाप्मत्वादयः ब्रह्मगुणाः जीवे आगच्छन्ति। "निरञ्जनः साम्यं परममुपैति (मु० उ० २-२) इत्यादि श्रुतेः यथा भागवते श्रीगोप्यः-

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीलाभगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः

।।१०/३०/१४

अनुकरणाद्विभोस्तस्य जीवो याति गुणाष्टकम्।
परकीय गुणाढ्यः सः कथं स्याद्दहरः किल ।।श्रीः।।

इममेव पक्षं दृढयितुं स्मृतिमपि उदाहरति-

"अपि स्मर्यते ।।१-३-२३

अपि निश्चयेन दहराकाशत्वेन ब्रह्म स्मृतावपि स्मर्यते।

यथा श्रुतौ समुपासित दहराकाशो जीवोऽप्यपहतपाप्मत्वादि गुणैरूपेतो भवति। तदनुगुणं स्मृतावपि भगवान् एवम् स्मरति-

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलय न व्यथन्ति च (गीता १४-२) अत्र मम साधर्म्यमागताः इत्यनेनता भगवता स्वयमेव जीवब्रह्मणोरैक्यं निषिद्ध्यते। तथा हि समानो धर्मोयस्य स सधर्मा सधर्मणः भाव साधर्म्यं सधर्मत्वं च भगवद्धर्मभूयस्त्वं। भगवतः समग्रापि धर्मा नैवाशेषेण समाहर्तुं शक्या। अतएव गुणाष्टकमेव प्रायेण समाधीयते जीवे। एवं अपहतपाप्मत्वात् सर्गे शुक्रशोणितमङ्गीकृत्य न जायन्ते। अतएव प्राह "सर्गेऽपिनोपजायन्ते" उपजन्म पितरं मातरंचाङ्गीकृत्य, विमृत्युत्वाद् विशोकत्वाच्च "प्रलये न व्यथन्ति च" यथा श्री भुशुण्डि-

"इहाँ बसत मोहि सुनहु खगेशा।
बीते कलप सात अरु बीसा ।।

(मानस ७-११४-११)

रूपान्तरम्

अत्रैव चाश्रमे रम्ये वसतः शरदां समाः।
व्यतीयुः खगराजेन्द्र कल्पानां सप्तविंशति ।।श्रीः।।

यथा भागवते प्रह्लादः-

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति सच्चिन्ताह्लाद उदगायति क्वचित्।।

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकारह।।

भाग० ७-४-३९-४०

गीतायां भगवान् कृष्णः जीवं प्राप्य गुणाष्टकम्।
जन्ममृत्युभयान्मुक्तं स्मरत्येवं विधं किल।।
दहराधिकरणं चैतत् यथा ज्ञानमभाष्यत।
श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रार्य धीमता।।

।।श्रीराघवः शन्तोतु।।

।।अथ प्रमिताधिकरणम्।।

ननु श्रुतौ अङ्ग-ष्ठमात्रपुरुषस्य वर्णनं वर्तते। यथा- "अङ्गु-ष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगप्सते एतद्वै तत्।। "अङ्गु-ष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः, एतद्वै तत् (।।क० उ० २-१-१२, १३) इत्यनेन श्रुत्यैव ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वं सूयत्ये। इत्यत आह-

"शब्दादेव प्रमित ः १-३-२४

अत्र यद्यपि अङ्गु-ष्ठमात्रशब्दश्रवणात् सन्देहो जायते। कोऽयमङ्गु-ष्ठमात्रपुरुषः जीवात्मा, परमात्मा वा इत्यत आह "शब्दादिति" अग्रे श्रुतौ ईशानो भूतभव्यस्य" इति मन्त्रद्वये दिरुक्वात् शब्दादेव प्रमितः प्रमाणविषयीकृतः। नन्वपरिच्छिन्नपरमात्मा अङ्गु-ष्ठमात्रः कथं भवितुं शक्नोति? इत्यत आह शब्दादेव, भगवानपि सर्वतन्त्रस्वतन्त्रोऽपि श्रुतिं नातिवर्तते। यथा श्रीमद्रामायणे-

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः।।

(वा० रा० ४-१८-३७)

यद्वा- अस्मात् शब्दात् उपासकहृदयानुरोधेन आ ईशत् इव इति एव अस्मात् शब्दात् आ ईशत् प्रमित इव परिच्छिन्न इव भाति। वस्तुतस्तु व्यापक इव। यदि व्यापको नाभविष्यत्। तदा "ईशानोभूत भव्यस्य" इति तस्मिन्नीशानत्व न प्रत्यपादयिष्यत्। अतएव श्रीमद्भागवते- "अङ्गु-ष्ठमात्रममलं स्फुरत् पुरटमौलिनम्।

अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युत भागवत १-१२-८ यद्वा अन्यत्रेति

अध्याहार्यम्। शब्दात् एतस्मात् शब्दादन्यत्र प्रमितः प्रकृष्टं व्यापकाख्यं मितं परिमाणं यस्य तथाभूतः। यथा भागवते ब्रह्मा कृष्णं प्रति-

अद्येव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-

मेकोऽसि चतुर्भुउजास्तदखिलैः साकं मयोपासित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुदृद्वत्सा समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-।
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ।।

(भा० १०-१४-१८)

श्रौतं शब्दमुपाश्रित्यापरिच्छिन्नोऽपि माधवः।
उपासकानुरोधेन परिच्छिन्न इवेयते।।

अथ कथं परमव्यापकोऽपि अङ्गु-ष्ठपरिमाणको भवति? इत्यत आह-

"हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।।१-३-२५

मनुष्याणां अधिकारः यस्मिन् सः मनुष्याधिकारः भगवान् तस्य भावः मनुष्याधिकारत्वं तस्मात्- मनुष्याधिकारत्वात्। यतो हि ब्रह्मोपासनायां मनुष्यस्याधिकारः तस्मात्, तेषामपेक्षया हृदि परमात्मा अङ्गु-ष्ठमात्रो भवति। यत् परिमाणक आधारः तत् परिमाणकेनाधेयेनापि भवितव्यम्। अतएव मनुष्यहृदयमनुसृत्य भगवान् अङ्गु-ष्ठमात्रो भवति। तु शब्दः भगवतो वास्तवव्याप्यत्वनिरासार्थः। नन्वनुपपन्नमेतत्, व्यापकस्य व्याप्यत्वं, अपरिच्छिन्नस्य परिच्छिन्नत्वं, द्राघिष्ठस्य क्षोदिष्ठत्वं? इति चेन्नैव! तस्मिन्निरतिशय कल्याणगुणगणकलितकल्लोलिनीवल्लभे सकलसुरमुनियक्षगन्धर्वाकिन्नरमनुजदनुज दुर्लभेऽपि निष्किञ्चनभक्तभावसुलभे धृतधर्मवर्मणि परब्रह्मणि श्रीरामे सर्वं सूपपन्नम् "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच (श्वे० उ० ६-८) यथा भागवते परीक्षिद् दर्शनम्-

मातुर्गर्भगतोवीरः स तदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्य-मानोऽस्त्रतेजसा।।
अंगुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ।।

(भाग० १-१२-७, ८)

मनुष्य एवाधिकृतो मुरारेः
समर्चने तद्धृदयं ह्यपेक्ष्य।
भवत्यथाङ्गु-ष्ठ समानमानः
स व्यापको विश्वतनुर्विभूमा।।
"इति प्रमिताधिकरणं प्रथमस्य तृतीयके।
श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं भगवन्मुदे।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।अथ देवताधिकरणम्।।

ननु श्रुतौ स्मृतौ च मनुष्याणां ब्रह्मोपासनेऽधिकारो निगदितः किं देवानामधिकारो वर्तते न वा? नैवेति सामान्यतः पूर्वपक्षः। कृतोपनयनसंस्कारा हि वेदमधिगच्छन्ति, देवानां तथात्वाभावात् नाधिकारः। इति शङ्कां परिहारयन्नाह-

"तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ।।१-३-२६

बादरायणः स्वयं ब्रह्मसूत्रकारः भगवान् वेदव्यासः तदुपर्यपि तेषां मनुष्याणां उपरि देवानां, अपिना मनुष्यतो निम्नानां वानरादीनामपि विशेषाणां अस्ति ब्रह्मोपासनेऽधिकारः। कथं? इत्यत आह- **"सम्भवात्,"** यतो हि तेषामपि मनुष्याणामिव द्विजातिसंस्कारसम्भवः। अतएव छान्दोग्ये असुरकुलउत्पन्नोऽपि बलिसुतो विरोचनः प्रजापतिं समित्पाणिरुपजगाम्, इन्द्रोऽपि, अत्रद्वावपि मनुष्येतरौ। "तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यतात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभि प्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः।" (छा० उ० ८-७-२) अतएव वानरशरीरस्यापि हनुमतः सर्ववेदविनीतत्वमुपपद्यते श्रीमद्रामायणे भगवच्छ्रीरामोक्तम्-

"नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्।।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम् ।।
वा० रा० ४-३-२९, ३०

किं च यदि द्विजातिसंस्कारो न स्यात्, तदा हनुमतो

ब्राह्मणवदुवेषधारणमप्यशास्त्रीयं स्यात्। तच्च दृष्ट्वा मर्यादा पुरुषोत्तमो रामः काञ्चित् प्रतिक्रियामवश्यं कुर्यात्। ब्राह्मणत्वे एव तस्य सूर्यनारायणाच्छास्त्राध्ययनं सङ्गच्छते। यथा-

''कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः।
भिक्षुरूपं ततो भेजेऽशःबुद्धितया कपिः ।।

(वा० रा० ४-३-२)

अतएव हनुमच्चत्वारिशिकायामपि श्रीहनुमतो यज्ञोपवीतधारणम्।-

''हाथ वज्र अरु ध्वजा विराजै। कांधे मूँज जनेउ छाजै।।

(हनुमान चालीसा -५)

रूपान्तरम्-

विराजत्याञ्जनेयस्य हस्तवज्रे ध्वजोत्तमः।
मौञ्जी यज्ञोपवीतश्च स्कन्धे भाति महामते।।

अतएव श्रीमद्भागवते स्वयं हनुमदुंक्तायां श्रीरामोपासनायां सुरासुराणां नराणां वानराणां चाधिकारः सङ्गच्छते।

सुरोऽसुरोवाप्यथवानरो नरः
सर्वात्मनायः सुकृतज्ञमुत्तमम्।

भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं

य उत्तराननयत्कोसलान्दिवम् (भागवत-५-१९-८) किं च- हनुमान स्वयमेव उपनिषदाचार्यः। यथा अत्रैव रामरहस्योपनिषदि- ''हनूमान्होवाच''-

''भो योगीन्द्राश्चैव ऋषयो विष्णुभक्तास्तथैव च।
श्रृणुध्वं मामकीं वाचं भवबन्धविनाशिनीम्।।
एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्मतारकम्।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।।
राम एव परं तत्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम् ।।

(रामरहस्योपनिषत् १-५, ६)

मनुष्याणामुपर्यस्य निम्नानां च तथा हरेः।
उपासनेऽधिकारोऽस्ति प्राहेदं बादरायणः ।।श्रीः।

अथ अन्यपक्षं विहाय देवपक्ष एव शङ्कते-

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेवप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।।११-३-२७।।

ननु देवानां वेदाधिकारत्वे कर्मणि विरोधः स्यात्। मन्ये इन्द्रे गुरौ वसति, केनचित् इन्द्र आगच्छ, हरिरिव आगच्छ इत्याह्वाने तस्मिन्यौगपद्येन गुरुकुल वासः हविस्वीकारश्च कथं संगच्छेताम्? इत्यत आह- विरोध इति कर्मणि विरोध? इचि चेत् शङ्केत तन्न! देवानां अनेकप्रतिपत्तेः देवता यौगपद्येनानेकरूपाणि बिभ्रति। अतः तत्तद्रूपैस्तत्तत्कार्यकरणे योगिनामिव न विरोधः, एवं दर्शनमपि। यद्वा- अनेककर्म व्यायासक्तापि देवता यौगपद्येनानकेषां दीयमानहबींषि स्वीकरोति। यथा च सौभर्यादयः यथा भागवते-

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात्,
पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः।
नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथाना
मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ।।

भा० ८-६-५२

अनेकेषां च रूपाणां सुरा वै धारणे क्षमाः।
दर्शनाच्चैव सामर्थ्यान्न विरोधोऽस्ति कर्मणि ।।श्रीः।।

अथ वेदविरोधं परिहरति।-

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१/३/२८।।

ननु भगवता अनेकप्रतिपपत्तिरूपयुक्त्या कर्मविरोधस्तु वारितः। किन्तु शब्दविरोधस्तु दुर्वार एव। कथमत आह-शब्द इति। पूर्वसूत्रात् ङसा विपरिणामश्च शब्दस्यातः प्रभावात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां इति सूत्राकारः। कर्मणि भवेन्नाम न विरोधः किन्तु शब्दे। वेदमंत्राक्षरंविरोधः वेदों ह्यपौरुषेयः। अस्य महतो निःश्वसितमृग्वेद। "इत्यनुशासनात् देवानां गुरुकुलादिवासे तेषामनादित्वव्याकोपे तत्प्रतिपादकानां वेदानां कथं प्रामाण्यम्? इति चेत् न, इत्थं न शंकनीयम्। कथम्? अतः प्रभवात्। देवताभ्य एव शब्दा प्रकाश्यन्ते। यद्वा अतः अस्मात् शब्दात् देवानां प्रभावात्। वेदाः नित्याः तदुक्तानि तत्तद्देवतानामानि संस्मृत्यैव प्रजापतिना देवानां रचना क्रियते। यथा 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।" यथा वेदे पूर्वमेव त्रैविक्रमावतारः सूचितः पश्चात् तमनुस्मृत्यैव भगवान् पृथ्वीं त्रिविचक्रमे। किञ्च- वेदेन पूर्वम् "प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा भिजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।। (शुक्ल यजु० ३१/१९) इति श्रुतिः।। चरति गर्भे

इत्यनेन भगवतो गर्भवासं श्रावितवती। तमनुस्मृत्यैव भगवान् कौसल्यागर्म्मे चचार। किञ्च श्रीसूते- श्रुतिर्भूमितः सीताजन्म प्रत्यजानात्- यथा "गन्ध द्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टांकरीषिणीम्।।" (श्रीसूक्तम् ।।९।।) गन्धशब्दः गन्धवती पृथिव्युपलक्षणम्। गन्धः गन्धवती पृथिवी द्वारं जन्मस्थानं यस्याः सा गन्धद्वारा तां, एवं स्मृतिरपि वेदार्थमनुवदति-

अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवर्तयः।।
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।

(मनु० अ० १/२१)

नाम रूपश्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार स ।।

(वि० पु० १/५/६३)

एवं प्रत्यक्षं श्रुतिः स्वतः प्रमाणत्वात् अनुकूलं श्रुत्यर्थं मीयते थेन तदनुमानं स्मृतिः ताभ्यां प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यांञ्च प्रामाणितात् अस्मात् देवानां प्रभवात् हेतोः शब्देऽपि न विरोधः। यथोक्तं वेदस्तुतौ भागवते-

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं,
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः,
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ।।

(भा० १०-८७-२४)

श्रुतिस्मृतिभ्यां निर्णीतात् शब्दादिन्द्रादिदेवता।
प्रवर्तिता ततो नैव विरोधो वैदिकाक्षरे।।

अतएव एव विवक्षितमुपसंहरति-

अतएव च नित्यत्वम् ।।१/३/२९।।

अतएव अस्मादेव हेतोः वेदविहितनाम संस्मरणमनुसृत्यैव ब्रह्म सृष्टिव्यापारात् वेदस्य नित्यत्वम् प्रतिकल्पं पूर्वं ब्रह्माणं विधाय भगवान् तस्मै वेदर्थं प्रहिणोति पुनश्च वेदार्थमनुसृत्य ब्रह्मा सृष्टौ प्रवर्तते। अतएव "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै। (श्वेता० ६/१८) इति श्रुतिः। एवं

वेदानां नित्यत्वम् शब्दप्रामाण्येन। सृष्टिविनाशेऽपि वेदानां न विनाश इति भावः। तथा च भागवते-

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्तान् श्रुतिगणान् यथा।
तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्मः सनातनः ।।

(भा० ८-१४-४)

प्रतिकल्पमनुस्मृत्य वेदनामानि वेधसा।
सृज्यन्ते सर्वसर्गा हि तस्माद् वेदस्य नित्यता ।।श्रीः।।

समान नामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च पुनः शंकामुत्थाप्योत्तरपति- ननु वेदानां नित्यत्वे तत्प्रतिपादितदेवानां प्रतिकल्पं समान नामरूपत्वे तेषामेवेन्द्रादीनां प्रतिकल्पं तथैव सर्जने आवृत्ति? इति चेत्, भवतु नाम। तान स्वीकुर्मः आवृत्तावपि न विरोधः स्मृतिप्रामाण्यात् श्रुतेश्चानुरोधात्। एवं आवृत्तावपि रचनीयपदार्थानां समाननामरूपत्वात् भगवतैव जगद्रचनाक्रियते। नष्टानि भवन्ति भूतानि किन्तु वेदस्याविनाशित्वात् तेन पूर्वकल्पीयनामानि स्मृत्वा तथैव सृष्टिरचनाया आवृत्तौ न वा व्यतिक्रमः न वा विरोधः। यथा कोऽपि पूर्वेद्युर्भुक्त्वा सुप्तः पुनः सुप्तोत्थितः पूर्वद्युः कृत्यानि कर्माणि स्मरन् पुनस्तथैव स्मरन् प्रवर्तते। विस्मृतश्च कदाचिद् स्मार्यते। तथैव भगवान् पूर्वकल्पे सकललोकमुपसंहृत्य सुप्तः। प्रभाते सृष्ट्यारम्भे श्रुत्वैव बोध्यते। "बहुस्याम् प्रजायेय" यथा पूर्वकल्पयत्" इत्यादि श्रुतिः स्मृतिश्चापि-

स्वसृष्टमिदमापीयः शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्कैः श्रुतयः परम्।।१२
यथा शयानं साम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैः बोधयन्त्यनुजीविनः ।।१३।।

(भागवत १०/८७)

जय जय जह्यजामजितदोषगृभीतगुणां,
त्वमसि यदात्मनासमवरुद्धसमस्तभगः।
अग जगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनु चरेन्निगमः

भागवत १०/८७/१४

ननु प्रतिकल्पं जगतस्समानरूपवत्वे पुराणेषु भगवद्भगवदीयकथावैलक्षण्ये 'कथं' कल्पभेद आश्रीपते? यथा रामचरितमानसऽपि-

कलपभेद हरियरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। (रा० वाल का० ५/३२/१७) कलप कलप प्रति प्रभुअवतररहीं। चारू चकित नानाविधि करहीं। तव तव कथा मुनीसन्हि गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई। विविध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने।। हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता। कहहिं सुनहिं बहुविधि सब सन्ता

(मानस ५ रा० बाल० १३९/२. ३. ४)

रुपान्तराणि-

कल्पभेदभिन्नानि हरेसु चरितानि च।
नानाविधानि दिव्यानि गायन्ति स्म मुनीश्वराः।।
अवतारञ्च गृहणाति कल्पं कल्पं प्रति प्रभुः।
नानाविधानि चारूणि चरितानि करोति च।।
तदा तदास्म गायन्ति कथा दिव्यामुनीश्वराः।
परमाश्च प्रबन्धान्वै विरचय्य ह्यनेकशः।।
तत्र तत्रैव विविधाः प्रसंगाश्च ह्यनूपमाः।
वर्णिता येषु चतुराः विस्मयन्ते न कर्हिचित्।।
अनन्तश्च हरिस्तस्य ह्यनन्तासु कथाः हरेः।।
कथयन्ति च श्रृण्वन्ति सन्तो बहुविधा किल।।

इति चेत् सुष्ठु। अत्र सूत्रे सृज्यानां प्रतिकल्पं समान कामरूप प्रतिज्ञानात्। भगवतो नाम रूपेऽपि वैषन्येऽप्यदोषात्। अनन्तत्वाच्च भगवतस्तत्र श्रुतेरपि अनुशासनमशक्यम् यथा श्री भागवते-

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति पाति च ।।

भा० २-६-३८

समाननामरूपायामावृत्तावपि नो क्षतिः।
श्रुतिस्मृतिप्रमाणाभ्यां न विरोधो जगत्कृतौ ।।श्रीः।।
अधिकरणं देवतानां सोपपत्तियथामति।
रामभद्रेण विदुषा व्याख्यातं प्रीतयेसताम् ।।

अथ त्रिभिर्मध्वधिकरणं निरूप्यते- ननु भवतुनाम ब्रह्मविद्यायां देवाधिकारः। किन्तु मधुविद्यायां देवाधिकारो वर्तते नवेति? जिज्ञासायां पूर्व पक्षरूपेण निज

शिष्यस्य जैमिनेर्मतं। हेतुद्वयगर्भेण सूत्रद्वयेनोपन्यस्यति-

''मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।।१/३/३१।।

छान्दोग्ये तृतीयाध्याये मधुविद्यानिरूपिता। तत्र आदित्यवस्वादिदेवा मधुरूपेण वर्णिताः। यथा- असावादित्यो देवमधु तस्य- द्यौरेव तिरश्वीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः। (छा० ३/१/१) एवं मधुविद्यया स्वस्योपासन विधीयते तत्र देवानां नाधिकारः। असम्भवात् स्वेन स्वोपासनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। इति जैमिनिराचार्यो मन्यते यथोक्तं भागवते-

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः। ।।

(भा० २-६-२०)

देवानां मधुविद्यायां स्वस्य स्वेनार्चना विधा।
अशक्यत्वान्नाधिकारः एतज्जैमिनिरब्रवीत् ।।श्रीः।।

अपरमपिहेतुमाह-

ज्योतिषि भावाच्च ।१/३/३२।।

अत्र व्याख्यानप्रकारकद्दयम्।

प्रथम कल्पे, ज्योतिषि शब्दः नक्षत्रवाची। सूर्यादीनां स्वयं ज्योतिषनक्षत्रमण्डले भावसत्वात्। तर्हि स्वयं प्रकाशरूपत्वात् मधुविद्या स्वं प्रकाशं कथमुपास्यताम्? द्वितीयपक्षे, ज्योतिः परं ब्रह्म'' ''यदतोदिवः परो ज्योतिर्दीप्यते। परं ज्योति रूप संपद्य- तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'' (वृ० ६/४/१४) यद्वा ज्योतिष्शब्दो ज्योतिर्मयलोकपरः। देवानां ज्योतिषि ज्योतिर्मयलोके भावात् स्थितत्वात् हेतोः सर्वैश्वर्यतृप्तानां तेषां मध्वादिषु अनधिकारं जैमिनि राह- यथोक्तं भागवते-

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
सत्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ।।

(भा० १०-३-२४)

स्वयं ज्योतिर्मयत्वाच्च ज्योतिर्लोके जगत्पति।

ज्योतिस्थत्वात्ते देवाः मधौ नाधिकृताः किल ।।श्रीः।।

इमं पूर्वपक्षं उत्तरयन् प्राह बादरायणः-

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।१/३/३३।।

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। बादरायणः मध्यवादिषु भावं अधिकारं मन्यते। यतो हि वेदविहितत्वात्। सोपासनमपि भगवदुपासनासोपानं अतएव कर्मकाण्डे आत्मवन्दनं क्रियते। यद्वा- लोक संग्रहार्थं सोपासनं यथा-गोवर्धनधारणप्रसंगे भ़गवान् स्यवमेव शैलीभूतं स्वयं प्रणनाम- तस्मैनमो ब्रजजनैः सहचक्रे ऽऽत्मनात्मने। अहोपश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ।। (१०/२४/३६ भागवत) लोकहष्टान्तभप्याह उत्तर खण्डेन यथा लोकेऽपि स्वेन सम्पूज्यते। विभूतित्वाद्धरेर्लोकसंग्रहात् स्वसमर्चने।

शक्ये मधौ चाधिकारं प्राहैषां बादरायणः ।।श्रीः।।
मध्वाधिकरणं चैतत् सोपपत्तिनिरूपितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण वैष्णवानां सतां मुदे।।

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः,
शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगेत्पत्तेः अपेक्षते तत्र बलं कुलञ्च नो,
नवापि कालो न विशुद्धतापिवा अथापशूद्राधिकरणम्

एवं अधिकारप्रसंगे मनुष्याणां देवानां चाधिकारो वर्णितः। तत्र अपि शब्देन सर्वेषां द्विजातिसंस्कारसम्पन्नानं वेदाधिकारो वर्णितः। तत्र ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां सति वेदाधिकारे तुरीयवर्णस्य वेदेऽधिकारोऽस्ति नवेति निर्णयार्थमधिकरणमेतत प्रारभ्यते। अस्मिन् बहोः कालाद् विप्रतिपद्यन्ते भिन्न भिन्नधारणावन्तः वैदिकधर्मावलम्बिनः, केचन नास्तिका, केचन अर्धनास्तिकाः वैदिक धर्मावलम्बिनः, केचन नास्तिका, केचन अर्धनास्तिकाः, केचन अवैदिकाअपि वैदिकम्मन्यमाना। चतुर्थस्य वेदेषु नास्त्यधिकार। इति वर्तते शुद्धसनातनधर्मावलम्बिनां पक्षः। परन्तु वेदेष्वधिकृतैः वेदाध्यनतो यत् फलं लभ्यते तदेव फलं वेदेष्वनधिकृतैः वेदकल्परामायणमहाभारतादिश्रवणणेन वाचनेन च लभ्यते, तद्यथा- स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारत भाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।
भाग० १/४/२५।।

भारतव्यपदेशन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशुद्रादिभिरप्युता।।

।।भाग० १/४/२९।।

अत्र नवा कश्चिद् द्वेषः न वा पक्षपातश्श्रुतीनां। संस्कारा अशुद्धस्य भवन्ति, ये स्वयमेव शुद्धाः तेषां किं संस्कारैः किमन्याभिः क्रियाभिः? अतएव न शूद्रे पातकं किच्चित्नायं संस्कारमर्हति।" वेदे अनधिकृतत्वाद् एवापकृष्टम्। इति नास्ति नियमः यथा सत्योऽपि ब्राह्मणपत्न्य अनधिकृता वेदेषु किं ताः अपकृष्टाः अनसूया सावित्री प्रभृतयः अनधीतवेदा अपि सर्वोत्कर्षगताः। अधिकारो नाम कर्मप्रवर्तनाप्रयोजकः। अहो यस्माच्चरणात् गंगा प्रादुरभवत्। तस्मादेव चरणात् भगवतः प्रादुर्भूतः शूद्रः कथमपवित्र? इति विडम्बनावहः पक्षः। यदि शूद्रः अपावनः न शूद्रे पातकं किञ्चिन्नायं संस्कारमर्हति। इति कथं स्मृतं स्यात्? अधिकारानधिकारयोरंन्याकथा। पवित्रापवित्रयोरन्या। अधिकारानधिकारौ सामर्थ्यासमर्थ्यसापेक्षौ। गर्भधारणे पुरुषोऽनधिकृतोऽसमर्थ। स्त्रीशूद्राणां स्यान्नाम वेदे नाधिकारः किन्तु वेदमहातात्पयभूतभगवत्प्रपत्तौ सर्वेषामधिकारः। अतएव प्राहः श्रीरामविग्रहस्वरूपाः भगवत्पूज्यपादाः परमहंस परिव्राजकाचार्यविमलात्ममहात्मशिरोमणयः-

शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्पत्तेः अपेक्षते तत्र बलं कुलञ्च।

(श्रीमद्भगवद्गीतायामपि जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्या-)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

गीता ९/३२।।

अतएव श्रीमद्भागवते- भागवत कथां प्रारभमाणः भगवान् शुकाचार्यः।-

किरात हूणान्ध्रपुलिन्द पुल्कसा आभीरकङ्कायवनाः ससादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।

(भागवत २/४/१८)

अतएव श्रीरामचरितमानसेऽपि स्वयमेवप्राहुः श्रीमद्रामानन्दीयकुल-कैरवशीतरश्मयःश्रीमद्गोस्वामितुलसीदास महाराजाः।

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजे सुनु सठमना।
काणिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।।

आमीर जवन किरात खस स्वचादि अति अघरूपजे।
कहि नाम वारक तेपि पावन होंहिं राम नमामि ते ।।

(रा० उ० २९/१/१३०)

को नाप्तवान् गतिमथो रघुवीरमेत्य
के रे मनः पतितपावनमीड्यकीर्तिम्।
तीर्णा भवं हि गणिका गजराड्गवाशो,
गृध्रोह्यजामिल समः पतिताधिराजः।।

आभीरयावनखसः कुटिलः किरातः। कोलः श्वपाक इति वरुण कुलादपेतः।

रामेति सोऽपि सकृदेव मुखेन गीत्वा
संसारपार मगमत् तमहं नमामि।।

किञ्च वर्णव्यवस्था नापकर्षाय परमोत्कर्षायैव सा। इदमत्रावधेयम्। यदस्माकं वैदिके धर्मे वर्णा सन्ति सर्वे समाना। किन्तु सवर्णः अवर्णो नास्ति कोऽपि। न कोऽपि दलितः न कोऽपि पृष्ठगामी सर्वे हिन्दवस्समानाः किञ्च- यदि पद्भ्यां जातत्वात् शूद्रोपेक्षाभाग्? तर्हि कथं पादयोः प्रणम्यते न मुखे। कथं पादोदकं गृहयते न मुखोदकम्? किञ्च पूज्यताद्योतकप्रकरणे पूज्यचरण-गुरुचरण-पितृचरणमातृचरण इत्येत चरणान्तं प्रयुज्यते न मुखान्तम्।

तस्मात् ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चापि महामनाः।
सनातनस्य धर्मस्य चत्वारः स्तंम्भका वयम्।।
नैव शूद्रो घृणापात्रं नैवोपेक्ष्यः कदाचन।
हिन्दवः सोदराः सर्वे श्रीरामानन्दानुशासनात्।।

अथ यदि शूद्रो वेदेनाधिकृतः तर्हि रैक्वः जानश्रुतिनामानं राजानं अरे शूद्र! इति कथयित्वा कथं तिरश्चकार। इति शंका समाधातुमाह-

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदा द्रवणात् सूच्यते हि ।।१/३/३४।।

छाग्दोग्ये इत्थमाख्यायते। परमदानशीलः जानश्रुतिनाम राजा आसीत्। स एकदा सायं अध्याट्टालिकामासीनः आकाश उत्पतितहंसात् स्वापेक्षया रैक्वस्य परमोत्कर्षं श्रुत्वा ब्रह्मविद्याविषये परमचिन्तितोऽभवत्। अनन्तरं क्षत्तारं प्रेषयित्वा तन्निवास स्थानसंकेतमभिगम्य तत्र बहु-धनं गृहीत्वागतः स रैक्वः ब्रह्मवेत्ता पामानं कण्डूयमानः तमुपेक्षितवान्। शूद्र इति कथियत्वा। कथं

क्षत्रिय शूद्र इति अकथयत्? इत्येव प्रतिपादयति। तस्य अनादरः तदनादरः। तस्य श्रवणात्। अस्य जानश्रुतेः शुभचिन्ता। अतएव तदाद्रणवात् निजानादरेण संजात ईर्ष्याभावः, तं प्रति आद्रवत् अतोऽसौ शूद्र इति कथितः। हि यतो हि इदमेव सूच्यते तस्य सर्वज्ञतया तथाहि शुचा चिन्तया द्रवति रैक्वमभिगच्छति इति शूद्रः। अनन्तरं सः कन्यां धनेन सह गृहीत्वा गतः पुनः धनं परावर्त्य कन्यां गृहीतवान्। सा कन्या नाम श्रद्धा तामेव गृहीत्वा धनं तिरस्कृतवानसौ अतः शुचा तत्समीपमाद्रवणात् शूद्रो जानश्रुतिः न तु वर्णतः अतएव भागवते-

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ।।

(भा० १-४-२४)

शुचा रैक्वमभिद्रावात् स्वावमानश्रुतिर्द्रुतम्।
रैक्वस्तमाह शूद्रेति नृपं जानश्रुतिं किल ।।श्रीः।।

किञ्च- एतस्य औपचारिक शूद्रत्वे किं मानम्? इत्यत आत् अग्रिमं सूत्रं-

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।।१/३/३५।।

तस्य जानश्रुतेः अस्या आख्यायिकायाः उपक्रमेण क्षत्रियत्वमवगम्यते। तद्यथा- "जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी आस।। छा० उ० ४-१-१, बहुदायित्वं च क्षत्रियस्यैव स्वभावसिद्धं कर्म-

"दानमीश्वरभावं च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।गीता १८-४३ एवं उपक्रमे जानश्रुते क्षत्रियत्वं प्रतिपाद्य उपसंहारे चैत्ररथेन सह संवर्गविद्याध्ययनादपि लिङ्गात् एतस्य क्षत्रियत्वम्। "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमामौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे (छा० उ० ४-५-५)

इह कापेय सन्निधानेन अभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वं। किं च अभिप्रतारिणा चैत्ररथेन सह जानश्रुतेः समभिहारादपि तस्य क्षत्रियत्वम्। शतपथ ब्राह्मणै चैत्ररथस्य क्षत्रपतित्वं स्पष्टं सूचितम्।

"तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत" (शतपथ० ब्रा० ११-५-३-१३) एवं जानश्रुतिर्न जन्मना शूद्रः किन्तु औपचारिकं तच्छूद्रत्वम् यथा श्री भागवते-

तस्माद् ब्राह्मण देवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणा ननु ।।

(भा० ७-१४-१८)

बहुदायित्वलिङ्गाच्च सख्याच्चैत्ररथे नृपे।
क्षात्रं जानश्रुतेः स्पष्टं शूद्रत्वं नैव जन्मना ।।श्रीः।।

अन्यावपि द्वौ हेतू दीयेते-

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।।१-३-३६।।

संस्कारस्य परामर्शात् वेदेष्वधिकारः प्राप्यते। शूद्रे च तस्योपनयनसंस्कारस्य आभावस्य अभिलापात् अभिलपनात् तत्र नाधिकारः। छादोग्ये एका आख्यापिका आख्यायते- जाबालायाः पुत्रः सत्यकामः स्वमातरं प्रति ब्रह्मचर्यं वस्तुं मन्त्रयाञ्चक्रे। गोत्रञ्च जिज्ञासितवान्। सा स्पष्टं कथितवती। यत्तव पितरं बहुपरिविचरन्ती अहं गोत्रं नापृच्छम्। त्वं सत्यकामः अहं जाबाला। अनन्तरं गौतमं हारिद्रुमत मुपेत्य तेन स्वीकीयाज्ञातगोत्रता वर्णिता। तदा हारिद्रुमतोऽब्रवीत् यदेतावत् सत्यं ब्राह्मणादृते न कोऽपि वक्तुं शक्नोति। अतस्त्वामुपनीय वेदं पाठायिष्यामि। तद्यथा- तं होवाच नैतदब्राह्मणं विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गाः निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुव्रजन्ति छा० (४/४/५) एवं ब्रह्मविद्यायां संस्कारपरामर्शहेतोः अनधिकारता। शूद्रे

अस्य संस्कारस्य अभावंअभिलपति स्मृतिः वम न शूद्रे पातकं किञ्चिद् नायं संस्कारमर्हति। यथा भागवते-

स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।।

(भा० १-४-२५)

संस्काराणां परामर्शं ब्रह्मविद्या ह्यपेक्षते।
तदभावाच्चतुर्थे च श्रुतौ नाधिकृतौ हि सः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुं कथयन्ति-

तदभावनिर्धारणं च प्रवृत्तेः ।१/३/३७।।

तत्र छान्दोग्ये सत्यकामे तस्य शूद्रत्वस्य अभावस्य निर्धारणे हारिद्रुमतस्य प्रवृत्तेः हेतोः वेदाध्ययने चतुर्थस्य न वाधिकारः। तथाहि- **नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये** (छा० ४/४/५) अथवा अत्र सति सप्तमी। तस्य अभावः तदभावः। तस्य निर्धारणं तदभावनिर्धारणम्। तस्मिन् तदभावनिर्धारणे तस्य शूद्रत्वाभावस्य निर्धारणे सत्येव गौतमस्य सत्यकामोपनयने

प्रवृत्तेः अपि हेतोः चतुर्थो नाधिकारी वेदाध्ययने अत एव श्री भागवते-

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्या तुष्यते हरिः ।।

(भा० ३-६-३३)

शूद्रत्वाभावमालोच्य हारिद्रुमत आदरात्।
प्रवृत्तस्तमुपानेतुं तूर्यो नाधिकृतस्ततः ।।श्रीः।।

प्रकरणमुपसंहरन्नाह-

श्रवणाध्यपनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।।१/३/३८।।

श्रवणञ्च अध्यायनञ्च अर्थश्च श्रवणाध्ययनार्थाः। तेषां प्रतिषेधः! श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधः तस्मात् । अर्थशब्दः अर्थज्ञानपरः तेषां कृते वेदश्रवणस्य अध्ययनस्य अर्थस्य च प्रतिषेधः न तस्मादपि हेतोः स्मृतेश्च हेतोः चतुर्थस्य वाधिकारः ब्रह्मविद्यायाम्। वस्तुतस्तु वेदोपबृंहणपरकपराणेतिहासेभ्यः वेदार्थं तेऽनुगन्तुं शक्नुवन्ति। अत एव भागवते दृश्यते-यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत इत्यनेन अपकर्षो नावगन्तव्यः। संस्कारो नाम शुद्धतामानं चतुर्थो निरन्तरमेव शुद्धः तस्य संस्कारावश्यकतैव नहि। किञ्च आश्रमेष्वपि रोपः वर्णा ब्रह्मचारी ब्राह्मणः, गृहस्थः क्षत्रियः। वानप्रस्थो वैश्यः, यतिस्तूर्यः यथा शूद्राऽनुपवीती त्यक्तवेदक्रियः तथा सन्यासस्यापि। यदि अकृतसंन्ध्यः सन्यासी मोक्षाधिकारी, तर्हि कथं न शूद्र इति? एवं शुभपरमात्मा निश्चयेन द्रवति यस्मिन् स शूद्रः। अत एव भागवते शुक्राचार्यः-

किरातहूणेन्द्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।

(भा० २-४-१८)

श्रवणाध्यायभ्यां च श्रुत्यर्थाप्रतिषेधतः।
वेदोक्तब्रह्मविद्यायां तुरीयो नाधिकारवान् ।।श्रीः।।
अपशूद्राधिकरणं यथा शास्त्रं समन्वये।
अध्याये प्रथमे प्रोक्तं रामभद्रेण धीमता।।

"श्री राघवः शंतनोतु।"

अथ प्राणाधिकरणम्

कम्पनात् ।१/३/३९।।

अथ प्रकृतमनुसरति सूत्रकारः। औपनिषदवाक्यार्थविचारनिर्णयपरकमिदं ब्रह्ममीमासाख्यं भिक्षुसूत्रम्। इत्यसकृदवोचाम। कठोपनिषदि द्वितीयवल्यां श्रूयते-

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।२/३/२।।

अत्र प्राणशब्दमधिश्रित्य विचारणात् किमयं प्राणः मुख्यो वायुः उताहो परमात्मा? इत्यत आह- कम्पनात्। अत्र श्रुतौ प्राण एजति इत्येनेन कम्पनं प्रयुक्तमस्ति। तच्च भयमूलकं भवति। भयञ्च सर्वशक्तिमतः परमात्मन एव जायते। तस्माद् एजति इत्यर्थकाद् हेतोः अजः प्राणः परमात्मैव न वा मुख्यो वायुः न वा जीवात्मा स उ प्राणस्य प्राणः इति श्रुतेः।

यथोक्तं भागवते श्रीकपिलेन-

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ।।

(भा० ३-२५-४२)

सर्वशक्तिमतस्तस्मात् सर्वे बिभ्यति चेश्वरात्।
कम्पनात् अत्र वै प्राणो रामो ब्रह्म सनातनम् ।।श्रीः।।
इत्थं प्राणाधिकरणं तृतीये प्रथमस्थिते।
श्री राघवकृपाभाष्ये रामभद्रेण भाषितम्।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ ज्योतिरधिकरणम्

ज्योतिर्दर्शनात् ।१/३/४०।।

छन्दोग्योपनिषदि प्रजापतिविद्यायां परं ज्योतिरूपसंपद्य इत्यत्र ज्योतिः श्रवणं वर्तते। अत्र किन्नाम ज्योतिः सूर्यादिज्योतिः दीपज्योतिः ब्रह्म ज्योतिर्वा? अत आह ज्योतिरत्र ब्रह्मैव। को हेतु? इत्यत आह "दर्शनात्"। अत्र उपक्रमवाक्ये एष आत्मापहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको" इत्यादौ ब्रह्मणः उपक्रमः

अत्रापि वाक्ये उत्तमपुरुषस्य चर्चा। उत्तमपुरुषश्च परमात्मैव। उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। (गीता १५/१७) तच्छ्रुतिरित्थम्- एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योती रूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः" (छा० ८/१२/३) एवं पूर्वापरसमानोचनया अत्रत्य ज्योतिशब्दः ब्रह्म परक एव यथोक्तं भागवते दशमे-

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितृर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ।।

(भा० १०-७-३६)

उपक्रमोपसंहारे ब्रह्मावर्णनदर्शनात्।
ज्योतिर्ब्रह्म स सीतेशो नैव दीपो न भाष्करः ।।श्रीः।।
ज्योतिराख्याधिकरणं प्रथमस्थे तृतीयके।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं ज्योतिषोमुदे।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

।।अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ।।

आकाशेऽर्थान्तरत्वादि व्यपदेशात् ।।१/३/४१।।

छान्दोग्ये आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता।। इत्यत्र संदेहो भवति कस्तावदयमाकाशः। भूताकाशः उताहो मुक्तात्मा उताहो परमात्मा? अत्रोक्तम् अर्थान्तरत्वादि व्यपदेशात्। अस्मिन् नामरूपाभ्यां पृथग् निर्देशो वर्तते। एवंआदिपदेन अमृतत्वादि निर्देशोऽपि वर्तते। अथार्थान्तरत्वं कथं? ते अन्तरा यद् ब्रह्म "इत्यत्र तत् पदेन नामरूपयोर्ग्रहणं, अन्तरापेदन च ताभ्यां अन्यस्यैव ग्रहणम्। अतएव "अन्तरान्तरेणयुक्ते द्वितीया" (पा० अ० २-३-४) इति सूत्रेणात्रद्वितीया। अतएव श्रुतिः- ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा (छा० ८/१०/१ यथोक्तं श्री भागवते वेदस्तुतौ-

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ।।

(भा० १०-८७-२९)

अर्थान्तरत्वनिर्देशात् अमृतत्वादिकीर्तनात्।
आकाशो ब्रह्म रामो हि भूताकाशो न ह्यन्नभः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह-

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।।१/३/४२।।

सुषुप्तिश्च उत्क्रान्तिश्च सुषुप्त्युक्रान्ती तयोः सुषुप्त्युत्क्रान्तयोः ,सुषप्तौ उत्क्रान्तौ च जीवात्मपरमात्मनोः भेदेन व्यपदेशात् जीवात्मनः परमात्मा भिन्नः स एव अत्राकाशः। उपमानमपि तथैव। प्रियया परिष्वक्तो यथा किञ्चिन्न वेत्ति तथैव परमात्मना परिष्वक्तो जीवात्मा न किञ्चिद् जानाति। उत्क्रान्तावपि जीवात्मानं परमात्मा त्यजति। एवं द्वयोर्भेदेन इह आकाशः परमात्मा। तथा द्वयोः श्रुतिः- "कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु।" (वृ० ४/३/७) इत्युपक्रम्य , "तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चिन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्पकिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। (बृ० ४/३/२१) एवमाभ्यां श्रुतीभ्यां जीवात्मनो विलक्षणत्वात् परमात्मैव नामरूपनिर्वहणकर्ता आकाशः ।यथा भागवते वेदस्तुतौ-

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवत्
समननुजानतां यदमतं मतदृष्टतया ।।

(भा० १०-८७-३०)

सुषुप्तौ च तथोत्क्रान्तौ जीवात्म परमात्मनोः।
भेददर्शनतश्चायमाकाशो ब्रह्म नेतरौ ।।श्रीः।।

अन्तिमं हेतुमुपस्थाप्य अधिकरणं पादञ्चविश्रमयति

पत्यादिशब्देभ्यः ।।१/३/४३।।

पत्यादिभ्यः शब्देभ्यश्च हेतुभ्यः जीवात्मतः पृथग्भूतः परमात्मैव। आकाशशब्दवाच्यः। यथा तत्र बृहदारण्के- "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपपतिरेष भूतपालः" (बृ० ४/४/२२) इह ईशानत्ववशित्वाधिपतित्व-पालत्वादिशब्दाः न व जीवात्मनि न बा भूताकाशे संगमयितुं शक्याः। तस्मात् जीवात्मतः पृथग्भूतः अर्थान्तरभूतश्च परमात्मैव आकाश शब्द वाच्यः। यथा भागवते-

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ।।
(भा० २-४-२०)

पतीशानेश्वरादीनां शब्दानामर्थसम्भवात्।
आकाशोऽत्र पर ब्रह्म भूताकाशो न ह्यनभः ।।श्रीः।।
अर्थान्तरत्वाद्याख्यं वै मयाधिकरणं मुदा।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये हरेः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

तृतीयश्च मया पादः प्रथमाध्यायगोचरः।
श्रीराघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।

इति जगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामिरामभद्राचार्यकृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रे समन्वयाध्याये तृतीयः पादः सम्पूर्णः।।

''अथ समन्वयाध्याये चतुर्थपादः''

अद्वितीयं परब्रह्म सीतारामाभिधं पदम्।
चिदचिद्विशिष्टमद्वैतं चतुर्थे तदुपास्महे।।

अथानुमानिकाधिकरणम्

अथ **'जन्माद्यस्य यतः'** (।।१/१/२।।) इत्युपक्रम्य यावत्तृतीयं पादं स्वोपपत्तिकैः श्रौतवचनैः सप्रमाणकैर्जगज्जन्मादिकारणत्वलक्षणकब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं प्रतिपादितम्। इदानीं तुरीये पादे आभासितब्रह्मेतरकारणत्वसूचकत्वबीजानि क्वाचित्कानि स्मार्तवचनानि कानिचिदनवगतयाथार्थानि वैदिकवचनानि च व्याख्यातुं प्रयतमानो भगवान् सकलश्रीवैष्णावाग्रणीसत्यवतीनन्दनो वेदव्यासो द्वैपायनः श्रीबादरायणाचार्यः आनुमानिकमधिकरणं प्रारभमाणः प्रथमं सूत्रमसूत्रयत।

''आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न
शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति ।।१/४/१।।

आनुमानिकम् अपि एकेषाम् इति चेत् न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः दर्शयति च इति पदच्छेदः। एकेषां मतेन आनुमानिकमनुमाने भवमानुमानिकं - सांख्यस्मृतिसिद्धम् मूलप्रकृतिअपरपर्यायं प्रधानं ब्रह्मत्वेन जिज्ञास्यमिति चेत्-

न , नैव जिज्ञास्यं, कथं ? शरीररूपकविन्यस्तगृहूतेः शरीरमाश्रितं रूपकं शरीररूपकं तस्मिन् विन्यस्तः शरीररूपकविन्यस्तः तस्य गृहीतिः इति शरीररूपकविन्यस्तगृहीतिः तस्याः। चकारस्तथार्थः तथैव श्रुतिः दर्शयति दर्शनमिह ज्ञानात्मकं ज्ञानञ्च श्रवणरूपम् अतएव दर्शयति इत्यत्र श्रावयति इत्यर्थः। कठोपनिषदि तृतीयवल्यां परत्वतारतम्यमीमांसासप्तके अव्यक्तस्य षष्ठं स्थानम्। त्सप्तकं यथा- "**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।। महतः परम व्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः** " ।।कठ० १/३/१०-११) अत्र षष्ठे समागतमव्यक्तं किमर्थम् प्रकृततात्पर्यं परमात्मपर्याय वा इति जिज्ञासायामे एकेषां कस्याश्चित्शाखायाः अध्यायिनां मतेन आनुमानिकम् अनुमानप्रमाणप्रधानमपि जगत्कारणं भवितुमर्हति। सांख्ये हि तदव्यक्तसंज्ञकं, महतः महत्तत्वात् परमुच्यते। श्रुतावपि तथैव महतः परमव्यक्तमिति। यद्वा एकेषामिति न शाखाध्यायितात्पर्यग्राहकं प्रत्युत - **एके अन्ये प्रधाने च"** इतिकोशवचनात् वेदान्तादन्येषां सांख्यर्दशनावलम्बिनां मतेन स्वीकृतं प्रधानम् जगत् कारणम्। ननु अस्मिन् पक्षे श्रौतं किं मानम्? इति चेद,। अत्रैव - कठोपनिषदि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यद्। (कठोप० १/३/१५) इत्येव। यतोहि सांख्यस्वीकृतमव्यक्तमपि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरहितं तस्मात् तदेव जगत्कारणं मन्तव्यम्। इति चेत्? यदीत्थम् उच्येत, नेत्थम्। कथं हेतुमाह-शरीराश्रये रूपके यदर्थकः अव्यक्तशब्दः विन्यस्तस्तस्यैव अव्यक्तशब्दस्य तत्रत्येनार्थेन सहैव इह गृहीतेः ग्रहणात्। नान्यार्थकस्य कल्पनावकाशः शरीररूपकं यथा परमार्थस्य पथि गन्तुकामस्य अस्य जीवात्मनः कृते रथिनोपमानिता। रथी सारथिहयप्रग्रहयुक्तं रथमारूह्य दुर्गमं पन्थानं पारमेति। परमार्थस्य पन्था दुर्गमः। **दुर्गमपथस्तत्कयो वदन्ति** (कठ १/३/१४ अत्र आत्मा रथी शरीरं रथः बुद्धिः सारथिः इन्द्रियाणि आश्वाः विषयाः शष्पाणि मनः प्रग्रहं, तद्यथा- आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। (कठ १/३/३-४।।) इत्युपक्रम्य विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।। (कठ १/३/९) इति नवमे रूपकमुपसंहरति अनन्तरमेव इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाःइति परत्वतारतम्यविवेचनं प्रारब्धम्।

तस्मादत्र, यथा- आत्मा रथी रथञ्च शरीरं, तृतीये तथैव आत्मना परतया अव्यक्तमव्याकृतनामरूपं सूक्ष्मशरीरं येन रथेन जीवः वैष्णवपदं प्राप्नोति तस्मादिदमव्यक्तं न प्रकृत्यर्थकम्। यतोहि "**श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्**

" इति नियमात् प्राकर्णिक एवार्थो ग्रहिस्यते। किञ्च- अपरमपि हेतुमाह - दर्शयति च। श्रुतिरपि तत्र महत् पदेन न बुद्धितत्वमभिधत्ते अपितु बुद्धेरात्मा परोमहान् बुद्धेः परः आत्मा। यथा सारथेः परः रथी पुनश्च रथिनोऽप्याधारतया रथः परः श्रेष्ठो भवति तथैवात्मनः परमव्यक्तं शरीरं, रथं विना रथी न भवति तथैवाव्यक्तशरीरं विना आत्मा स्थातुं न प्रभवति। 'सांख्ये बुद्धेः महतः परः आत्मा' अत्र बुद्देरात्मा परो महान् न तु महतः परः आत्मा। किञ्च- सांख्य सिद्धस्य अव्यक्तस्य निचाय्यत्वं नास्ति, न वा ध्रुवत्वं तस्मात् प्रकरणानुरोधात् श्रुतेश्चापि नानुमानिकं जगत्कारणम्। यत्तु आनुमानिकं ब्रह्म न श्रौतमेव शरीरे रूपके विन्यस्तस्य गृहीते इति व्याख्यानं तु प्रौढिवादमात्रम्। न तु प्रकरणमर्यादां सहते। यथा भागवते-

दैवात्क्षुमितधार्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्वं हिरण्मयम् ।।

(भागवत ३/२६/१९)

प्रकृतेश्चेज्जगद्धेतुर्न शरीरस्य रूपके।
विन्यस्तस्य गृहीतेर्हि तथैव श्रुतिदर्शनात्।।

ननु इदमनुपपन्न, शरीरं चेष्टाश्रयत्वात् भोगाश्रयत्वाच्च स्थूलं भवति इत्यत आह-

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।१/४/२।।

सूक्ष्ममित्यादि। शरीरं द्विधा भवति। स्थूलचिदचिदात्मकं सूक्ष्मचिदचिदात्मकश्च। स्थूल चिदचिदात्मकमेव शरीरं प्रत्यक्षं भवति। यदात्मा जीर्णं वस्त्रमिवेहैव त्यजति। सूक्ष्मं चिदचिच्छरीरं आत्मरथि रथं यदारूह्य सूक्ष्मेन्द्रियहयैः नीयमानोऽयं दुर्गमपन्थानं तीर्त्वा वैष्णवपदमवप्नोति। यथा-

श्रोत्रं चक्षुःस्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेवच।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।

गीता १५/८।।

कथं हेतुमाह-तदर्हत्वात्। यतोहि इदमेव तदर्हम्। तमात्मानं अर्हतीति तदर्हम्। तस्य भावस्तदर्हत्वम् तस्मात् तदर्हत्वात्। सूक्ष्मतर आत्मा सूक्ष्मतमं परमात्मानमाप्तुं सूक्ष्ममेव रथमर्हति। स्थूलं जीर्णं रथं कोऽपि चतुररथी दुर्गमाय पथे न स्वीकरोति। अत एव सूक्ष्ममव्यक्तमेव परमात्मनो रथीभूतं। यथोक्तं भागवते वसुदेवेन कंसं प्रति-

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः।

(भागवत १०/१/३९)

सूक्ष्मं शरीरमव्यक्तमात्मनो रथिनो रथः।
तदर्हत्वात्कथं जीर्णं स्थूलदेहरथं श्रयेत् ।।श्रीः।।

तदधीनत्वादर्थवत् ।।१/४/३।।

नन्वनेन व्याख्यानेन भवन्तो यदव्यक्तं व्याकुर्वन्ति तदेव तु सांख्येन प्रधानत्वेन स्वीक्रियते। तर्हि किंवैलक्षण्यं द्वयोः इत्यत आह- तदधीनत्वादिति। अस्ति वैलक्षण्यम्। भवतां मते प्रकृतिः स्वातन्त्र्येण कारणं जगतः किन्त्वत्रत्यमव्यक्तं परमात्माधीनमव्य- क्तात्पुरुषः परः इति श्रुतेः। एवं तस्मिन् परमात्मनि अधीनं तदधीनम्। तस्य भावः तदधीनत्वम्। तस्मात् तदधीनत्वात् इदमव्यक्तं परमात्माधीनम् "यस्यव्यक्तं शरीरम" इत्यादि श्रुतेः। अतो नेदं जगत् कारणम्। यथा भागवते ब्रह्मवचनम्-

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परियाति त्रिशक्तिधृक् ।।

भाग०२/६/३१

अव्यक्तस्य शरीरत्वात्प्रभोस्तस्मिन्नधीनता।
तस्य तेनार्थवत्त्वं हि न स्वतन्त्रः कदाचन ।।श्रीः।।

किञ्च - अव्यक्तस्य जगत्कारणत्वस्वीकारे तवैव मतविरोधः। त्वन्मते अव्यक्तं ज्ञेयम्। यथा- "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयाति शययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयात् व्यक्ता व्यक्तज्ञ विज्ञानात् "।।सांख्य कौ० ।।२।। यथात्रैवाह वाचस्यति मिश्रः सांख्यतत्वकौमुद्याम्-

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ता-व्यक्त ज्ञाः तेषां विज्ञानं विवेकेन ज्ञानं व्यक्ताव्यक्तविज्ञानम्। व्यक्तज्ञानपूर्वमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम्। तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते इति ज्ञानक्रमेणाभिधानम्। एतदुक्तं भवति - श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्याक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालान् नैरन्तर्यसत्कारसेवितात् भावनाभयात् विज्ञानात् इति। (सांख्यतत्व कौ० २।। एवमग्रेऽपि"- एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाह मित्यपरिशेषम्। अविपर्ययविशुद्धं केवल मुत्पद्यते ज्ञानम् ।।सांख्यकाः यथा भागवते ब्रह्मवचनम्-

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरतित दद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परियाति त्रिशक्तिधृक (भा०) ।।२/६/३१ अव्यक्तस्य शरीरत्वात्प्रभोस्तस्मिन्नधीनता। तस्य तेनार्थवत्त्वं हि न स्वतन्त्रं कदाचन ।।श्रीः।। किन्तु नेदं ज्ञेयमत आह-

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।।१/४/४।।

चकारः पूर्तविषयानुकर्षकः। आप्यर्थको वा। ज्ञेयत्वावचनादपि आनुमानिकं नाव्यक्तम्। अस्य अव्यक्तस्य क्वापि ज्ञेयत्वस्य अवचनाद् हेतोः नेदमामुमानिकम्। **महतः परमव्यक्तं** (कठ १/३/११) यस्यव्यक्तं शरीरं इत्यादिवचनेषु अव्यक्तस्य कदाचिदपि क्वापि ज्ञेयत्वं नोक्तम्। ज्ञेयत्वं परमात्मनः **स आत्मा सोऽन्वेष्टव्यः"** इत्यादि श्रुतेः। **ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न तत्सन्नासदुच्यते।।** (गीता १३/१२) इति स्मतेश्च। न वचनमवचनं वचनाभावः अव्यक्तस्य ज्ञेयत्ववचनाभावात् नेदं त्वदभिमतं प्रधानम् अव्यक्तम्। यथोक्तं भागवते ब्रह्मणा-

इति तेऽभिहितं यथेदमनुपृच्छसि।
नान्यद्भगवतः किंचिद् भाव्यं सदसदात्मकम।।

(भाग० २/६/३२)

श्रुति स्मृति पुराणेषु ज्ञेयता न प्रमाणिता।
क्वाप्यव्यक्तस्य तस्मात्न जगत्कारणं भवेत् ।।श्रीः।।

पुनः पूर्वपक्षमुत्तथाप्य समुत्तरयति-

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।।१/४/५।।

वदति इति चेत् न प्राज्ञः हि प्रकरणात् इति पदच्छेदः। ननु श्रुतिस्तु अव्यक्तस्य ज्ञेयत्वं वदत्येव। तथाहि - कठोपनिषदि सम्वादमुपसंहरन्नाह यमराजः- **"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निकाचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।।"** (कठ० १/३/१५) अत्र हि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धशून्यस्य अनाद्यन्तस्य महत्तत्वात् परस्य ध्रुवस्य अव्यक्तस्य निचाय्यत्वमुक्तम्। इदमेव तु ज्ञेयत्वम्। इति चेत् न हि– यतो हि तत्र प्रकरणात् प्राज्ञः। प्रकरणात् हेतोः प्राज्ञ एव ज्ञेयः विज्ञायते न त्वव्यक्तम्। तथाहि तत्रैव - **सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्** इत्युपक्रम्य ब्रह्मविषयक चर्चां, पुनश्च, **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म दार्शिभिः।** इत्यभ्यस्य अन्ते तदेवमुपसंहरति। किञ्च - प्रकृतिर्न निचाय्यनार्हा अविवेकित्वात्। तस्मात् क्वापि

अव्यक्तस्य ज्ञेयत्ववचनाभावात् न प्रधानता।

यथा भागवते-

सा वा एतस्य संदृष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ।।

(भागवत ३/५/२५)

तत्प्रकरणाच्छ्रुतिः प्राज्ञं निचाय्यं ज्ञेयमभ्यधात्।
न कदापि त्वदव्यक्तं ज्ञेयत्वेन वदत्यसौ ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह-

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।।१/४/६।।

किञ्चास्यामुपनिषदि एवमेव मदुक्तप्रकारेणैव त्रयाणां नचिकेतसा समुपस्थापितानां त्रयाणां पितृप्रसन्नतात्रिणाचिकेतागिनब्रह्मविषयकजिज्ञासानामुपन्यास, एवमेव प्रश्नश्च। अत्र नचिकेतसा प्रकृति-विषयकं किमपि पृष्टमेव नहि– तथाति– पुत्रनिर्बन्धजातेरोषेण पित्रा मृत्यवे समाज्ञप्तः यमभवने अनशनन् त्रिरात्रमुषितः यमपत्नीप्रेरितेन यमेन वरत्रयवरणाय प्रार्थितः नचिकेताः पितृपरितोषस्वर्ग्याग्नि-जीवात्म परमात्ममीमांसाः" इति त्रीनेव वरान् वव्रे यथा- शान्तसंकल्पः सुमना यथास्याद्वीतमन्युर्गौतमोमाभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।। (कठ० १/१/१०।।) स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ।।कठ १/१/१३) येयं प्रेते विचिकित्सा एतद् द्वितीयेन वृणे वरेन (कठ १/१/१३) येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय (कठ० १/१/२०) अत्र त्रिष्वपि प्रश्नेषु कतमेऽपि अव्यक्तकारणवादस्य चर्चा नास्ति। अतो न प्रधानं कारणं न वा अत्रत्याव्यक्तशब्दस्य प्रधाने तात्पर्यम्।

यथोक्तं भागवते-

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्याग्रन्थिं विर्मत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्।।

(भाग० ४/११/३०)

प्रश्नत्रयं तन्नचिकेतसैवं पृष्टंयमं क्वापि न हेतुवादः।
पृष्टः प्रधानस्य ततो न तस्मिन् जन्मादिहेतुत्वमथो भवस्य ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमुदीर्य विरमयत्यधिकरणमेतत्-

महद्वच्च ।।१/४/७।।

महंता तुल्यं महद्वत्। " तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (पा०५/१/११५) यद्वा- महत इव इति महद्वत। यद्वा महतीव इति महद्वत्। तत्र तस्येव ५/१/११६ इत्यनेन षष्ठयर्थे सप्तम्यर्थे च वतिः। यथा सांख्ये बुद्धिपर्यायोऽपि महत्शब्दः। इह श्रुतौ - "बुद्धे रात्मा परो महान्" इति कथितवत्यां बुद्धेः परत्वमात्मनि योजितः तथैव तत्र प्रधानार्थे प्रसिद्धमपि अव्यक्तपदमिह महतः परमव्यक्तमिति निगदन्त्याः श्रुत्या आत्मनः परत्र सूक्ष्मचिदचिदात्मके शरीरे समन्वितम्। यथोक्तं भागवते भगवता-

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम् ।।

(भाग ११/१६/३७)

यथा श्रुतौ महच्छब्दो न बुद्धावात्मनीह सः।
तथैवा व्यक्तशब्दोऽपि सूक्ष्मचिदचित्तनौ श्रुतः ।।श्रीः।।
प्रथमंञ्चाधिकरणं चतुर्थे प्रथमे स्थिते।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ चमसाधिकरण्

चमसवदविशेषात् ।।१/४/८।।

ननु श्वेताश्वतरे आम्नायते- अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्यः (श्वे० ४/५) अस्यां श्रुतौ प्रयुक्तः अजा शब्दः स्वातंत्र्येण प्रधानमभिधत्ते यतोहि लोहितशुक्लकृष्णामित्यनेन सुष्पष्टं रजस्सत्वतमःस्वभावायाः प्रकृतेः निर्देशः इति शंकायामाह चमसवदविशेषात्। अविशेषात् वाक्यसामान्यात् चमसशब्द इव अजाशब्दोऽपि प्रकरणात् ब्रह्मशक्तिमेव कथयिष्यति। यथा बृहदे० **अर्वाम्बिलश्चमस उर्ध्व बुध्नस्तस्मिन्यशोनिहितं विश्वरूपम्** । तस्याऽसत **ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति।** अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बि लश्चमस उर्ध्वबुन्धस्तास्मिन्यशो निहितं विश्वरूप

मिति प्राण वै यशो विश्वरूपं प्राणनेतदाहतस्याऽऽसत ऋषयः सप्ततीर इति सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्रणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्ममणा संविन्ते।। (बृ० २/२/३) अज संदेहोभवति यत् चमसशब्दः कस्मिन्नर्थे तात्पर्यग्राहकः। इति जिज्ञासायं उत्तरत्र प्रयुक्तशिरश्शब्दा-नुरोधेन चमस शब्दस्यापिः शिर एव अर्थः क्रियते। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुन्ध्य इतीदं तच्छिर एव कठ (२/२/३।।) तथैवात्रापि अन्यत्र प्रयुक्तानां मन्त्राणामेकवाक्यतया अजाशब्दः परमात्मशक्तिपरः। तथैव श्वेतश्वतरोपनिषदि– **देवात्मशक्तिं स्वगुणै निंगूढां। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः''** (श्वे० १/३) इत्युपक्रमं कृत्वा पुनश्चात्र चतुर्थे नवमे इममेवार्थं समर्थयते– **अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतन्तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः** (श्वेत० ४/९) इत्युपसंहारवाक्यात् अत्र प्रकरणे प्रयुक्तः अजा शब्दः भगवत्परतंत्रां वैष्णवीं मायां विधत्ते।

यथोक्तं भागवते-

स एव यं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्या गुणो विभुः ।।

(भागवत १/२/३०)

वाक्यसामान्यतश्चैव पूर्वापरगिरां श्रुतेः।
अजाशब्दश्चमसवद् भगवच्छक्तिवाचकः ।।श्रीः।।

अथ अस्मिन् पक्षे हेत्वन्तर माह–

ज्योतिरुपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके ।।१/४/९।।

तु शब्दः विस्पष्टीकरणार्थः। इयं वैष्णवी माया न स्वतन्त्रा। किन्तु परतन्त्रैव। अस्यां कस्य पारतंन्त्र्यमित्यत आह– ज्योरूपक्रमेत्यादि। ज्योतिः ब्रह्मज्योतिः, परं **''ज्योतीरूपसंपद्य''** इति श्रुतेः। **'ज्योतिर्दर्शनात्'** १/३/४०।। इति सूत्रात्। **ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः** गीता १३/१७।। इति स्मृतेश्च। तदेव ब्रह्मज्योतिः उपक्रमं कारणं यस्याः सा ज्योतिरुपक्रमा।ब्रह्म ज्योतिः उपक्रमं कारणं यस्याः सा ज्योतिरूपक्रमा। ब्रह्मज्योतिः कारणिका अजा भगवन्माया इति। यतो हि तथा ब्रह्मकारणत्वेनैव एके छान्दोगा अधीयते पठन्ति। यथा छान्दोग्ये– **यदग्रे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येन सत्यम्** ।।छा० ६/४/१) एम् अजेयं भगवन्माया, तात्पर्यमेतत्– यदिमानि

त्रीणि रूपाणि यान्यत्र अजायां लोहितशुक्लकृष्णानि। "अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां" (श्वे० उ० ४-५) तानि नैकस्यास्तस्या लोहितं रूपं अग्नेः , शुक्लं रूपं जलानां, कृष्णमन्नस्य, इमानि त्रीणि अग्निजलान्नानि भगवता सृष्टानि। अतः लोहितकृष्णशुक्लरूपाया अजाया उपक्रमः मूलकारणं ब्रह्मज्योतिरेव। रक्त शुक्ल-कृष्ण वतामग्निजलान्नानां न पृथकसत्तेतिभावः। यथोक्त श्रीरामचरितमानसे भगवता गोस्वामितुलसीदासेन–

लव निमेष महँ भुवन निकाया।
रचइ जासु अनुसाशन माया ।।

(मानस।।२/२२५/४।।)

रूपान्तरम्–

लवेनैव निमेषस्य भुवनानि ह्यनेकशः।
यस्याज्ञां शिरसा धृत्वा मायेयं रचयत्यसौ।।

यथोक्तं भागवते-

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव।
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ।।

भागवत २/२/३१

अजेयं भगवन्माया ब्रह्मज्योतिरूपक्रमा।
त्रीणीत्यादि हि छान्दोग्ये तथैवैके ह्यधीयते ।।श्रीः।।

ननु मांयाया भगवत्कार्यत्वे अजात्वमेव न स्यात्? इति चेन् मैवम्–

कल्पनोपदेशाच्चमध्वादिवदविरोधः ।।१/४/१०।।

कल्पनं सृष्टिः। तस्य उपदेशः कल्पनोपदेशः तस्मात् कल्पनोपदेशात् श्रुतौ भगवतः सृष्टिकर्तृत्वमुपदिष्टम्। यथा– सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।' (श्वे० उ० ४/९) अतएव यथा मध्वादिविद्यायां सूर्यादयः उपासकाश्च तथैवेयं माया स्वयं भगवत्कार्यभूता सत्यपि विश्वस्य कारणमपि। यथा भागवते देवहूतिः-

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्याश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो ।।

(भागवत ३/२७/१७।)

यथा मध्वादि विद्यासु सुरेषूपास्यभक्तता।
तथैवास्यां सृष्ट्युक्ते कार्यकारणता द्वयी ।।श्रीः।।
द्वितीयञ्चाधिकरणं तुरीये प्रथमस्यच।
व्याख्यातं हरितोषाय रामभद्रेण धीमता ।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

।।अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम्।।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।।१/४/११।।

ननु बृहदारण्यके चतुर्थे ब्राह्मणे- यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाश प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्। (बृहद० ४) ४/१७।।) इत्यत्र पञ्च पञ्चजना इति श्रूयते इह जनशब्दः समूहवाची एवं पञ्चभिर्गुणिताः पञ्च जनाः इति पञ्चविशतिर्जाताः। सांख्येऽपि पञ्चविंशतिरेव तत्वानि तथाहि - तत्र भवान् ईश्वरकृष्णः सांख्यकारिकायां "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिर्पुरुषः (सांख्यं का० १/३।।) ततो महत् ततोऽहंकारः। ततः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः एकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रभ्यश्च पञ्चमहाभूतानि पुरुषश्चेति पञ्चविंशतिः इति सांख्यमतं निराकुरुते न संख्योपसंग्रहादित्यादि। अपि शब्दः पूर्वोक्तसिद्धान्तसंग्रहार्थः। यद्यपि पूर्वत्राधिकरणद्वये अनेकाभिः युक्तिभिः सांख्यमतं निराकृतम्। तथापि यदि ते संख्यायामाग्रहः तर्हि सोऽपि मनोरथो मरूमरीचिकैव। अतः संख्योपसंग्रहात्हेतोरपि न सांख्यमतमत्र श्रुतौ। अत्र हेतुद्वयम्। चकार उभयोः समुच्चयार्थः नानाभावात्। नानाभवनं पृथग्भवनं इमे यस्मिन्निति ब्रह्माधारे आधेयरूपेण स्थिताः। अतोऽपि न सांख्यम्। किञ्च- पञ्चजना इति कथयित्वा आकाशः पृथगुक्तः। दौर्भाग्यतः आकाशं विहाय तु पञ्चविंशति संख्या पूरयितुं शक्यते नहि। अपरञ्च, कथञ्चिदाकाशस्य योजनायां कृतायामपि यस्मिन्निति परब्रह्मणो निर्देशात् षड्विंशतिर्भवति तत्त्वानामित्युभयतः पाशारज्जुः। तस्मात् अवैदिकं तावकीनं सांख्यमतम्। यथा कपिलः देवहूतिं प्रति-

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे।।
इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः।
वाक्करौ चरणौमेढ्रं पायुर्दशम उच्यते।।

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्या लक्षणरूपया।।
एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पंचविंशकः ।

(भाग०३/२६/१२-१५)

पंचविंशति संख्यात आधिक्याद्व्यतिरेकतः।
संख्योपसंग्रहच्चापि न श्रौतं सांख्यभाषितम् ।।श्रीः।।

अथ 'यस्मिन् पञ्च पञ्च जनाः' इत्यत्र 'पञ्च पञ्च' जनशब्दस्य कोऽर्थः। इति चेत् कथ्यते-

प्राणादयो वाक्यशेषात् ।।१/४/१२।।

इमे सन्ति प्राणादयः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं अन्नं मनः इति। अमीषां पञ्चजनसंज्ञा, कथं? व्युत्पतेः रुढेश्च पञ्चभूतानि जनयन्ति, धारयन्ति- इति पञ्चजनाः- पञ्च च ते पञ्चजनाः इति पञ्चपञ्चजनाः। "दिक्कसंख्ये संज्ञायाम्" पा० अ० २/१/५० इत्यनेन द्विगुतत्पुरुषः। तथा चात्र श्रुतिः- शाखाद्वयभेदात् ईषद्विभिन्ना- बृहदारण्यकं द्वयोः शाखयोरूपलभ्यते माध्यन्दिनानां काण्वानां च। यत्र बृहदाख्यकोपनिषदि शंकर-प्रभृत्याचार्याणां भाष्याणि तत्काष्वशाखीया माध्यान्दिनशाखायाः साम्प्रतं कदाचिदन्नोपलभ्यते- प्राणस्य प्राणमुत चंक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्।। (बृहद० ३/४/१८) इत्थं पठन्ति काण्वाः। किन्तु मान्ध्यन्दिनाः अत्रान्नं संयोज्यमुतास्यान्नमनसो मनो ये विदुः इति पठन्ति। अतो माध्यन्दिनपाठवाक्यशेषात् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अन्नं मनः इति पञ्चसंख्या पूर्यते। इमे पञ्चैव पञ्चजनाः आकाशश्च ब्रह्मणि प्रतिष्ठितः एतदर्थः। यथोक्तं भागवते निमिं प्रति योगेश्वरेण-

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ।।

(भाग० ११/३/३५)

माध्यान्दिनश्रुतौवाक्यशेषात् प्राणश्च लोचनम्।
श्रोत्रमन्नं मनश्चेमे पञ्चपञ्चजनाः स्मृताः ।।श्रीः।।

ननु काण्वशाखायांबृहदाव्यके प्राणस्य प्राणमुत चक्षुष चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो ये विदु इति चत्वार एव लभ्यन्ते। प्राण चक्षुश्रोत्रमनोरुपः इत्यत आह-

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।।१/४/१३।।

एकेषां काण्व शाखाध्याथिनां, अत्र ब्राह्मणे प्राणस्य प्राण मिति श्रुतौ अन्यशब्दे असति अविद्यमाने अपठिते इति भावः। ज्योतिषा पूर्वमन्त्रे पठितं तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः इत्युनुवर्त्थ ज्योतिश्शब्देन पञ्च संख्याः पूरणीयाः। तथा प्राणः चक्षुः श्रोत्रं मनः ज्योतिः इति। यथा भागवते–

अन्तर्हितश्च स्थिरजंगमेषु ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो मुनिर्नमस्त्वं विततस्य भावयेत् ।।

(भाग० ११/७/४२)

अन्नाभावे च मन्त्रेऽस्मिन् काण्वशाखावतामिह।
प्राचो निवर्त्य वै ज्योतिः पञ्चत्वमनुपूर्यते ।श्रीः।।
चतुर्थञ्चाधिकरणं चतुर्थे प्रथमस्य वै।
व्याचष्टाप्त्यै चतुर्थेऽस्य आचार्यो रामभद्रकः।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ कारणत्वाधिकरणम्

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।।१/४/१४।।

ननु श्रुतिषु बहुषु कारणत्वमुपलभ्यते कदाचिद् सदेव सोमेदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत (छा० ६/२/१) पुनः कदाचित् सर्वाणि भूतानि हवा आकाशादेव समुत्पद्यन्ते पुनश्च अन्नादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अथ च आनन्दाद्धेव खल्विमनि भूतानि जायन्ते। तर्हि किं नाम जगतः कारणम्? इति संदेहनिराचिकीर्षुराह कारणत्वेनेत्यादिः आकाशादिषु कारणत्वेन हेतुना यथा व्यपवदिष्टस्य ब्रह्मणः उक्तेः उपदेशात् आकाशादिषु ब्रह्मण एव कारणत्वम्। आकाशादयश्च ब्रह्मण एव नामानि यथाभागवते-

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम्।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयोलोकाश्चकम्पिरे ।।

(भागवत ४/८/७८)

ब्रह्मणो ह्यभिधानानि आकाशादीनि भूभृतः।
ततस्तेषु समाम्नातं हेतुत्वं शार्ङ्गधन्वनः ।।श्रीः।।

किञ्च- अन्यार्थपरकाः शब्दाः कथं ब्रह्मणि मेयाः इत्यत आह-

समाकर्षात् ।।१/४/१५।।

समाकर्षणं समाकर्षः तस्मात् समाकर्षात् प्रकरणानुरोधेन ब्रह्मानुगुणानां वाक्यानां समाकर्षणात् ब्रह्मण एव कारणत्वम्। तद्यथा- ब्रह्मविदाप्नोतिपरं इत्युपक्रम्य- **"तस्माद्वा एतस्मा द्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः इत्यादौ ब्रह्मत्वं व्यवस्थाप्य पुनश्चान्ते"** सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा इति निरूप्यते ताभ्यांमाद्यन्ताभ्यां विरुद्धोऽपि मध्यवर्ती असत्कारणवादपरकशब्दः ब्रह्मण्येवसमाकृष्यते। यथा- "असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्थ (तै० २/६) एवं सर्वाणि कारण वाक्यानि ब्रह्मपरकाण्येव। अथ कथं तर्हि- **मयाध्यक्षेण प्रकृतिःसूयते सचराचरम्** ।।गीता ९/९।। इति चेत्? पारतन्त्र्येण तस्याः कारणत्वात्। प्रकृतेः कारणत्ववादे नैवास्मद् विवादः। परन्तु स्वातंत्र्येण तस्याः नास्ति कारणत्वम्। असतः सज्जायते इत्यत्र अव्याकृतनामरूपात्मकात् सूक्ष्म् चिदचिदात्मकं जायते। यथा भागवते-

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।।

(भाग ३/२६/३)

भगवत्परवाक्यानां प्रकरणादनुरोधतः।
आद्यन्तयोः समाकर्षात् मध्यगानां च हेतुता ।।श्रीः।।
कारणत्वाधिकरणं भाषितं सोपपत्तिकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण रामभद्रांघ्रिभक्तये।

अथ जगद्वाचित्वाधिकरण्

कौषीतकीब्राह्मणे ब्रह्मजिज्ञासाप्रकरणे काशिराज अजातशत्रुः बालाकिं संबोध्य प्राह- "योवै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः ।। कौ० ब्रा० ४-१८ अत्र सन्देहो भवति, यदेतेषां पुरुषाणां कः कर्ता? नन्वत्र कर्ता पुरुषः सांख्यप्रतिपाद्यः, प्रकृतिसंसर्गात् तस्या एव पापपुण्यात्मकं कर्म पुरुषे आरोप्यते? इति चेत्! प्रकृतिनिष्ठकर्तृत्वाद्यारोपे पुरुषो मूढो भवति बद्धश्च। तस्य जिज्ञासा सर्वथैवानुचिता। निन्दिता चापि श्रुत्या- "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमाना दन्दह्यमाना परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।(मु० उ० १-२-८)

अथ तर्हि प्रकृतिरस्तु कर्ता, तत्कर्तृत्वं तु सर्वथा निर्विवादमिति चेन्मैवम्! अत्र "य एतेषां पुरुषाणां कर्ता" इति पुल्लिङ्गनिर्देशात्; पुनश्च स इति उपसंहारे पुंस्त्वनिर्देशात् नात्र प्रकृतिः कर्तृत्वं भजते। कुत्रापि तस्या पुल्लिङ्गनिर्देशादर्शनात्। नह्यचेतना प्रकृतिः विचित्रञ्जगद् रचयितुं प्रभवति। किंच तस्या वेदितव्यत्वमपि क्वापि न निर्दिष्टम्। इति जिज्ञासायामाह–

"जगद्वाचित्वात् ।।१-४-१६।।

"यस्य वैतत्कर्म" इत्यत्र प्रयुक्तः कर्मशब्दः जगद्वाची "क्रियते इति कर्म।" इति व्युत्पत्तेः। तस्मात् कर्मणो जगद्वाचित्वात् परमात्मैव कर्त्तत्वं भजते। अतएव- "विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता," "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं" इत्यादयः परस्सहस्राः श्रुतयः संगच्छन्ते। यथोक्तं भागवते वसुदेवेन-

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ।।

(भागवत १०/३/१३)

कौषीतिकीब्राह्मणे च ब्रह्मकर्मतयेरितम्।
जगत् तस्य च कर्तृत्वे ब्रह्म संघटते हरिः ।।श्रीः।।

नन्वत्र प्रकरणे जीवमुख्यप्राणयोः बहूनि लिङ्गानि सन्ति। तद्यथा- "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वा ।।कौ० ब्रा० ४-२०) इत्यहत आह-

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्" ।।१-४-१७।।

जीवश्च मुख्यप्राणश्च जीवमुख्यप्राणौ तयोः लिङ्गं तस्मात् जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् जीवस्य मुख्यप्राणस्य च लिङ्गात् न ब्रह्मकर्ता? इति चेन्न। तद्व्याख्यातं तस्य उत्तरं प्रतर्दनप्रकरणे व्याख्यातम्। तत्र हि उपासनात्रैविध्यं निर्दिष्टं, अतएव न दोषः। यथा भागवते सूतः-

सवा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषुचान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ।।

(भा० १-३-३७)

जीवस्य मुख्यप्राणस्य लिङ्गात् कर्ता न चेश्वरः।
नैतद् व्याख्यातपूर्वत्वात् भक्तित्रैविध्यमेव तत् ।।श्रीः।।

ननु अथास्मिन् प्राणा एकधा भवन्ति, इति प्राणनिर्देशो भवतु नाम। किन्तु किमर्थं जीवनिर्देशः? इत्यत् आह जैमिनिमतम्–

''अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।।१-४-१८ ।।

जैमिनेराचार्यस्य मतेन ब्रह्मणा सह जीवनिर्देशस्तु अन्यार्थम् अन्यस्मै प्रयोजनाय। तत्प्रयोजनं ब्रह्मणो जीवनियामकत्वख्यापनम्। एवमेव अत्र प्रश्नव्याख्यानाभ्यां सिद्धान्तितमित्येके प्राहुः। तथा कंचित् सुप्तमवलोक्य बोधयितुमशक्नुबन् यष्ट्या निहत्य स्वयं पृच्छति। ''स पुरुषः क्वाशयिष्ट'' अनन्तरं स्वयमेवोत्तरयति- ''सुषुप्तौ परमात्मना परिष्वक्त'' इति। यथा भागवते जन्तुः-

यस्तत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्व्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध- मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ।।''
(भा० ३-३१-१३)

अन्यस्मै हेतवे जीवलिङ्गं च ब्रह्मणा सह।
तथा प्रश्नोत्तरे चात्र प्राहेत्थमिह जैमिनिः ।।श्रीः।।
''इत्येतदधिकरणं जगद्वाचित्वसंज्ञकम्।
रामभद्रेण विदुषा भाषितं रामभक्तये।।

।।श्री राघवो शन्तनोतु।।

।।अथ वाक्यान्वयाधिकरण्।।

मैत्रेयीब्राह्मणे इत्थमाख्यायते, यद् गार्हस्थं जिहासन् महर्षिर्याज्ञवल्क्यः कात्यायनीं मैत्रेयीं चेति पत्निद्वयमाहूय धनेन छन्दयामास किन्तु ब्रह्मवादिनीं मैत्रेयीं नच्छन्दयितुं प्राभवत्। मैत्रेयी पृष्टवती गार्गं केनाहममृता स्याम्। याज्ञवल्क्यः स्पष्टमकथयत्- कोऽपि भवतु नाम धनेन पुरन्दरः किन्तु नामृतो भवति धनेन।

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।।
यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ।। बृ० उ० २-४-३)

अनन्तरं परितुष्टो याज्ञवल्क्यः मैत्रेयीममृत्वसाधनं उपदिशन् आह- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतयो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।।' बृ० उ० २-

४-५), अत्र सन्देहः, यदयं आत्मशब्दः कमर्थं ब्रूते? जीवात्मानं, परमात्मानं वा? तत्र जीवात्मानमित्येव पूर्वपक्षः। यतो हि जीवात्मन्येव श्रवणादयः उपपद्यन्ते। इत्यत आह-

वाक्यान्वयात् ।।१/४/१९।।

वाक्यानां ब्रह्मणि एव समन्वयात् स एवात्मपदार्थः यतो हि अमृतत्वं लिप्समाना मैत्रेयी याज्ञवल्क्यं जिज्ञासते। जीवात्मन्यमृतत्वासम्भवात्; अमृतस्यैष सेतुः तदभयममृतम्, एवं-"न ना अरे पत्युःकामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति"।। इत्याद्युपक्रम्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इति विधेयतामुपपाद्य, अन्ते- "येनेद सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।।बृ० उ० २-४-१४

तस्मात्-

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपश्चि लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।

इति लिङ्गषट्कनिर्णयानुसारेण वाक्यानां ब्रह्मण्यन्वयात् स एव ब्रह्मपदार्थः। यथोक्तं भागवते भगवता-

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भोह्यनर्थकः।।
मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुद्ध्यस्वमञ्जसा ।।

(भा० ११-१३-२३, २४)

सर्ववेदान्तवाक्यानां ब्रह्मण्येव समन्वयात्।
स एवात्मपदार्थोऽत्र मैत्रेयाब्राह्मणे किल ।।श्रीः।।

अथ जीवस्य किमर्थं लिङ्गमिति चेत्? आह-

"प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः ।।१-४-२०।।

याज्ञवल्क्येन मैत्रेयीं प्रति प्रतिज्ञा क्रियते, तयैव आत्मातिरिक्त जीवपदार्थः साध्यते। यथा-

"मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्"।।बृ० उ० २-४-५ यद्यत्र परमात्मातिरिक्तो जीवपदार्थो न स्यात्।

तर्हि तद्दर्शनेन इदं सर्वं विदितं कथं स्यात्? तस्मात् आत्मातिरिक्तोऽपि जीवपदार्थः तमन्तरेण याज्ञवल्क्यप्रतिज्ञासिद्धिरेव न स्यात्। अतएव भागवते परीक्षितप्रश्नमुत्तरयन् शुकाचार्यः–

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ।।

(भा० १०-१४-५६)

याज्ञवल्क्यप्रतिज्ञायाः सिद्धेरेवानुरोधतः।
जीवलिङ्गमिति प्राह आश्मरथ्यो महामना ।।श्रीः।।

अथोडुलोमेर्मतमाह–

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ।।१/४/२१।।

शरीरमुत्सृज्य उत्क्रमणं करिष्यतः जीवस्य आविर्भूतस्वरूपत्वात् हेतोरेव लिङ्गं प्रमाणामिति औडुलोम्याचार्य आह।।

यथोक्तंञ्जन्तुना भगवन्तं प्रति भागवते–

सोऽहंवसन्नपि विभो बहुदःखवासं गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ।।

(भा० ३-३१-२०)

शरीरमिह संत्यज्य उत्क्रमिष्यन् परंपदम्।
जीवः स्वारूप्यमाप्नोतीत्यौडुलोमिर्बुधोऽब्रवीत् ।।श्रीः।।

"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।।१-४-२२।।

काशकृत्स्नाचार्यस्य मतेन जीवे परमात्मनः अवस्थितेः तयोः पृथक् सत्ता वर्तते। नहि आधारः अधेयो भवति। प्रमाणञ्चात्र "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यस्य स्थाने माध्यन्दिनाः पठन्ति। "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरोऽ" यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।बृ० उ० ३-७-२२ (माध्यान्दिनी शाखा) इह औपश्लेषिकी सप्तमी।

"समानं वृक्षं परिषष्वजाते ।।मु० उ० ३-१-१, इत्येव काशकृत्स्नाचार्यस्य मतम्। अत एव भागवते परीक्षित–

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च, मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ।।
(भा० १०-१-७)

जीवेन साकं हृदयान्तरे वै वसत्यथो नित्यसखित्वमित्वा।
स एव देवो जगदान्तरात्मा तज्जीवलिङ्गं ह्यथ काशकृत्स्नः ।।श्रीः।।
वाक्यायान्वयाधिकरणं रामभद्रार्यधीमता।
श्रीराघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु भाषितम्।।

।।श्रीराघवः शन्तोतु।।

।।अथ प्रकृत्यधिकरणम्।।

ननु "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं ।।मु० उ० २-२, "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतिवचनैः ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमवगम्यते। न तावदुपादानकारणत्वम्? इत्यत आह–

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।।१/४/२३।।

अस्य जगतः ब्रह्म प्रकृतिः उपादानकारणं च निमित्तकारणमपि। हेतुमाह "प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" प्रतिज्ञा च दृष्टान्तं च प्रतिज्ञादृष्टान्ते तयोः अनुपरोधः उपरोधाभावः जागरूकत्वमिति यावत् स प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधः तस्मात् प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। छान्दोग्ये श्वेतकेतुं प्रति तत्पिता सर्वविज्ञानप्रतिज्ञां करोति। तत्र दृष्टान्तं मृदः कनकस्य यथा मृदा ज्ञातया मृण्मयं ज्ञायते, यथा कनकेन ज्ञातेन कुण्डलादिकं ज्ञायते। तथा ब्रह्मणा ज्ञातेन जगत् ज्ञायते ब्रह्मात्मकत्वात्। इत्यनेन ब्रह्मणः उपादानत्वं सिद्धम्। यथा- "येनाश्रुत श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।।

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्" वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।

"यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारोनामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।। अतएव भागवते प्रथमे–

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

(भा० १-१-१)

एकविज्ञानवादस्य प्रतिज्ञानानुरोधतः।
दृष्टान्ताच्च निमित्तं वै ब्रह्मोपादानकारणम्

(उ० ६-१-३, ४, ५) ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वे–

"अभिध्योपदेशाच्च ।।१/४/२४।।

तैत्तिरीये ब्रह्मानन्दवल्याम् ईश्वरस्य अभिध्यानोपदेशः, तेनैव ब्रह्मणः निमित्तकारणत्वमुपादानकारणत्वं चावगम्यते। यथा- "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।।तै० उ० २-६ अत्र प्रजायेय इत्यनेन उपादानकारणत्वं, असृजत् इत्यनेन निमित्तकारणत्वं च सूचितम्। अतएव भागवते भगवन्तं प्रति गजेन्द्रः-

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ।

(भा० ८-३-३)

तैत्तिरीये समाम्नातादभिध्यानात्परेशितुः।
उपादानं निमित्तं च तदेव ब्रह्म निश्चितम् ।।श्रीः।।

ननु लिङ्गैरन्यथाप्यनुमातुं शक्यते। अत उभयं साक्षादाम्नातव्यम्? इत्यत आह–

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।।१/४/२४।।

उभयस्य साक्षात् आम्नानात् श्रुतावभ्यासात् ब्रह्मैव अभिन्ननिमित्रोपादानं तस्मात् उभयमपि ब्रह्म। उपदानं यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत ।।छा० उ० ३-१४-१ निमित्तं यथा "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम ।।मु० उ० ३-१-२ एवम् उभयोरपि साक्षात् सङ्कीर्तनात्- अभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मैव। अतएव भागवते गजेन्द्रः-

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम्।

अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते, स आत्ममूलोऽवंतु मां परात्परः ।।

(भा० ८-३-४)

सर्ववेदान्तवाक्येषु साम्रेडमनुगीयते।
उपादाननिमित्तं च साक्षाद् ब्रह्म परात्परम् ।।श्रीः।।

किं च उपादानं स्पष्टं वाच्यम्? इत्यत आह-

आत्मकृतेः ।।१/४/२६।।

आत्मनः कृतिः आत्मकृतिः, तैत्तिरीये आम्नायते तदात्मानं स्वयमकुरुत ।।तै० उ० २-७, स्वयं पदविन्यासेन निजमेव रचयामास। किमर्थं? इत्यत आह- 'अकुरुत,' अत्र आत्मनेपदप्रयोगात् क्रियाफलं कर्तृगामि। आत्मानन्दाय सृष्टिं रचयति। अतः आत्मकृतेः हेतोः अभिन्ननिमित्तोपादानता। कुरुते अतः निमित्तम्। स्वं कुरुते अतोपादानम्। स एव स्वं करोति अतोऽभेदः। यथोक्तं गजेन्द्रेण भागवते-

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय। निष्कारणायाद्भुतकारणाय।
सर्वागमाम्नाय महार्णवाय नोऽपवर्गाय परायणाय ।।

(भा० ८-३-१५।)

आत्मनः करणाच्चैव कृत्वा तत्र प्रवेशनात्।
ब्रह्माभिन्ननिमित्तोपादानकारणमेव तत् ।।श्रीः।।

किं च मायया अनेकरूपाणि रचयति, वा स्वयमेव परिणम्यते? अत आह-

परिणामात् ।।१/४/२७।।

ईश्वरस्य परिणामो भवति, ननु परिणामे सति ब्रह्मणि विकारः स्यात्। दुग्ध विकारो दधीव? इति चेन्न! ब्रह्मणो विशेषणांशे अचिति विकारो भवति, न तु चिति, न वा तद् विशिष्टे अद्वैते। यथा विनयपत्रिकायां श्रीमत्गोस्वामि तुलसीदासमहाराजाः-

"प्रकृति महतत्व सब्दादि, गुन, देवता, व्योम मरुदग्नि, अमलांबु उर्वी।
बुद्धिमन इन्द्रिय प्राण चित्तातमाकाल परमानु चिच्छक्ति गुर्बी।।
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्नो।
भुवन भवदंस कामारि बंदित पदद्वंद्व मंदाकिनी जनक जिष्नो।।

आदिमध्यांत भगवन्त त्वं सर्वगतमीस पस्यंतिजे ब्रह्मवादी।
जथा पट तंतु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग दारु करि कनक कटकांगदादी।।

विनय पत्रिका ५४-२-३-४

अतएव भागवते–

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत्, स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं, स एव सर्वं परमार्थभूतः ।।

(भा० १०-४६-४३)

स्वयोगमायामधिश्रित्यरामो स्वेनैवरूपेण जगत् समस्तम्।
स्वलीलयेदं विरचय्य भाति प्रोक्तस्ततोऽयं परिणामवादः ।।श्रीः।।

किंच प्रत्यक्षं श्रुतिप्रमाणमाह–

''योनिश्च हि गीयते ।।१-४-२८।।

योनिः सर्वजगन्निमित्तकारणमपि चकारात् उपादानं, श्रुतिभिर्गीयते। यथा 'तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' ।।मु० उ० १-१-६

यथा भागवते ब्रह्मा-

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षे कियदप्यनन्तः ।।

(भा० १०-१४-१२)

ब्रह्मणश्चैव सम्भूतं जगच्चिदचिदात्मकम्।
श्रुत्याभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मैव गीयते ।।श्रीः।।
प्रकृत्यधिकरणं चैतत् कारणोभयमण्डितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये हरेः।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम्।।

अथ प्रतिज्ञापूर्वकमध्यायमुपसंहरति–

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।।१/४/२९।।

''जन्माद्यस्य यतः'' इत्यारभ्य ''योनिश्च हि गीयते'' इत्येतदन्तेन

ब्रह्मकारणत्वप्रतिपादकग्रन्थेन सर्वे वेदान्ताः व्याख्याताः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनार्था। यद्वा सर्वे इत्यत्र अकारप्रश्लेषः एतेन सर्वे अव्याख्याता अपि ब्रह्मविरुद्धकारणवादा अपि व्याख्याताः। सांख्ययोगन्यायवैशेषिकपूर्वमीमांसासु ब्रह्मविरुद्धा ये कारणवादाः व्याख्याताः।।

अतएव भागवते गजेन्द्रः–

ओम् नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ।।

(भा० ८-३-२)

सांख्यस्य योगस्य कणादकस्य यद् गौतमस्याथ च जैमिनेर्वै।
यत् कारणत्वं श्रुतितो विरुद्धं व्याख्यातमेतेन वचोमयेन ।।श्रीः।।

इत्येतच्चाधिकरणं सर्वव्याख्यानसंज्ञकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण भाष्ये चास्मिन् प्रभाषितम्।।
इत्येष प्रथमोऽध्यायः ब्रह्मसूत्रे समन्वयः।
श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रेण भाषितः।।

हे राम राघव रघूत्तम रावणारे! हे जानकीश ! जनचातकवारिवाह।
हे देव हे पतितपावन रामभद्राचार्यं करालकलितः परिपाहि पापात्।।

इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वर सद्गुरू रामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यकृतौ ब्रह्मसूत्रेषु श्रीराघवकृपाभाष्ये प्रथमोऽध्यायः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।

।।श्री रामानन्दाचार्याय नमः।।

अथ ब्रह्मसूत्रेषु अविरोधनाम द्वितीयोऽध्यायः।

।।प्रथमपादः।।

-मंगलाचरणम्-

पाथोजकन्दशरदिन्दुमधुव्रतेभ पञ्चास्यमारकतमन्मथदर्पहारी।
रामो लसन्मुनिपटेषुधिचापबाणः सीतापतिर्विजयते श्रितचित्रकूटः ।।१।।

नवजलधरकान्तो लोललोलालकान्तो
गुणमहितदिगन्तो भूषणोद्यद्वसन्तः।
किलकितकलवाचा रञ्जयन् मातृवर्गं
पितुरजिरगतः श्री राघवः शंतनोतु ।।२।।

सुशीलायां देव्यां समजनि शुचे पुण्यसादनान्।
महीदेवाद्देवो य इह हृदये भारतभुवः।।
प्रयागे सम्भागे विलसदनुरागे किल जगद्
गुरुं रामानन्दं प्रणमत निजाचार्यमनघम् ।।३।।

जयति सकलकविचन्द्रो हुलसीहर्षवर्धनस्तुलसी।
सुजनचकोरकदम्बो यत्कविताकौमुदीं पिबति ।।४।।

तुलसीं तुलसीपीठं सीतारामौ च लक्ष्मणम्।
मन्दाकिनीं चित्रकूटं कामदं मारूतिं स्तुवे ।।५।।

समन्वयाख्ये प्रथमे भगवान् वादरायणः।
जगतःकारणत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यमूचिवान्।।
चतुर्भिश्चैव चरणैः श्रौततात्पर्यनिर्णयैः।
सर्वे कारणवादाश्च ब्रह्मण्येव समन्विताः।।
श्रीराम एव परं ब्रह्म वेदवेदान्तवेद्यकम्।
चिदचिद्विशिष्टद्वैतं जगत्कारणमव्ययम्।।

तथापि ये विरोधाश्च दृष्टा आपाततः श्रुतौ।
अविरोधभिधेऽध्याये तत्परीहार्य इज्यते।।

अथ स्मृत्यधिकरणम्–

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसंगात् ।।२/१/१।।

असकृत् समाहितेऽपि सांख्यसिद्धान्ते पुनराशंकते सांख्यवादी– यद् ब्रह्मण्येव जगत्कारणत्ववादं स्वीकरिष्यते तदा स्मृतेः सांख्यस्मृतेः अनवकाशरूप दोषस्य प्रसंगात्। एवं सांख्यस्मृतिरक्षार्थं प्रधानकारणवादं स्वीकुर्वन्तु। न ब्रह्म कारणवादम्? इति चेन्न, सांख्यस्मृतेः स्वीकारे अन्यासां मन्वादिस्मृतीना-मनवकाशस्य दोषप्रसंगः स्यात्। तर्हि बहूनामपेक्षया एकस्य अनवकाशदोषप्रसंगः सोढव्यः? इति चेत्, सत्यमल्पं भवति, अतः यदि सत्या सांख्यस्मृतिः तदा तदनवकाशप्रसंगो न सोढव्यः। इति त्वं ब्रूषे तदपि न। वह्व्यः स्मृतयः ब्रह्मकारणवादं स्वीकर्वन्ति। एकैव सांख्यस्मृतिः प्रधानकारणवादं स्मरति, तद्यथा- "यद्वै मनुरवदत् तद्भेषजम्" (तै० २/६०/२) इति श्रुतिः मनोर्वाक्यञ्जगद्भेषजत्वेन स्वीकरोति एवं श्रुतिसंकीर्तितभगवान् मनुरपि ब्रह्मणः कारणवादं स्वीकरोति-

आसीदिदं तमोभूतमप्यज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।।५।।

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ।।६।।

यो सावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्वभौ ।।७।।

सौऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।।८।।

(मनुस्मृति १/५-८)

एवं न च कपिलः साक्षात् भगवान् इति सांख्यस्मृतेः खण्डनं ब्रूषे तर्हि भगवद्वाक्यखण्डनं भविष्यति इति वाच्यम्। तस्यावतारत्वात्। भगवतोऽपि कदाचित् असुरविमोहाय श्रुतिविरुद्धत्वेनोक्तत्वात्। अतो "यद् यद् भगवतोक्तम्

तत्तद्ग्राह्यम्" इति नास्ति राजाज्ञा। का तर्हि? यद्यद् वेदेनोक्तम् तत् तद् ग्राह्यम्। भगवदुक्तञ्च तदेव ग्राह्यम् यद्वेदानुमोदितम्। नन्वनेन विचारेण नास्तिकत्वं स्यात्? नहि तावत्। **"नास्तिको वेद निन्दकः।"** यदि भगवानपि वेदविरुद्धं व्याहरति तर्हि स त्याज्यः। यथा बौद्धावतारः। लोकेऽपि पितृसत्तायां मातैव परमं प्रमाणम् नतु पिता। तथैव भगवत्सत्तायां भगवान् न परमं प्रमाणम्। परमं प्रमाणन्तु करूणैकमूर्तिरर्भकवत्सला माता श्रुतिः। न च कपिलो ऋृषिः तथाहि- **"ऋृषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्"** ।।श्वेत ५/२।। ततस्तदुक्तं परमं प्रमाणमिति वाच्यम् ऋृषिदृष्टस्यैव स्वतः प्रमाणत्वेन परमप्रमाणत्वात् स्मृतिः ऋृषिवचनम्। श्रुतिश्च ऋृषिदर्शनम्। स्मृतिरचनाकारे मुनित्वं भवति न तु ऋृषित्म्। यद्वा दैवहूतेयः कपिलः अन्यः। येन देवहूतिं प्रति सेश्वरवादं सांख्यशास्त्रमुपदिष्टम्। अयमन्यः कपिलः सांख्यसूत्रकारः। नन्वनेन व्याख्यानेन भवतामभीष्टस्य मानसस्यैव विरोधः तत्र सांख्यशास्त्रस्य निर्मातृत्वं कपिलस्य स्पष्टमुक्तम्। यथा-

सांख्य शास्त्र जेहि प्रगट वखाना। तत्व विचार विपुन भगवाना ।।

(रामचरित० १/१४२/७)

प्रकटय्य च यः सांख्यशास्त्रं स्पष्टमभाषत।
तत्वानाञ्च विचारे वै निपुणो भगवान् किल।।

इति चेन्मैव! तत्र सांख्यशास्त्रप्रवचनस्य चर्चा वर्तते। न तु सांख्यसूत्रप्रणयनस्य। इति न विरोधः। इति चेत्? मन्यसे कपिलं भगवन्तं तर्हि पूर्वोत्तरेणैव संतुष्टो भव। बुद्ध इव न वयं कपिले विप्रतिपद्यामहे किन्तु तदुक्ते। किञ्च कपिलो भगवदंशावतारः दशावतारतोऽपि बहिर्भूतत्वात्। दशावतारस्तु-

कच्छो मत्स्यो वराहञ्च नृसिंहो वामनस्तथा।
भार्गवो राघवः कृष्णः बौद्धश्च कल्किः मतः।।

तत्र सर्वेष्वतारेषु श्रीरामकृष्णौ पूर्णावतारौ अवतारिणौ च। यथा- **"एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (भाग० १/४/२८) चकारात् रामोऽपि भगवान् इति तत्र वंशीधरः।"** तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः। (भागवत ९/१०/३।।) अतः पूर्णावतारौ श्रीरामकृष्णौ न कदापि वेदविरुद्धं व्याहरतः। न कदापि च श्रुतिविरुद्धमाचरतः। बुद्धस्तु श्रुतिविरुद्धं व्याहरति अतस्सखेदं विलपन् गायति- कविकोकिलस्तत्र भगवान् जयदेवो गीतगोविन्दे-

निन्दति यज्ञविधेः रहः श्रुतिजातम्।
सदयहृदयदर्शित पशुघातम्।।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।।

एवमंशावतारकपिलोक्तसांख्यतः पूर्णावतारभगवदुक्तगीतायाः प्रामाणिकतरत्वम्। तथा च श्रीगीतासु ब्रह्मकारणवादः न तु प्रकृतिकारणवादः। यथा प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिदं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।गीता९/८।। अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तःसर्वं प्रवर्तते। (गीता १०/८) ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। इत्येवमादीनामन्यासां च श्रुत्यर्थमनुगच्छन्तीनामनवकाशरूपदोषप्रसंगाद् हेतोः वेदविरुद्धाया अस्याः सांख्यस्मृतेः अनवकाशदोषप्रसंगः सोढव्यः।

यथोक्तं वेदस्तुतौ भागवते-

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरूपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ।।

(भा० १०-८७-२५)

सांख्यस्मृतिप्रोक्त प्रधानकारणमन्या सहन्ते स्मृतयो न कर्हिचित्।
श्रुतेर्विरुद्धं समुपेक्ष्यमेव तत् अन्य स्मृतीष्टा हरिहेतुता मता ।।श्रीः।।

किञ्च यदि तावकस्सिद्धान्तो वैदिकोऽविष्यत् तर्हि अन्यास्वपि श्रुतिषु अद्रक्ष्यत। संयोगतः प्रकृतिकारणवादो न न क्वापि स्मृतिषूपलभ्यते! इत्यतआह-

इतरेषां चानुपलब्धेः ।।२/१/२।।

इतरेषामपि कपिलादन्येषां मान्वादिस्मृतिकर्त्तृणा स्मृतिषु प्रधानाकारणवादस्यानुपलब्धेरपि हेतोः त्वन्मतमवैदिकमेव। अत्रत्यमनुपलब्धिशब्दमेव गृहीत्वा केचन वेदान्तेऽनुपलब्धिमपि प्रमाणं मन्यन्ते तदसंगतम्। अनुपलब्धिर्न प्रमाणम्। तत्रापि हेतोः पञ्चमीविधानात्। अनुपलब्धिहेतुमूलकमनुमानमेव प्रमाणम्। अनुपलब्धेः अर्थापत्तेश्च अनुमान एकान्तर्भावात्।

यथोक्तं भागवते मनुना-

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।

यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ।।

(भा० ८-१-९)

इतरेषां मुनीनां च स्मृतिषु प्रकृतेर्ननु।
हेतुत्वानुपलब्धेश्च ब्रह्मैवोभयकारणम् ।।श्रीः।।
इति स्मृत्यधिकरणं द्वितीये प्रथमांघ्रिगम्।
श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं प्रीतये सताम्।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ।।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।।२/१/३।।

एतेनैव सांख्यहेतुवादसिद्धान्तनिराकरणेन योगः प्रधानकारणवादपरकः प्रत्युक्तः निराकृतः। योगोऽपि वेदविरुद्धो नापेक्षणीयः। अहो योगोऽपि भगवन्तं न सम्यक् जानाति। अत एव नादरभक्ति सूत्रे-

सा च कर्मज्ञानयोगेभ्यो गरीयसी फलरूपत्वात् ।।(ना० भ० सू० २-१-१,२), अतएव मानसकारा अपि-

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जँह नहि राम प्रेम परधानू ।।

(मानस २-२९१-२)

रुपान्तरम्-

सयोगश्च कुयोगोऽस्ति ज्ञान अज्ञानमेव तत्।
यत्र नो रामभद्रस्य प्रेमप्राधान्यमीप्सितम्।

अतएव भागवते-

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति ।।

(भा० १-६-३६)

सांख्यसिद्धान्तसम्मान्यहेतुवादनिराकृति।
व्याख्यानेनैव योगोक्तो व्याख्यातो हेतुरश्रुतः ।।श्रीः।।

द्वितीयं चाधिकरणं योग प्रत्युक्ति संज्ञकम्।
व्याख्यातं खरभिद्भक्त्यै रामभद्रेण धीमता।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।अथ विलक्षणत्वाधिकरणम्।।

नन्वत्र पूर्वपक्ष्यते। यद्यत् कार्य तत्तत् कारण गुणकं भवति।इति नियमात्, यदि ब्रह्मजगत् कारणं तर्हि ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादिकं जगत्युपलब्धेत? एवं ब्रह्म सर्वज्ञं, जगदल्पज्ञम्। ब्रह्म चेतनं जगदचेतनम्। ब्रह्म व्यापकं जगद् व्याप्यम्। ब्रह्म नित्यं जगदनित्यम्। ब्रह्म गुणातीतं जगत् त्रिगुणमयम्। एवं विलक्षणत्वात् कथं ब्रह्म कारणत्वम्? इति पूर्वपक्षं सूत्रयति-

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ।।२/१/४।।

अस्य जगतः भवद्भिः कारणत्वेनाभिमतात् ब्रह्मणः विलक्षणत्वात् विपरीतत्वात्। किं च शब्दादपि वेदवचनात् जगतस्तथात्वम्। **"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति** ।।मु० उ० ३-१-१ ११।

यथोक्तं भागवते-

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।।

(भा० ११-३-४३)

जगद्विलक्षणत्वाच्च श्रुतिस्मृतिपुराणतः।
ब्रह्मकारणवादो नो इत्येवं पूर्वपक्षितम् ।।श्रीः।।

अथ प्रतिप्रश्नः–ननु यदि जगदचेतनं, तर्हि कथं पृथिव्यादयो ब्रुवन्ति? तथा हि–ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय ।।बृ० उ० १-३-२।। अत एव जगन्न ब्रह्म विलक्षणम्। एवमेव यथा ब्रह्मणि ईक्षणव्यवहारः, तथा अप्सु तेजसि च। यथा- **"तत्तेज ऐक्षत" "ताआप ऐक्षन्त"** इतिछान्दोगा गायन्ति। इति चेत प्रतिपूर्वपक्षं सूत्रयति।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।।२-१-५।।

तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः। विशेषश्च अनुगतिश्च इति विशेषानुगती ताभ्यां

विशेषानुगतिभ्यां, विशेषः विशेषणम्। विषेषणात् जडवस्तुषु देवतानामनुगतेश्च, तत्र तत्तदभिमानिनः देवताविशेषस्य व्यपदेशः व्यवहारो वर्तते। यथा- तेजसि तेजोऽभिमानि देवता अप्सु तदभिमानि वरुणो देवता। यथा तत्र बृहदारण्यके "हन्तेमा तिस्रो देवता अनेन जीवघनेन सहात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" अत्रैकस्यामपि श्रुतौ विशेणस्यानुगतेश्च सुस्पष्टं सङ्कीर्तनं वर्तते। अतएव यत्र क्वाप्यचेतनेषु चेतनवद् व्यवहारः, तत्र तत्तदभिमानिदेवताव्यपदेशत एव। अनेनैव सिद्धान्तेन पुराणेषु नदीपर्वतसागराणां लोकवद्संपादितः शिवपार्वतीविवाहोत्सवः तत्रोत्सवे तेन वनसागरनदनदीतटागानां सविधेः आमन्त्रणप्रेषणादिकं सर्वमेव तत्तदभिमानिदेवता व्यपदेशेन सप्रमाणं सिद्धान्तितं सिद्ध्यति। तस्मात् जगदचेतनं ब्रह्मतो विलक्षणं कथंकारं ब्रह्मणः कार्यं स्यात्। इति सूत्रद्वयेन महापूर्वपक्षः।

यथोक्तं भागवते–

तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्।
निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।।

(भा० ३-२६-५३)

देवतानां विशोषेण तेषामनुगतेरथ।
अभिमानि सुरारोपात् जगद् वै चेतनायते ।।श्रीः।।

अथोत्तरयति-

दृश्यते तु ।। २/१/६।।

तु शब्दः पूर्वपक्षनिराससूचकः। तु किन्तु क्वचित् क्वचित् कार्यं कारणतो विलक्षणं विजातीयं च दृश्यते। यथा गोमये वृश्चिकाः, फलेषु कीटाणवः।

यथोक्तं भागवते-

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्,
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ।।

(भा० १०-८७-२६)

क्वचित् क्वचिच्च कार्येभ्यः कारणं च विलक्षणम्।
दृश्यते लोकयात्रायां गोमयाद् वृश्चिको यथा ।।श्रीः।।

पुनः पूर्वपक्ष्यते एवं कार्यकारणयोः वैलक्षण्यस्वीकारे असत् कार्यवादापत्तिः।

या तवाप्यनभिमता। तस्मात् स्वीक्रियतां नाम अस्मत् प्रधानकारणवादः? इत्यत आह–

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।।२/१/७।।

नन्वनेन असत् कार्यवादः स्यात्? इति चेन्न! पूर्वसूत्रेण केवलं प्रतिषेधात्। अयं भावः पूर्वसूत्रेण मया नासत्कार्यवादः समर्थितः केवलं विलक्षणत्वस्य दर्शनं प्रतिपाद्य ब्रह्मातिरिक्तकारणवादस्य निषेध एव कृतः।

यथोक्तं भागवते–

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ।।

(भा० ३-७-९)

प्रतिषेधेऽस्ति तात्पर्यं सत्कार्या स्वीकृतौ न च।
तस्मादसत् कार्यवादो नैवास्माभिः परिष्कृतः ।।श्रीः।।

अथ पुनः पूर्वपक्ष्यते–

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।।२/१/८।।

अपिपूर्वकइण् धातोः प्रलयार्थः, अप्ययनमपीतिः प्रलयः, तस्यां अपीतौ प्रलयावस्थायां, तद्वत् कार्यवत् कारणं स्यात्। कथं? प्रसङ्गाद्धेतोः सहचारात्। यदि ब्रह्मात्मकं जगत् तर्हि प्रलये तद् ब्रह्मणि लीयेत। तदनन्तरं तस्य जगतः सम्पूर्णदोषा ब्रह्मणि आगच्छेयुः। यथा धूल धूसरः शिशुः आलिङ्गितः आलिङ्गके धूलिजातं समर्पयति। तथैव जगदपि ब्रह्मणि। इति सर्वमसमञ्जसं भविष्यति ।। यथोक्तं भागवते–

जगदुदभवस्थितिलयेषु दैवतो बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया विनिवर्तित भ्रमगुणात्मने नमः। ।।

(भा० ४-७-३९)

महाप्रलयकाले तु जीवानामीश्वरे लये।
दोषाः सर्वे च तत्र स्युरित्येतदसमञ्जसम् ।।श्रीः।।

तदुत्तरयति–

न तु दृष्टान्त भावात् ।।२/१/९।।

तु शब्दः पूर्वपक्षनिवर्तकः। नेत्थं सहचारिणः दोषः अन्यमपि स्पृशेदेव इति नैव राजाज्ञा। यथा शरीरस्य बालयौवनजराः शरीरिणि न विकारमुत्पादयन्ति तथैव। यथा सह भूतोऽपि चन्दनवृक्षो न वंशं सुरभयति।

तस्मात् दृष्टान्तभावात् अपीतावपि जगत् दोषाः ब्रह्मणि न गच्छन्तीति सर्वं समञ्जसम्।। यथोक्तं भागवते-

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभि मृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ।।

(भा० १०-८७-२६)

दृष्टान्तानां च सद्भावान्नदोषाः सहचारिणः।
सहचारिणि दृश्यन्ते वंशे वै चन्दनं यथा ।।श्रीः।।

अपरामपि विप्रतिपत्तिमाह–

स्वपक्षदोषाच्च ।।२-१-१०।।

किं च तव पक्षानुसारं तु तवैव स्वकीयपक्षे दोषः स्यात्। यथा तव पक्षेऽपि प्राकृते जगति पुरुषे विलीने, प्राकृतजगतः दोषाः पुरुषे आगच्छेयुः। एवं च अपीतौ प्रधानदोषाः पुरुषमपि आश्रयेयुः। तदा तवैव सर्वमसञ्जसम्।।

यथोक्तं भागवतेः–

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।

(भा० १-२-३८)

सहचारिणि दोषाणामारोपे सहचारिणः।
तवैव पक्षे दोषः स्यात् पुँसि स्यात् प्राकृतं मलम् ।।श्रीः।।

यदि चेत् तर्काः क्रियन्तां, तदा तर्काणामानन्त्यात् अध्यात्मशास्त्रे महती अव्यवस्था स्यात्? इत्यत आह–

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्ष-प्रसङ्गः।।२-१-११।।

ननु तर्कैः प्रधानकारणवादः साधयितुं शक्यते? इति चेन्न! अप्रतिष्ठानात् तर्कः न। पूर्वसूत्रान्न इत्यनुवर्तते। श्रुतौ तर्कस्य प्रतिष्ठा नास्ति। अत एव तैत्तिरीये- "नैषा तर्केण मतिरापनेया" अथ तर्हि वेदाविरोधिना तर्केणानुमेयम्, वेदाविरोधितर्काणां श्रुतौ प्रतिष्ठानात्। यथा मनुः–

प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रंच विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।

(मनु० १२-१०५, १०६)

एवं वेदाविरोधितर्केण चेत्, अनुमेयम्? तथापि, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः। यतो हि-श्रुतौ प्रकृतिज्ञानान्न मोक्षः। "तरति शोकमात्मवित्" इति श्रुतेः। "**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्**- "इति सूत्राच्च। यथा भागवते–

एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा।
यथासवो जाग्रतिसुप्तशक्तयो द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ।।

(भा० ४-३१-१६)

तर्काणां च प्रतिष्ठानात् तर्केण श्रुतिसंगिना।
अन्यथैवानुमेयत्वे न मोक्षः प्रकृतेर्विदः ।।श्रीः।।
इत्येतदधिकरणं सोपपत्ति यथाश्रुतम्।
रामभद्रेण विदुषा व्याख्यातं विदुषां मुदे।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्।।

अन्येऽपि योगन्यायवैशेषिकबौद्धजैनचार्वाकादिकल्पिताः ब्रह्मव्यतिरिक्ताः ये कारणवादाः तानपि निराकुरुते।

"एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।।२/१/१२।।

एतेनैव व्याख्यानेन इतरेषामपि व्याख्यानम्। कथं? इत्यत आह शिष्टापरिग्रहाः यतो हि इमे शिष्टैः शास्त्रानुशासनप्रियैः महानुभावैः न परितो गृहीताः। शिष्टैः न परिगृह्यन्ते इति शिष्टापरिग्रहाः यद्वा, परितो ग्रहणं परिग्रहः न परिग्रहः अपरिग्रहः येषु ते शिष्टापरिग्रहाः अशिष्टपरिग्रहाणां नैव सिद्धान्तत्वम्, वैदिकधर्मविरोधत्वात्। अत एव भागवते–

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्त येषां समूहेन कृतो विशेषः ।।

(भा० ५-१२-९)

योगो न्यायं च काणादं मीमांसा सांख्यमेव च।
शिष्टापरिग्रहात्सर्वे हेतवोऽस्मान्निराकृताः ।।श्रीः।।
इत्येतच्चाधिकरणं रामभद्रेण भाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्ये शिष्टेन तुष्टये सताम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।अथ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम्।।

ननु केन प्रकारेण भवतां मते कारणत्वम्? इति चेच्छृणु! सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टम् उपादानकारणं निमित्तकारणं च तदेव स्थूलचिदचिद्विशिष्टं कार्यम्। अथ तर्हि वैशिष्ट्यं केन सम्बन्धेन? शरीरशरीरिभावेन, यदीत्थं तर्हि जीवस्य सुखदुःखादय भोक्तृत्वादयश्च ब्रह्मणि समापतिष्यन्तीति समाधत्ते–

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।।२-१-१३।।

भोक्तृ शब्दः भोक्तृत्वपरः, यद्वा "कृत्यल्युटो बहुलम् (पा० अ० ३-३-११३) इत्यनेन बहुलग्रहणात् भोक्तृ इति भावे तृच्। भोजनं भोक्तृ, भोक्तृणः आपत्तिः भोक्त्रापत्तिः, तस्याः भोक्त्रापत्तेः। यदि चेत् सूक्ष्मस्थूलचिदचिद्विशिष्टयोः ब्रह्मणोरद्वैते कार्यकारणभावकल्पना, तर्हि ब्रह्मणे भोक्तृत्वापत्तिः स्यात् विभागाभावश्च? इति चेन्न! कथं? लोकवत्, यथालोके शरीरिणिऽशरीरस्य आरोपे अहं शुक्लः अहं कृष्णः इत्यादि व्यवहारेण तयोः प्रतीयमानत्वे विभागस्य शरीरावयवे छिन्नेऽपि शरीरिणोऽक्षतेः जीवब्रह्मणोः सहचारेऽपि कर्मवशस्य जीवस्य भोक्तृत्वं न ब्रह्मणि। यथा दस्योर्दस्युकृत्यं न तेन सह वर्तमाने तटस्थे।

यथोक्तं भागवते–

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीजीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
अविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः।।

(भा० ५-११-१२)

ब्रह्मकारणवादे स्यात् भोक्तृत्वमविभागतः।
लोकपक्षानुरोधेन न दोषो ब्रह्मणि स्फुटम् ।।श्रीः।।
इत्येतच्चाधिकरणं ब्रह्मसूत्रेषु भाषितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण मुदे सीतापदेः किल।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।। अथारम्भणाधिकरणम्।।

किं च जीवब्रह्मणोः अनन्यत्वे श्रौतं वचनं प्रमाणमाह–

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।।२/१/१४।।

न अन्यौ अनन्यौ, अनन्ययोः भावः अनन्यत्वं तयोः अनन्यत्वं तदनन्यत्वम्, आरम्भणमालम्भनं रलयोः अभेदात् लकारस्य रकारः। आरम्भणं शब्यते येन स आरम्भणशब्दः आरम्भशब्दः आदिर्येषां ते आरम्भणशब्दादयः तेभ्यः आरम्भणशब्दादिभ्यः। मन्त्रो अन्यपदार्थः। छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके श्वेतकेतुं प्रत्यारुणिः सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामाह। तत्र मृत्तिकादिदृष्टान्तम्। यथा– सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।। (छा० उ० ६-१-४)

अत्र वाचा इति तृतीयान्तम्। वाचा वाण्या आरम्भणं आलम्भनं विकारः, इत्यत्रापि मृद्घटयोरैक्यम्। एवमन्या अपि श्रुतयः– सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।।छा० उ० ६-८-४ "ऐतदात्म्ययमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।।छा० उ० ६-८-७।। एवं आरम्भणेन एताभ्यां च श्रुतीभ्यां ब्रह्म जीवयोरनन्यत्वम्।यथोक्तं भागवते–

बृहदुपलब्धमेततदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।

अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ।।

(भा० १०-८७-१५)

सम्बन्धतो ह्यनन्यत्वं जीवात्मपरमात्मनोः।
आरम्भणादिशब्देभ्यः अन्याभिश्चोपपत्तिभिः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह–

भावे चोपलब्धेः ।।२/१/१५।।

भावः कार्यं भवतीति भावः" पुंसि संज्ञायां घः प्रापेण (पा० अ० ३-३-११८) इत्यत्र प्रायो ग्रहणात् कर्तर्यपि घः। भावे कार्ये कारणगुणस्योपलब्धिः दृश्यते। यथा घटे मृत्तिकायाः पटे तन्तोः, अत एव कार्यकारणयोरनन्यत्वम्। यतो हि संसारेऽपि ब्रह्मणः। अतएव भक्ताः जगति तिष्ठन्तोऽपि सर्वत्र श्रीरामं पश्यन्तः कृतार्था भवन्ति। किञ्च, कंसोऽपि सर्वं कृष्णमयमपश्यत्। यथा "आसीनः संविशन् तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन्महीम्। चिन्तयानो हृषीकेशं अपश्यत्तन्मयं जगत्" (भागवत १०/२/२४)।।

भावः कार्यमिति प्रोक्तं तत्र हेतुश्च लभ्यते।
घटे मृत् सुपटे तन्तुः तथैवात्र जगत्पतिः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतमाह–

सत्वाच्चावरस्य ।।२/१/१६।।

अवरं कार्यं। तस्य अवरस्य कार्यस्य कारणे सत्वात् विद्यमानत्वादपि हेतोः कार्यकारणयोरनन्यत्वम्। अतएव ब्रह्मणि श्रीरामे कोटि कोटि ब्रह्माण्डानां व्यवस्थितिः।। **दिखरावा मातुहिं निज अद्भुत रुप अखण्ड। रोम रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड** ।।मानस १/२०१।।

रुपान्तरम् कृतचरम्। अतएव च मृद्भक्षणलीलायां भगवतः श्रीमुखे श्रीयशोदया तत्कार्यभूतं चराचरमदर्शि सा तत्र ददृशे–

विश्वं धरात् स्थास्नु च खं दिशः।
सा हिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ।।३७।।
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नमस्वान् वियदेव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ।।३८।।

एतद् विचित्रं सह जीवकालस्वभावकर्माशयलिंगभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ।।३९।।

(भागवत १०/८/३७-३८-३९)

दृश्यन्ते चैव कार्याणि कारणेषु मृदादिषु
घटादीनिव तस्माद्वै द्वावन्याविह स्फुटम् ।।श्रीः।।

अथ पुनः पूर्वपक्षयति- छान्दोग्ये षष्ठेप्रपाठके। असदेवेदमग्र आसीत् इति व्यपदिष्टम्। तेन असद्कारणवादः प्रतीयते? इत्यत आह-

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्।।२/१/१७।।

असच्छब्देन व्यवहारतः न ब्रह्मणः कारणवादः इति चेन्न वक्तव्यम्, तत्र धर्मान्तरेण असद्व्यतिरिक्तेन अव्याकृतनामरूपेण व्यपदेशो वर्तते। कथं? वाक्यशेषात्। वाक्यशेषे आसीदिति क्रियावर्तते। सा च सत्तां द्योतयति। तथाहि अस् भुवि। भूश्च सत्ता। तेन असच्छब्दस्य अव्याकृतनामरूपत्वर्थः। प्रलयकाले सूक्ष्मितचिदचिच्छरीरस्य ब्रह्मणः सकाशात् जगतः उत्पत्तिः।

यथा भागवते-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽविष्येत सोऽस्म्यहम् ।।

(२-९-३२)

असतो व्यपदेशाच्च ब्रह्म कारणता न चेत्।
धर्मान्तरे वाक्यशेषात् तद्धेतुत्वं सुरक्षितम् ।।श्रीः।।

"युक्तेः शब्दान्तराच्च" ।।२/१/१८।।

युक्तिरपि तावत्। न शर्कराभ्यः तैलस्योत्पत्तिः। न वा गोधूमाच्चणकम्। तस्मात् असतः सद्भवनं न युक्तिसंगतम्। किञ्च- अन्यः शब्दः शब्दान्तरं तस्मात् अन्यस्मात्शब्दादपि। सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।। सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः इत्यादि।

यथा भागवते-

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।

केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ।।

(भा० १०-३-१३)

शर्करातो न तैलं स्यात् नाकाशात् पुष्पसंचयः।
युक्तेः शब्दान्तराच्चैव ब्रह्मकारणता स्फुटम् ।।श्रीः।।

हेत्वन्तरमाह–

पटवच्च।।२/१/१९।।

पटेन तुल्यं पटवत्। यथ– पटे नन्तवः तथैव जगति ब्रह्म। यथा पटस्तन्तुतो न भिन्नः तत्रैव जगत् परमात्मनो न भिन्नः।

यथा पटादौ तन्त्वादिर्यथा तौ भेदवर्जितौ।
तथैव कारणं ब्रह्मकार्ये जगति राजते।।श्रीः।।

ननु एकमेव ब्रह्म कथं घटपटादिरूपेणानेकसंज्ञां लभते? इति जिज्ञासां परिहरन् दृष्टान्तमाह-

यथा च प्राणादि ।।२/१/२०।।

प्राणः आदिः यस्य स प्राणादि यथा हि एक एव वायुः मुखनासिका-संयोगात् प्राणः अधस्तनत्वात् अपानः नाडीमुखेषु विततनात् व्यानः, अन्नस्योर्ध्वं यनादुदानः, भुक्तस्य समुन्नयनात् समानः इत्येवं संज्ञां लभते तथैव परमात्मापि जगति भिन्न-भिन्न कार्यकरणात् भित्र-भित्र संज्ञावान् भवति।

यथा भागवते-

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा नस्योतवद् यस्य वशे च लोका ।।

(भा० ८-१-१३)

एको वायुर्यथानेकप्राणादिसंज्ञयान्वितः।
तथैवानेककार्यस्थं ब्रह्मानेकं विलोक्यते ।।श्रीः।।
आरम्भाधिकरणं द्वितीये प्रथमाश्रिगम्।
श्री राघव कृपा भाष्ये रामभद्रार्य ऊचिवान्।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।

अथेतरव्यपदेशाधिकरणम्

अथ स्वेनैव ब्रह्मणो जीवविभिन्नत्वे दोषं दर्शयति-

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।।२/१/२१।।

इतरस्य व्यपदेशः इतरव्यपदेशः। हितस्य अकरणं हिताकरणम्। तदादिर्येषां ते च ते दोषाः तेषां प्रसक्तिः। यदि जीवतो ब्रह्म इतरतव्यपदिश्येत तदा स्वहितस्य अकरणदोषः स्यात्। जीवो नरके पतति भगवान् पश्यति। एवं एकस्मिन् पक्षपातः अपरस्मिन् निर्दयता इत्यादयः दोषाः भवेयुः? अतोऽनन्यत्वमेव। सम्बन्धतः न तु स्वरूपतः।।

यथोक्तं भागवते-

एवं भवान् बुद्ध्यनुमानलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तन्तरं न त सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ।।

(भा० १०-३-१७)

इतरत् व्यपदिष्टं चेत् सम्बन्धाद् ब्रह्म जीवतः।
स्वहिताकरणदोषेण तदा संल्लिप्यातामदः ।।श्रीः।।

सिद्धान्तमाह-

अधिकं तु भेदनिर्देशात्।।२/१/२२।।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः।" इत्यादिश्रुतिभिर्भेदस्य निर्देशात् जीवतः अभिन्न सदपि ब्रह्म अधिकं। सम्बन्धेन अभिन्नता। स्वरूपेण भेदः। अधिके साकेते इत्यधिकम्।

यथा भागवते-

स्वयं त्वसांम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोट्येडितपादपीठः ।।

(भा० ३-२-२१)

भेद प्रोक्ते स्वरुपेण जीवस्य परमेश्वरात्।
विराजते त्वसाम्यत्वाद् ब्रह्म तज्जीवतोऽधिकम् ।।श्रीः।।

अपरमपि कारणमाह-

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।।२/१/२३।।

अश्मादिना तुल्यम् अश्मादिवत्। यथा अश्मनां पाषाणानां वज्रबैदूर्यादीनां पृथिव्या एकत्वम्। तथैव अचिद्वस्तुभिः अचिदत्मकता। चेतनांशस्तु विलक्षण एव। एवमेव जीवात्मना सह परमात्मनोऽपि भेदं स्वरूपतः अवास्तवं चाभेदम् कारणतः स्वीकुर्वन्ति आचार्याः।

यथा भागवते–

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ।।

(भा० ३-२६-६)

यथा भेदो न दृश्येत पाषाणबज्रयोः क्वचित्।
एवं जडानां किन्त्वीशे भेदोऽक्त्यनुपपत्तितः ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं ब्रह्मजीवैक्यबोधकम्।
सभेदं रामभद्रेण व्याख्यातं रामसेविना।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथोपसंहारदर्शनाधिकरणम् ।।

ननु कर्त्र्युपकरणसहायः कार्यं घटते कुलालोघाटकार्यं प्रति दण्डमृत्तिकादिनेव। अत्र ब्रह्मणः के सहाया, यथा शिवमहिम्नि "किमीहः किं कायः" इत्यादि इत्यत आह-

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।।२/१/२४/।।

उपसंहारः उपकरणानि। तेषां दर्शनात् कुलालस्य दण्डादेरिव ब्रह्मणो स्वरूपकरणाभावात् न कर्तृत्वरूपं निमित्तकारणत्वम्। इति चेन्न? क्वचित् उपकरणं विनाऽपि कार्यं भवति। हि निश्चयेन क्षीरवत्। अत्र सप्तभ्यर्थे वतिः। क्षीरे इव यथा क्षीरम् दुग्धं सहायनिरपेक्षं दधि भवति, तथैव ब्रह्मापि सहाय निरपेक्षं जगद् भवति। ननु दुग्धस्य दधि भवने अम्लादिसंयोगः तथैव ब्रह्मणो जगद्भवने माया संयोगः। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।।(श्वेत० ४/९) इति श्रुतेः इति चेत्! अत्र स्थूलसहाय प्रतिषेधः। यथोक्तं भागवते–

"विजितहृषीकवायुभिरदात्मनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वजिन इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ।।

(भा० १०-८७-३२)

ब्रह्मणो ह्यु-पकरणानि न दृश्यन्ते कदाचन।
क्षीरवत् न तथा वाच्यं माया तत्राम्लवत् स्थिता ।।श्रीः।।

द्रढीकर्तुं लोकोदाहरणमाह-

देवादिवदपि लोके ।।२/१/२५।।

यथा लोके देवादयः साहाय्यनिरपेक्षत्वेऽपि लोकेनेककार्यं कुर्वन्ति तर्हि देवाधिदेवः परंब्रह्म परमात्मा निजसत्यसंकल्पेन कथं न जगद्रचयेत् ।।

यथा भागवते-

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ।।

(भा० ३-३३-१२)

क्षोदिष्ठा देवता भूम्नः चमत्कारं वितन्वते।
लोके कथं न ब्रह्मेदं विचित्रां घटनां श्रयेम् ।।श्रीः।।
द्वितीये प्रथमेपादे अधिकरणं मयाभुदा।
श्रीरामभद्रविदुषा व्याख्यातं वुधतुष्टये।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।।अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्।।

अथ पूर्वपक्षद्वयमुपस्थापयति-

कृत्स्नप्रसक्ति र्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।।२/१/२६।।

अथ ब्रह्मणः उपादानकारणत्वे तस्य कृत्स्नस्य जगति प्रसक्तिः स्यात्। यथा सम्पूर्णसुवर्णपिंडं कुण्डलं भवति, न तु तदैकदेशः अतो न ब्रह्मोपादान कारणम्? एवं निमित्तकारणत्वे तस्य निरवयवत्वं यद्

"अशब्दमस्पर्शमरूपभव्यव्यम्" ।।कठ० १/३/।१५।। इत्यादि सिद्धम् तस्य निरवयवत्वं व्याकुप्येत? यतोहि- अवयवमन्तरेण न कोऽपि कर्ता कार्यं कुरुते। तस्मादत्रोभयमपि कारणं न ब्रह्म। न चोपादान कारणं न निमित्रकारणम्। इति पूर्वपक्षौ।।

यथोक्तं भागवते-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः।
संज्ञानमात्रव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः।।

(भा० ६-४-४७)

कृत्स्नप्रसक्तेरङ्गत्वहीनत्वाच्छ्रुतिकोपतः।
उपादानं निमित्तं वा न ब्रह्मेति स्म पृच्छति ।।श्रीः।।

उत्तर पक्षमाह-

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।।२/१/२७।।

तु इति पूर्वपक्षद्वयखण्डनद्योतकः। नहि तावद् ब्रह्ममणः कृत्स्नस्य प्रसक्ति न वा निरवयवत्वहानिः, कथं? श्रुतेः। श्रुतिः स्वयमपि तस्य कृत्स्नप्रसक्तिं निराकरोति-

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।। शु० य० जु० ३१/ ३ चकारात्- स्मृतेरपि विष्टम्याहमिदं कृत्स्मेकाशेन स्थितो जगत्।। गीता १०/४२।। एवं निखयवत्वमपि न व्याकुप्येत् निरययवत्वं हि निर्लीनावयवत्वम्। तस्य किं मूलम्? इत्यत आह। शब्दः वेद एवं मूलम् प्रमाणं कारणं यस्य तत् शब्दमूलम्। तस्य भावः शब्दमूलत्वम्। तस्मात् शब्दमूलत्वात् शब्दो यथा-

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम्।

यथा भागवते-

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ।।

(भा० ११-२१-३६)

कृत्स्नहप्रसक्तेः श्रुत्यैव ब्रह्मणोऽस्य निराकृतेः।
शब्दप्रमाणकत्वाच्च निरङ्गत्वं न नश्यति ।।श्रीः।।

उपपत्ति माह–

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।।२/१/२८।।

यथा जलपावकादीनामनेकाः अनेकधाः शक्तयः दृश्यन्ते तथैवात्मनि परमात्मन्यपि अनन्तशक्तयः युगपत् दृश्यन्ते। इदं श्रीमद्भागवते दशमे उत्तरार्धे नारदेन द्वारकाधीशे दृष्टम्– ।

नैवादभुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्रीजनेषु सकलेषु दमः खलानाम्।
निः श्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावताराय उरुगाय विदाम सुष्ठु ।।

(भा० १०-६८०१७)

विचित्राः खलु दृश्यन्ते शक्तयः परमात्मनि। आश्चर्यमय्यो वीर्याढया स्वाभाविक्यो विलक्षणाः ।।श्रीः।।

पूर्वपक्षे दोषमाह–

स्वपक्षदोषाच्च ।।२/१/२९।।

स्वपक्षे सांख्यपक्षे एव दोषात्। नायमस्मासु निक्षिप्यः। प्रधानकारणवादेऽपि प्रकृतेः कर्तृत्वे निरवयवस्य प्रधानस्य सावयवत्वापत्तिः। अस्माकं तु श्रुतिबलात् परिहृतः, किन्तु त्वं कस्य भवनं द्रक्ष्यसि।यथा भागवते–

जय जय जह्यजामजितदोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ।।

(भा० १०-८७)

तवैव पक्षे दोषः स्यात् प्रधाने सांगता ननु।
तस्याश्च कारणत्वे वै मत्पक्षे शरणं श्रुतिः ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मणः सर्वशक्तिमत्वं प्रदर्शयति-

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्।।२/१/३०।।

अस्माकं श्रीरामब्रह्माख्यपरदेवता सर्वाभिः शक्तिभिः उपेता सर्वोपेता

शाकपार्थिवादित्वात् मध्यमपदलोपः। हि निश्चयेन तद्दर्शनात् तथैव दृश्यते श्रुताः परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च। (श्वे० ६/८)

यथा भागवते–

कोवेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथंवा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ।।

(भा० १०-१४-११)

सर्वशक्तिसमायुक्ता श्रीरामाख्या हि देवता।
वेदवेदान्तवेद्या च श्रुतिसंगीतवैभवा ।।श्रीः।।

पुनः पूर्वपक्षं कृत्वा समाधत्ते-

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।।२/१/३१।।

विगतं करणम् उपकरणं यस्मात् तद् विकरणं तस्य भावः विकरणत्वं तस्मात् विकरणत्वात्, ब्रह्म उपकरण हीनत्वात् न निमित्त कारणं, इति चेन्न? इत्यं न वाच्यम्। तदुक्तम् तस्य उत्तरम् उपसंहाराधिकरणे उक्तम् यत् करणं निरपेक्षमपि ब्रह्मनिजसत्यसंकल्पबलेन सर्वां सृष्टिं रचयितुं प्रभवति।।

यथा भागवते–

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः।।

(भा० १०-१०-२९)

उपकरण विहींनं तत् कथं स्रष्टीति भाषितम्।
सत्यसंकल्पतस्तत्तु जगद्रचयितुं क्षमम् ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं ब्रह्मशक्त्युपबृंहितम्।
श्रीरामभद्रविदुषा व्याख्यातं प्रीतये हरे।।

।।अथ प्रयोजनवत्वाधिकरणम्।।

न प्रयोजनवत्वात् ।।२०/१/३२।।

ननु प्रयोजनमेनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते इति नियमात् किं प्रयोजनकं ब्रहम सृष्टिं करोति? अतो मोघैव तस्य सृष्टिः। यद्वा ब्रह्मसृष्टिनिरर्थिका इति चेन्न, प्रयोजनवत्वात्। प्रयोजनं प्रेरणं प्रेरणार्थं सृष्टिं करोति कुर्वन्नवेह कर्माणि

जिजीविषेत। इत्येव जीवस्य कृते प्रयोजनम्।।

यथा भागवते–

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया।।

(भा० ३-२६-४)

जीवानां प्रेरणार्थञ्च वेदोक्तेषु स्वकर्मसु।
लीलया कुरुते सृष्टिं प्रयोजनवतीं हरिः ।।श्रीः।।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।।२/१/३३।।

तु शब्दोः पूर्वपक्षनिरासार्थः। यथा लोके पूर्णकामोऽपि भूपतिः कंदुकेन क्रीडति तथैव ईश्वरस्य लीलैव सृष्टेः प्रयोजनम्। केवलमेव कैवल्यम् लीलैव कैवल्यम् इति लीलाकैवल्यम्। यद्वा सगुणलीलायां भगवद्विमुखानां राक्षसानां कृतेऽपि कैवल्यम् ।।यथोक्तं भागवते–

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ।।

(भा० ३-७-२०)

पूर्णकामो यथालोके कन्दुकैः क्रीडति स्फुटम्।
एवं सृष्टिं हि कुरुते लीलाकैवल्यवान् हरिः ।।श्रीः।।

नन्वेवं सर्वतन्त्रस्वतन्स्य क्वचित् सुखदातृत्वेन क्वचित् शोचयितृत्वेन निर्दयता? इत्यत आह–

वैषम्यनैर्घृण्ये च सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।।१/१/३४।।

वैशम्यञ्च नैर्घृण्यञ्च वैशम्यनैघृण्ये इमे तस्य नहि, कथं? सापेक्षत्वात् कर्मसापेक्षत्वात्। ईश्वरः कर्माण्यपेक्ष्य सुखं दुःखञ्च ददाति। एवमेव श्रुतिः दर्शयति– पापेन पापः पुण्येन पुण्यः। यथोक्तं भागवते–

यथा भागवते–

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ।।

(भा० ३-७-६)

वैषम्यं च नैर्घृव्यं न घटेते खरद्विषः।
कर्मतन्त्रं समापेक्ष्य जीवानां कुरुते जगत् ।।श्रीः।।

अथ सृष्टेः कथं कर्मसापेक्षत्वम्? इत्यत आह–

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।।२/१/३५।।

सृष्टेः प्राग् कर्मणां अविभागात् न सृष्टिः कर्म सापेक्षा इति चेन्न? बीजांकुरन्यायेन कर्माणामनादित्वात्। एवमेवोपलभ्यते पूर्वजन्मादिव्यवहारात् एवमेवोपपद्यते च नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां इत्यादिना।

यथोक्तं भागवते–

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते ।।

(भा० ३-९-४३)

सृष्टेश्च पूर्वं जनकर्मणां वै न वा विभागो न कदापि वाच्यम्।
कर्माण्यनादीनि तथैव लोके सन्दृश्यते चाप्युपपद्यते च ।।श्रीः।।

किञ्च ब्रह्मणः कारणवादे चरमं हेतुमाह–

सर्वधर्मोपत्तेश्च ।।२/१/३६।।

प्रकृति कारणतायां येषां धर्माणाम् अनुपपत्तिः प्रतिपादिता। ते सर्वे अत्र उपपद्यन्ते सर्वशक्तिमत्वात्। निरवयत्वव्याकोपहानिः।

यथोक्तं भागवते-

समः प्रियः सुहृद ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ।

(भा० ७-१-१)

अनपेक्षितसाधनं क्षणात् सकलं विश्वमिदं सृजत्यहो। तमहं समशक्तिमण्डितं कलये ब्रह्म रघूत्तमं हरिम्।। सर्वोपपत्तिनामेदमधिकरणं प्रभाषितम्। ।।श्रीरामभद्राचार्येण प्राप्तये शार्गधन्वनः।। इत्येवं प्रथमःपादोऽविरोधाध्याय ईरितः। श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रेण धीमता।।श्रीः।।

इति श्रीबादरायणकृतौ ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमपादः।।

।। अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।।

मंगलाचरणम्

अद्वितीयं चाप्रमेयं वेदवेद्यं परात्परम्।
चिदचिच्छरीरकं ब्रह्म रामं सेवे द्वितीयके ।।१।।
अय द्वितीयेपादे तु परेषां शास्त्रयुक्तिभिः।
मतानि च निराकृत्य स्वमतं स्थाप्यते दृढम् ।।२।।
पूर्वं सांख्यं ततश्चैव न्यायवैशेषिकावपि।
ततो बौद्धञ्च जैनञ्च मतमत्र विखंड्यते ।।३।।
अनन्तर्भाविता चास्ति व्यासाद्वै बौद्धजैनयोः।
किन्तु व्यासस्त्रिकालज्ञः ततः पूर्वं निराकृतिः ।।४।।
तत्रपूर्वं च दशभिः सूत्रैः सांख्यनिराकृतिः
वेदव्यासेन क्रियते युक्तिभिश्चोपपत्तिभिः ।।५।।

।। अथ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ।।

पूर्वस्मिन् पादे स्वमतप्रतिपादनार्थं वैदिकप्रमाणानि दत्तानि। साम्प्रतं युक्तिभिः सांख्यमतम् निराक्रियते।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।।२/२/१।।

न अनुमानं नानुमानम्, न आनुमानम् वा नानुभानम्। इति द्वेधा पदच्छेदः। प्रथमपक्षे मत्वर्थीयः अच्, अनुमानं प्रमाणमस्तस्य इत्यनुमानम्। द्वितीयपक्षे अनुमाने भवमानुमानम्। रचनाया अनुपपत्तिः सिद्धिः इति रचनानुपपत्तिः तस्याः रचनानुपपत्तेः असिद्धेः श्रुतिविरोधाच्च। अनुमानप्रमाणकम् अनुमानप्रसवं वा प्रधानं न जगत् कारणम्। जगतो विचित्रा रचना। सा च चेतनमन्तरेण नोपद्यते। किञ्च - सुखदुःखमोहात्मकं जगत् विचित्राजीवाः। प्रत्येकं विचित्रः स्वभावः। इदं सर्वं केवलमघटितघटनापटीयसीमहामायानटी, सूत्रधारः कौसल्याकुमार एव कर्तुं प्रभवति।यथा भागवते–

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ।।

(भा० ३-२६-१९)

जगद्विचित्रा रचना नोपपन्ना हरिं विना।

ततः प्रधानं नो हेतुरनुमानप्रसाधितम् ।।श्रीः।।

हेत्वन्तरमाह-

प्रवृत्तेश्च ।।२/२/२।।

पूर्वसूत्रात् समासैकदेशभूतोऽपि अनुपत्तेः इति शब्दोऽनुवर्ततते अनुमानेन इत्येपि चकस्त्तथार्थः अप्यर्थो वा। तथा प्रवृत्तेः अनुपन्नः प्रवृत्तेः अनुपपत्तेः अपि वा अनुमानं न जगत्कारणम्। अचेतनस्य प्रधानस्य जगद्रचनायाः प्रवृत्तेरपि अनुपपत्तिः। कोऽपि क्वापि ज्ञात्वैव प्रवर्तते। यदि भवता अचेतनप्रधानं किमपि जानत्येव नहि जीवानां शुभाशुभ कर्मजातम्। अरे! तदर्थं किमर्थं प्रवर्तेत। अतः तन्न जगत्कारणम्।यथोक्तं भागवते-

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन ।।

(भा० १०-१४-५६)

शुभाशुभानि विज्ञाय हरिः सृष्टौ प्रवर्तते।
अचेतनं प्रधानं नो जगद्धेतुस्ततो न तत् ।।श्रीः।।

ननु तस्य चेतनारहितस्यापि प्रवृत्तिः दुग्धजलादिवत्। यथा - गोर्दुग्धं स्वयमेव क्षरति। स्वयमेव च जलं वहति, तथैव अचेतनमपि प्रधानं स्वयमेव सृष्टि रचनायां प्रवर्तते। इत्यत आह-

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ।।२/२/३।।

इह रचनाशब्दं विहाय पूर्वसूत्रद्वयमनुवर्तते। वतिप्रत्ययश्च षष्ठ्यर्थे। समासश्च पयश्च अम्बुच पयोऽम्बुनी तयोः इव इति पयोऽम्बुवत्। पयोऽम्बुनोरिव प्रधानस्यापि प्रवृत्तेः अनुमानं जगत्कारणमिति चेत? आह तत्रापि। तच्छब्देन पयोऽम्बुनी परामृश्येते। अत ओसर्थे त्रल्। 'तयोः' इति 'तत्र। तयोः पयोऽम्बुनोरपि चेतनमस्ति। किञ्च- पयः पार्थिवम्। अम्बु जलम्। द्वयोरपि चेतनसद्भावस्य श्रुत्या कथितत्वात्। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो (वृ० ३/७/३) योऽप्सुतिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो (बृ० ३/७/४) इति श्रुतेः।

यथा भागवते-

सर्वेषाममपिवस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम् ।।

(भा० १०-१४-५७)

पयोऽम्बुवत् प्रवृत्तिश्च प्रधाने नैव कल्पेताम्।
तयोरपि परब्रह्म ह्यन्तर्यम्प्रवर्तकम् ।।श्रीः।।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।।२/२/४।।

व्यतिरेकः अभावः , यद्वा कारणव्यतिरेकः कार्यम्। कार्यव्यतिरेकः कारणं च। तस्य कारणस्य कार्येऽवस्थित्या भवितव्यम्। यदि तु चिदचिदात्मकजगति प्रकृतेः अनवस्थानात् न तत् कारणम्। कथम्? अनपेक्षत्वात्। प्रधानं न किमप्यपेक्षते, न वा केनापि अपेक्षितं भवति। ब्रह्म तु जगदपेक्ष्यम्। जगच्च ब्रह्मापेक्षम्। अतो ब्रह्मैव तत्कारणम्। यद्वा अव्याकृतं प्रधानं जगत्कारणम्। तद्व्यतिरिक्तम् व्याकृतं जगत्। तस्मिन् व्याकृते व्यतिरेकात्मनि जगति अव्यतिरिक्तं प्रधानं नास्ति। तदेव जगद् भवति सम्पूर्णम् भवन्मते। तदसंगतम्। कारणेन कार्यव्यतिरिक्तेन भवितव्यम्। ननु भवतु नाम पुरुष एव कारणम्? इति चेदाह- अनपेक्षत्वात्। कार्यकारणं हि कार्यमपेक्षते। पुरुषस्य तु अनपेक्षत्वम्। अतोऽपि न सांख्याभिमता कारणता।

यथोक्तं भागवते-

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।।

(भा० ३-२६-३)

व्यतिरेकाच्च कार्येभ्यः तथालोकेऽनवस्थितेः।
अपेक्षाभावतश्चापि न सांख्योक्तं हि कारणम् ।।श्रीः।।

ननु यथा गोभक्षितं तृणं स्वयमेव तृणं भवति, तथैव इतरसामग्रीनिरपेक्षं कारणं कार्यं भवतु? इत्यत आह-

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।।२/२/५।।

चकारः पूर्वपक्षनिरासार्थः। अन्यत्र अभावाद्धेतोः तृणादिवत् कारणं नानपेक्षम्। प्रसूतायां गवि तद्भक्षितं तृणं दुग्धरूपं विपरिणभ्यते नाप्रसूतायां नापि वृषभादौ। अतस्तत्रापि कोऽपिं चेतनः। स च परमात्मैव। यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वभूतेभ्योऽन्तरो इदं सर्वभूतानि न विदुः (बृह० ३/७/१५) इति श्रुतेः।

यथा भागवते-

एते वयं यस्य वशे महात्मनः स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः।

महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः सृजाम. सर्वे यदनुग्रहादिदम् ।।

(भा० ५-१७-२३)

साधनंचानपेक्ष्यैव न तृणादिवदेव तत्।
दृष्टान्तस्यैकदेशित्वात् अन्यत्राभावदर्शनात् ।।श्रीः।।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।।२/२/६।।

अपरोऽपि हेतुः, कस्मिंश्चिदपि कार्ये अंगागिभावमपेक्षते। यथा घटादिकार्ये कुलालः अङ्गी दण्डादिकमङ्गम्। भावमन्तरेण सृष्टिर्नभवति। तथात्र न संभवः। गुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृतिः सा च चैतन्यमन्तरेण न प्रच्यवेत्। प्रच्युतिं विना न वैषम्यम्। वैषभ्यं विना च नाङ्गाङ्गिभावः तं विना न सृष्टिः? इति चेत्? पुरुषसन्निधानेन वैषम्यं, तदातु सातत्येनांगित्वे निरन्तरः स्यात् सृष्टिप्रवाहः। इति सर्वमब्रह्मण्यम्। यथा च भागवते-

त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां, प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां, परायणं नौरिव मज्ज लोऽप्सु।।

(८/१७/२८)

अंगागिभाव धर्मस्यसर्वथानुपपत्तितः।
प्रकृतिर्नो जगद्धेतुस्तत्र तस्याप्यसम्भवात् ।।श्रीः।।

अथ पुनः पूर्वपक्षमुत्थाप्य समाधत्ते-

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।।२/२/७।।

पुरुषः – पङ्गवादिः अश्म – अयस्कान्तिनामा पाषाणः, पुरुषश्च अश्मा च पुरुषाश्मानौ ताभ्यां तुल्यं पुरुषाश्मवद्। यथापुरुषः पङ्गुः कश्चिद् गचचक्षुष्कं मार्गे प्रवर्तयति यथा अयस्कान्तमणिः स्वसन्निधानेन इतरदाकर्षति ताभ्यां तुल्यं पुरुषोऽयं अचेतनमपि निजसमीपस्थं प्रधानं प्रवर्तयेदिति चेत् तथापि तत्र दोषतादवस्थ्यम् पुरुषप्रवर्तकत्वे प्रधानस्य स्वातन्त्र्यभंगः पुरुषस्य चाकृतित्वहानिः निर्लेपभंगश्च।

यथोक्त भागवते-

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते

।।१/३/३४

नरयस्कान्तमणिवत्पुमान् कर्षेदचेतनम्।
दोषस्तथापि तस्यास्तु स्वातन्त्र्यादि विनश्यति ।।श्रीः।।

पुनः पूर्वपक्षं समुत्थाप्य उत्तरयति-

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।।२/२/८।।

ननु गुणाः चञ्चलाः अतः स्वयमेव सृष्टिः प्रवर्त्यताम् एवं न सम्भवं तेषु ज्ञातृत्वशक्तेरभावात् गुणेषु तथा सृष्टिं कर्तुं न शक्ता। यथोक्तं भागवते-

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्
।। ३/५/२६

चञ्चलत्वाद् गुणानान्तु तैः कथं सृज्यतां जगत्।
अचेतनत्वाज्ज्ञशक्तिर्न तेषामिह विद्यते ।।श्रीः।।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावः ।।२/२/९।।

यदि चेत् तुष्यद्दुर्जनन्यायेन" यावत्खण्ड्यते तावत्तावकीनमेव पक्षं मत्वा प्रधाने जगत्कर्तृत्वमारोप्येत तथापि दोषः? को दोषः? अर्थाभावः। अर्थः प्रयोजनम्। अत्र पृष्टव्यम्। केन प्रयोजनेन प्रधानं सृष्टौ प्रवर्तेत अचेतनत्वात् न तस्मिन् शुभाशुभकर्मज्ञानं जड़त्वाच्च न तस्मिन् कापि लीलाचिकीर्षा। सर्वतोऽविवेकित्वात् न तस्मिन् बुभुक्षा न वा तस्मिन् मुमुक्षा। इति चेत्, पुरुषार्थं तर्हि असंगस्य पुरुषस्य किमनया सृष्ट्या अतः प्रधानकारणवादः निर्मूलः निर्युक्तिकः।। यथोक्तं भागवते-

भाषयत्येष सत्वेन लोकान् वै लोकभावनः
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु
।।१/२/३४

अथाभ्युपगमे पक्षे नास्याः सृष्टौ प्रवर्तनम्।
जडत्वादविवेकित्वादज्ञत्वादर्थभाग्न सा ।।श्रीः।।

निष्कर्षमाह खण्डनस्य-

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।।२/२/१०।।

प्रथमसूत्रात् अनुमानमित्यनुवर्तते। विप्रतिषेधः परस्परं विरोधः। चकारः

निष्कृष्टसूचकः। निष्कर्षतः सिद्धान्तानां परस्परं विरोधात् अनुमानमसमञ्जसम्। किञ्च अचेतना सती प्रकृतिः कर्त्री। तत्रत्यः पुरुषोऽपि पंगुरिव। क्वचित् प्रकृतेर्मोक्षः क्वचित् पुरुषस्य। सर्गोऽपि नैकतः क्वचित् प्रकृतेः क्वचिन्महतः क्वचिदहंकारात् क्वचित्तन्मात्राभ्यः अत एव सर्वकारणं सर्वान्तयामी सर्वसर्वेश्वर श्रीसीतारामाख्यं ब्रह्मैव इति श्रौतसमयः।

यथोक्तं भागवते–

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च सुषन्,
भजीत सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभागः
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः

।।१०/८७/३८ ।।

परस्पर विरोधाच्च सिद्धान्तानामनेकशः।
जगत्कारणवादे तु न प्रधानं विधीयते ।।श्रीः।।
प्रथमञ्चाधिकरणं साख्यसिद्धान्तखण्डकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये हरेः।।

।।श्रीराघव शंतनोतु।।

।। अथ महद्दीर्घाधिकरण् ।।

अथ सूत्रसप्तकेन काणादगौतम सम्मतस्य परमाणुकारणवादस्य निरासः–

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।।२/२/११।।

वा चकारार्थः। एवार्थो वा। ह्रस्वो द्व्यणुकः। परिमण्डलं परमाणुः ह्रस्वश्च परिमण्डलञ्चह्रस्वपरिमण्डले ताभ्यां ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां-करणे तृतीया। महच्च दीर्घश्च महददीर्घौ। तयोरिवेति महद्दीर्घवत् ताभ्यां तुल्यं वा। पूर्वसूत्रात् असमञ्जसमित्युनवर्तते। अन्यत् इति अध्याह्रियते। ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां महददीर्घो परमाणुभ्यां महद्दीर्घवद् महद्दीर्घयोरिव उत्पत्तिरिव अन्यदपि परमाणुकारणवादरूपम् प्रतिपादनमसमञ्जसम्। नैयायिकाः वैशषिकाश्च पृथिवीजलतेजोवायूनां परिमाणून् नित्याननुमन्यन्ते। तत्र जीवानाम् अदृष्टेन ईश्वरेच्छया वा परमाणुषु स्वयं संयोगात्मककर्म जायते। तत्र परमाणवः समवायिकारणत्वम् संयोगोऽसमवायिकारणत्वम्, ईश्वरेच्छादि निमित्तकारणत्वं भजते। द्वौ अणू

संयुक्तौ द्व्यणुकं रचयतः त्रिभि द्व्यणुकैः त्र्यणुकं चतुर्भिश्च चतुरणुकं एवं ह्रस्वेन परिमण्डलेन च महद्दीर्घात्मकं जगदुत्पद्यते। इदमसमञ्जसम्। कारणगुणाः कार्येषु दृश्यन्ते। यथा मृत्तिकायाः घटे। तथा परमाणुगुणाः जगति कथं न दृश्यन्ते। यदि चैत्? पारिमाण्डल्यं जगति दृश्येत तदा तदप्यत्यन्तं सूक्ष्मं स्यात्। किञ्च- परमाणवो निरवयवाः अत एव नित्याः इदमेव नित्यत्वं। यदि जगत्याविर्भवेयुः तदा घटादेर्ध्वंस एव न स्यात्। इति सर्वमसमञ्जसम् तथैव अन्यदप्यसमञ्जसम् बोध्यम्।

यथोक्तं भागवते–

अविद्यामनसा कल्पितास्ते, येषां समूहेन कृतो विशेषः
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहयद् असच्च सञ्जीवमजीवमन्यत्

।।५/१२/९

द्व्यणुकात्परमाणुना यथा जनितं जातु महत्सुदीर्घवत्।
असमञ्जसमन्यदप्यहो निखिलं हेतु विडम्बनं तथा ।।श्रीः।।

अथासामञ्जस्यं विवृणोति–

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ।।२/२/१२।।

उभयेन प्रकारेण इत्युभयथा। परमाणुवादिनां मते सृष्टौ प्रलये च परमाणुषु स्वयमेवात्मकं कर्म उत्पद्यते। तच्च निमित्तनिरपेक्षम्। तदसम्भवम्। तेषामेव परमाणूनां निश्चलत्वम्। तत्र कथं कर्म। न खल्वङ्कुरंबीज निरपेक्षं भवति। न च अदृष्टतः कर्मोत्पत्तिरिति वाच्यम्। तत्र तेपामत्यन्ताभावात्। न च जीवानामदृष्टानि सन्तीति वाच्यम्। तन्निष्ठत्वेन तेषामत्र समागमनासम्भवात्। अतः अस्माद्धेतोः तदभावः। परमाणूनां जगत्कारणस्य तदभावः।

यथोक्तं भागवते–

परमाणुपरममहतोस्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः।
आदावन्तेऽपि च सत्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि।

(६/१६/३६)

उभयत्र विनैव चेतनं जनने च प्रलये च जीविनाम्।
कुशलं किमु कर्म सम्भवेत् न हि हेतुः परमाणवस्ततः ।।श्रीः।।

किं च केन सम्बन्धेन अणूनां अणुभिः सम्बन्धः केन सम्बन्धेन च द्व्यणुकानां त्र्यणुकानां च सम्बन्धः? स चं सम्बन्धः समवाय एव। इति चेत्! तर्हि स

एव न सिद्ध्यति। पुनस्तदाश्रितस्य परमाणुकारणवादस्य का कथा। इत्यत आह–

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।।२/२/१३।।

अभ्युपगमो नाम अस्वीकृतिः। समवायस्याभ्युपगमः समवायाभ्युपगमः तस्मात् समवायाभ्युपगमात्। यदि समवायम् अभ्युपगच्छन् साधयितुमीहसे परमाणुकारणवादम्, तदा दोषद्वयम्। प्रथमं अयुतसिद्धयोरेव समवायसम्बन्धे भवति। तत्र ययोरेकमविनश्यत् अपराश्रितं तत्रौवायुतसिद्धः। यथा घटस्य कपालेन। तत्र केन सम्बन्धेन घटःकपालेन सम्बद्ध्यते? यदि चेत् समवायेन, तर्हि समवायस्य सिद्धौ समवायाश्रयणे आत्माश्रयः। स्वरूपसम्बन्धेन चेत्? तर्हि साम्यात् समवायस्यापि समवायान्तरम्। एवं द्वितीयस्य, तृतीयस्य, चतुर्थस्य सर्वेषां च समवायत्वस्वीकारे विपुलसम्बन्धस्वीकारे अनवस्था।

किं च अनवस्था बीजं चेत्थम्। सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवति। समवायसम्बन्धोऽपि कारणं वर्तते। यथा गुणगुणिनोः समवायसम्बन्धः ताभ्यां पृथक् तत् साम्यादेव समवायस्यापि कश्चन समवायसम्बन्धः अपरः, तस्याप्यपरः। एवं यः यः समवायसम्बन्धः कल्पयिष्यते तस्य तस्य समवायसम्बन्धान्तरं इत्यनवस्थादोषः। यथोक्तं भागवते–

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः।।

(५/१२/९)

समवायमबलं समाश्रितो यदि धत्से परमाणुहेतुताम्।
समवायमहो न सिध्यति किल साम्यादनवस्थितेरिदम् ।।श्रीः।।

समवायसम्बन्धस्वीकारे अपरोऽपि दोषः। अत आह–

नित्यमेव च भावात् ।।२-२-१४।।

सम्बन्ध-नित्यत्वे सम्बन्धिनोऽपि नित्यत्वम्। यदि समवाय सम्बन्धो नित्यः? तर्हि तत्सम्बन्धिनौ द्वयणुकावपि नित्यौ। तन्नित्यत्वे तत्कार्यभूतं जगदपि नित्यम्। अतः समवायो भावः नित्यः तस्य नित्यत्वस्य भावात् जगदपि नित्यमेव।यद्वा समवायस्य नित्यत्वे द्व्यणुक संयोगोऽपि नित्यः, तत्कृता सृष्टिरपि नित्या। यदि निवृत्तिः? तर्हि तद् विभागोऽपि समवायसम्बन्धेन तस्य नित्यत्वे प्रलयस्य नित्यत्वात् कदाप्यनुपलम्भात् सृष्टेः महानुपद्रवः। ततो न समवाय सिद्धः। यथोक्तं भागवते–

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै यद् यो यथा कुरुते कार्यते च।
परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ।।६/४/३०

समवायस्य नित्यत्वे ध्रुवा सम्बन्धिनित्यता।
तन्मूलसृष्टिनित्यत्वे महानेष उपद्रवः ।।श्रीः।।

किं च परमाणूनां रूपादिमत्वेऽपि महान् दोषः। रूपादिमन्तो हि परमाणवः, तद्रूपस्य तदा तत्कार्येषूपलब्धिः इत्यत आह–

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।।२/२/१५।।

रूपादिमत्वादपि हेतोः तदभावदर्शनात् विपर्ययः– इति सूत्रान्वयः। परमाणूनां रूपादिमत्वादपि हेतोः तेषां कारणत्वाभावः यद्यत् रूपादिमत् तत्तत् सावयवम्। परमाणूनां रुपादिमत्वे सति निरवयवत्वं स्वीकृतम्। यदि निरवयवाः तर्हि न रूपादिमन्तः। यदि रूपादिमन्तस्तरर्हि न निरवयवाः। अथ सावयवत्वे हानिः का? इति चेत्! यत् सावयवं तत् अनित्यं भवति। अतस्तेषामनित्यत्वापत्तिः। तस्मात् न परमाणवः कारणतां भजन्ते।यथोक्तं भागवते–

यदा क्षितावेव चराचरस्य विदाम निष्ठां प्रभाव च नित्यम्
तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूढ्यं निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेययम्।५/१२/।

यदि रूपयुता निरूपिता भवहेतौ परमाणवस्तव।
तदलं गतदेहताभिदा सतनुत्वे तदनित्यताक्रमः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाहे–

उभयथा च दोषात् ।।२/२/१६।।

उभयेनापि प्रकारेण दोषः। यदि निरवयवत्वरक्षणाय रूपादिमत्वं हीयेत तदा कारणगुणानुपपत्तौ संसार एव शुक्लादिरूपवान्न स्यात्। यदि च निरवयवत्वं त्यज्येत तदा सावयवत्वात् अनित्यत्वप्रसंगः। अतोऽसंगतोऽयं परमाणुकारणवादः। यथोक्त भागवते–

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ।।
।।२०/१४/२२।

परिमण्डलरूपहानितो न घटा कारणतानिरङ्गतः।

अथ सावयवत्वमिष्यतां परमाणौ तदहो ह्यनित्यता ।।श्रीः।।

निष्कर्षमाह–

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।।२/२/१७।।

किं च अन्येषां पक्षाणां तु यत्र क्वापि स्मृतौ ग्रहणं वर्ततेऽपि, परन्तु दौर्भाग्यात् परमाणुवादस्य तु केनापि स्मृतिकृता न परिग्रहणं कृतम्। तस्मात् एतस्य अत्यन्तमनपेक्षा कार्या।यथा भागवते वसुदेवचनमे्–

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।

विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् ।।१०/३/१८।।

अन्ये च वादाः गदिताः कदाचित्क्वापि स्मृतौ केनचिदादरेण।
दौर्भाग्यतोऽयं परमाणुवादः न क्वापि प्रोक्तः समुपेक्ष्यतेऽतः ।।श्रीः।।

द्वितीयं चाधिकरणमणुकारणताक्षयम्।
द्वितीये रामभद्रेण व्याहृतं प्रीतये हरेः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ समुदायांधिकरणम्।।

"अथास्मिन्नधिकरणे बौद्धञ्चावैदिकं मतम्।
निराकर्तुं प्रयतते भगवान् बादरायणः।।
वैभाषिकश्च प्रथमः सौत्रान्तिक इतीतरः।
योगाचारस्तृतीयोऽथ तुर्यो माध्यमिको मतः।।
प्रत्यक्षेणानुमानेन सिद्धमर्थकदम्बकम्।
क्षणप्रध्वंसनं प्राह बौद्धो वैभाषिकोऽबुधः।।
बाह्यमाभ्यन्तरं चैव क्षणप्रध्वंसि मन्यते।
अनुमेयं ह्यर्थजातं बौद्धः सौत्रान्तिकोऽश्रुतः।।
बाह्यान्तरं ह्यर्थजातं विज्ञाने कल्पितं समम्।
आन्तरे स्वप्नवत् प्राह योगाचारस्तृतीयकः।।
सर्वशून्यत्वमेवाह स्वात्माराधनतत्परः।
बौद्धो माध्यमिकस्तूर्यो नास्तिकोऽबुधसम्मतः।।

समुदायद्वयं तत्र विख्यातं सौगते नये।
बाह्यं भौतिकसृष्ट्याढ्यं आन्तरं चैत्तिकान्वियुतम्।।
बाह्यस्य कारणं प्राहुः परमाणूंश्च सौगताः।
आन्तरस्य तु हेतुत्वे पञ्चस्कन्धं स्वकल्पितम्।।
रूपं तथैव विज्ञानं वेदनेति तृतीयकम्।
संज्ञां तथैव संस्कारं पञ्चस्कन्धमितीरितम्।

तत्र समुदायद्वये कारणवादे प्राह–

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।।२/२/१८।।

उभयं परमाणु स्कन्धं हेतुर्यस्य तथा भूते बाह्यान्तरे समुदायेकारणत्वेन स्वीकृते तदभावः। कथं? इत्यत आह- तदप्राप्तिः। तयोः कारणत्वस्य क्षणिकत्वात्।

यथोक्तं भागवते–

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि।।
कारणत्वं यदि ब्रूषे समुदाये द्वे हेतुके।
क्षणिकत्वात्तदप्राप्ते हेत्वभावस्तयोरपि ।।श्रीः।।

ननु इतरस्य इतरस्मिन् प्रत्ययात् उपपादयितुं शक्यते। अत आह-

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न

संघातभावानिमित्तत्वात् ।।२-२-१९।।

एकस्य एकस्मिन् प्रत्ययेन समुदायस्य उपपत्तिः।इति चेन्न! प्रत्ययोपपत्तौ हि संघातो निर्मातुं न शक्यते। स तु समुदितैरेव निर्मातव्यो भवति। न हि दण्डस्य प्रतीत्या कुलालो घटं रचयितुं प्रभवति। न वा मृत्तिकायां नष्टायां तत्प्रतीत्या घटो भवति। यथोक्तं भागवते–

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्
।।२/९/३४

एकैकस्य प्रत्ययाच्च समुदायस्थितिर्यदि।
तथापि समुदायोऽसौ न शक्यो मिलितैर्विना ।।श्रीः।।

किं च क्षणिकत्ववादे क्षणे क्षणे पदार्थो नश्यति। पूर्वक्षणघटः उत्तरक्षणे नश्यतीति क्षणमात्रस्थायित्वेन कथं स्यात् व्यवस्था। इत्यत आहे-

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।।२/२/२०।।

किं च उत्तरक्षणे द्रव्योत्पत्तौ पूर्वक्षणस्य निरोधेन समुदायोत्पत्तेसिद्धिः। न हि एकेनैव क्षणेन किमपि वस्तु रचयितुं शक्यम्। यथोक्तं भागवते-

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्वतः

।।२/५/१४।।

क्षणप्रध्वंसवादेऽपि समुदायो न सिध्यति।
पूर्वपूर्वनिरोधत्वादुतरोत्तरनिर्मितौ ।।श्रीः।।

अथ स्यान्नाम न किमपि कारणम्। अहेतुकं जगत् तथा च गीतासु-

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्पसरम्भूतं किमन्यत्काम हेतुकम् ।।

(गीता० १६-८)

इत्यत आह-

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।।२/२/२१।।

कारणे अविद्यमाने प्रतिज्ञोपरोधः। तवैव प्रतिज्ञा वर्तते यत् विषयसंस्कारादिहेतूनपेक्ष्य रूपविज्ञानादिकं जायते। इयं प्रतिज्ञा उपरुद्ध्येत। ननु भवतु नाम यावत् कार्योत्पत्तिं कारणामित्यनेन यौगपद्यम्। कारणात् कार्यस्य कदापि साहचर्य न दृष्टमिति महाननर्थः।यथोक्तं भागवते-

अथापतद् भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात्।
जयशब्दो नमः शब्दः साधुशब्दोऽभवद् दिवि।

(१०/८७/३६)

अविद्यमाने हेतौच प्रतिज्ञैवोपरुध्यते।
यावदुत्पत्ति चेद्धेतुर्युगपत्कार्यकारणे ।।श्रीः।।

किं च क्षणिकवादे तवैव मतं दूषितं भविष्यति। किं तत्? अतः कथयति-

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।।२/२/२२।।

यतो हि त्वन्मते त्रयाणामेवाविनाशित्वम्। प्रतिसंख्यानिरोधस्य अप्रतिसंख्या निरोधस्य, आकाशस्य च अविनाशित्वम्। तत्राकाशस्य अभावत्वखण्डनं करिष्यमाणं वर्तते। साम्प्रतं निरोधद्वयस्य खण्डनं क्रियते। बुद्धिपूर्वकः सहेतुकभावविनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः। निसर्गतो विनाशोऽप्रतिसंख्यानिरोधः। अनयोर्द्वयोरप्याप्राप्तिः। कथं? अविच्छेदात्। सन्तानपरम्परायाः निरन्तरमवच्छेदात्। इदं न सम्भवम्। यतो हि क्षणिकवादस्य परम्परा प्रवाहरूपिणी। अतः त्वच्छस्त्रं त्वामेव छिनत्ति। यथोक्तं भागवते–

आत्मन भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम्।
आत्मशःक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः

।।२/५/५।।

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधभावो न सम्भवति।
सन्तानाविच्छेदात् क्षणिकत्वं ते ततो दुष्टम् ।।श्रीः।।

अपरमपि पक्षमाहे–

उभयथा च दोषात् ।।२/२/२३।।

तव मते उभयतः दोषः। निरोधद्वये अविद्यायाः अपि निरोधः इति न लपितुं शक्यः। तन्निरोधे सहेतुकविनाशे त्वत् प्रतिज्ञाभङ्गः निर्हेतुविनाशे उपदेशवैयर्थ्यम्। अतः व्यर्थोऽयं क्षणिकवादः। यथोक्तं भागवते–

वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरूधो द्रमाः।
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः

।।३/१०/१९।।

स हेतुके विनाशे ते प्रतिज्ञैवोपरुध्यते।
अहेतुके विनाशे च उपदेशो निरर्थकः ।।श्रीः।।

किं च आकाशस्य निरुपाख्यत्वं न वरम्। तस्य अबाधितप्रतीतिविषयत्वात्। अत आह–

आकाशे चाविशेषात् ।।२/२/२४।।

आकाशेऽपि अविशेषात् न निरुपाख्यता। केभ्यो विशेषः? पृथिव्यादिभ्यः। पतत्रिणः पतन्ति। यानादिकं गच्छति, इत्यादि दर्शनेन सूर्यादीनां कोटिकोटिनक्षत्रमण्डलानां सद्भावात्। कथं तदभावः। यथोक्तं भागवते–

तामसाच्च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्य चोदिताम्।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ।।

३/२६/३२

अन्यसाधारणाद्धेतोः सूर्यादीनां प्रकाशनात्।
अवकाशाच्च नाकाशस्त्वयाभावोनिरूप्यताम्।।

अनुस्मृतेश्च ।।२-२-२५।।

किं च अनुस्मृतिरपि ।।अनुभवोऽप्यत्र प्रमाणं न हि कोऽप्यवकाशमन्तरेण जीवितुं प्रभवति। सूर्याचन्द्रमसौ, ध्रुवादि नक्षत्राणि आकाश उद्यन्ति। आकाशे विराजमानाः मेघाः वर्षन्ति। अतः आकाशोऽपि भावपदार्थ एव, नाभावः। यथोक्तं भागवते-

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः

।।३/२६/३३

अवकाशाच्च नक्षत्र धारणात्सर्वजीवनात्।
शब्दाश्रयत्वाद्व्योम्नो हि नाभाव इत्यनुस्मृतिः ।।श्रीः।।

किं च निरुपाख्यः अभावः स च त्रिसंख्याकः। निरोधद्वयमाकाशश्च। तेभ्यः न कार्योत्पत्तिः–

नासतोऽदृष्टत्वात् ।।२/२/२६।।

असतः कार्योत्पत्तिर्न भवति। कथम्? अदृष्टत्वात्। दर्शनाभावात्। न खलु शशविषाणतो जीवहत्या। न वा गगनपुष्पतस्सुरभिः। अथवा नायमकारप्रश्लेषः। असतः न, कथं? सत एव उत्पत्तेर्दृष्टत्वात्। तिलात् तैलोत्पत्तिः दृष्टा। जले कमलोत्पत्तिः। अतएव गीतासु-

नासतो विघते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।

(गीता २-१७)

यथोक्तं भागवते–

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि स प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः

।।(११/१३/२५)

नाभावाज्जगदुत्पत्तिः क्वापि दृष्टाऽस्ति केनचित्।
नैव व्योम्नो भवेत्पुष्पं शशे नैव विषाणकम् ।।श्रीः।।

निष्कर्षमाह–

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।।२/२/२७।।

एवं सति उदासीनानामपि सकलक्रियाकलापरहितानामभीष्ट सिद्धिः स्यात्। या कदापि न दृश्यते।"न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।ईशावास्य श्रुतिरपि– कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं– समाः। एवं त्वयि नान्यथेऽतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।ईशा० उ०-२। अतएव गीताप्याह–"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।(गीता ३-९) यथोक्तं भागवते–

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतिराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्वे तत्वानि सर्वशः।।

२१/२२/८।।

निष्क्रियाणां च कार्याणि सिद्धेयुरविचारतः।
अस्वाभाविकरीत्यैव महान्सृष्टावुपद्रवः ।।श्रीः।।
तृतीयपञ्चाधिकरणं क्षणिकत्वविखण्डनम्।
रामभद्रेण विदुषा व्याख्यातं बुधतुष्टये।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथोपलब्ध्यधिकरणम्।।

पूर्वस्मिन् चाधिकरणे बाह्यार्थक्षणिकत्वकम्।
निराकृतं भगवता वेदव्यासेन युक्तितः।।
अथेदानीं निराकर्तुं योगाचारमतं किल।
विज्ञानवादं यतते भगवान् वासवीसुतः।।

यदप्युक्तं योगाचारेण न हि किमपि विज्ञानातिरिक्तं, विज्ञानवासनयैव सर्वे पदार्थाः भासन्ते। तन्मतं निराकरिष्यन् आह-

नाभाव उपलब्धेः ।।२/२/२८।।

उपलब्धेर्हेतोः पदार्थानाम् अभावो न। यदि घटादयो न स्युः तर्हि नोपलभ्येरन्। न हि गगनपुष्पादयः उपलभ्यन्ति। यतो घटादयः उपलभ्यन्ते।

अतः सत्यम्। न च स्वप्नवत् असत्यमिति वाच्यम्। प्रबुद्धस्य स्वप्नमहमदर्श मिति प्रतीतेस्तस्य सत्यत्वात्। किं च घटमहं जानामि इत्यादौ ज्ञानातिरिक्तस्य घटस्य ज्ञानविषयत्वदर्शनात्। यथोक्तं भागवते-

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।।

११/१३/२४ ।।

उपलब्धे पदार्थानां नाभावोऽस्तीह कर्हिचित्।
यदि स्यु उपलभ्यन्ते घटादिरिव भूतले ।।श्रीः।।

किं च स्वप्नजागरितज्ञानयोर्विषयभेदः। अत आह-

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।।२/२/२९।।

विरुद्धो धर्मो ययोस्ते विधर्मणी तयोर्भावः वैधर्म्यं, तस्मात् वैधर्म्यात् जागरितस्वप्नप्रत्यययोर्विरुद्धधर्मत्वात्। तद् दृष्टान्तेन जागरितज्ञानस्य व्यलीकत्वेन न प्रतिपादयितुं शक्यम्। स्वप्नस्य मनःकल्पितत्वेन बाधितविषयत्वात्। जागरितस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। चकारेण बहुत्र स्वप्नानमपि सत्यत्वेन दृष्टत्वात्। न विज्ञानवादः सिद्धान्तसहः। यथोक्तं भागवते-

अदृष्टवान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभावं पृश्निगर्भ इति श्रुतः ।।

(भागवत १०/३/४१)

स्वप्ने जागरिते ज्ञाने वैधर्म्यं भूरि वर्तते।
अतो न स्वाप्नवद् वाच्यं विज्ञानं बौद्धकल्पितम् ।।श्रीः।।

किं च तव विज्ञानं न सत्तावत्। कथं? अत आह-

न भावोऽनुपलब्धेः ।।२/२/३०।।

विज्ञानं विषयी, घटादिकं विषयः। विषयस्याभावं प्रलपसि तदभावे विषयिणः ज्ञानस्य कथं भावः? प्रत्यक्षेण घटे सिद्धे ज्ञानस्य स्वयमेव बाधः भविष्यति। यथोक्तं भागवते-

त्रिभवनकमनं तमालवर्णं, रविकरगौरवराम्बरं दधाने
वपुरलककुलावृताननाब्जं, विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।

(श्रीमा० २/९/३३)

प्रत्यक्षेणैव विषये सिद्धिं नीते घटादिके।
विज्ञानानुपलब्धेश्च तस्य भावो न विद्यते ।।श्रीः।।

किं च आलयविज्ञानमतमपि सर्वथा निरर्थकम्। कथं? अत आह-

क्षणिकत्वावाच्च ।।२/२/३१।।

त्वया सर्वेषु क्षणिकत्वेन कल्पितेषु विज्ञानमपि क्षणिकत्वेन द्वितीयक्षणे विनष्टम्। हन्त! यस्यां शाखायां तिष्ठसि तामेव छिनत्सि। धिग् देवानां प्रियं त्वाम्। यथा भागवते-

ज्योतिर्यथैवोद कपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाष्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ।।
१०/१/४३

द्वितीयक्षणनष्टत्वात् पूर्वज्ञानस्य देहिनः।
क्षणिकत्वाच्च विज्ञानमालयं ते न यौक्तिकम् ।।श्रीः।।
चतुर्थंचाधिकरणं योगाचार मताप्ययम्
पण्डितानां प्रमोदाय रामभद्रो ऽभ्यभाषत।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम्।।

अथेदानीं निराकर्तुं मतं माध्यमिकस्य च।
सोत्साहं वै प्रयतते भगवान् बादरायणः।।

माध्यमिकमते सर्वं शून्यम्। यतो हि जगदिदं न सत्, बाधितत्वात्, नासत्, उपलभ्यमानत्वात् नोभयम्, असम्भवात्, तस्मात् सर्वं शून्यम्।

शून्यमदः शून्यमिदं शून्याच्छून्यमुदच्यते।
शून्यस्य शून्यमादाय शून्यमेवावशिष्यते ।।

तत् खण्डयन्नाह-

सर्वथानुपपत्तेश्च ।।२/२/३२।।

सर्वप्रकारेण अनुपपत्तेः अयं पक्षो न सत्करणीयः। पक्षस्ते सप्रमाणकः निष्प्रमाणको वा? यदि सत्प्रमाणकस्तर्हि धूलिसात्कृतस्त्वयैव शून्यवादप्रासादः।

सर्वेषामपि प्रमाणानां यत्किञ्चितपदार्थविषयत्वात्। यदि निष्प्रमाणकः तर्ह्यलं तत्र प्रेक्ष्यावत् प्रवृत्त्या।

यथेच्छं जल्प जल्पाक यथेच्छं ब्रूहिबालिश।
यथेच्छं वद वैधेय यथेच्छं भष शून्यग।।

यतोक्तं भागवते-

न यस्याद्यन्तौ मध्यञ्च स्वःपरो नान्तरं बहिः।
विश्वस्यामूनि यद् यस्माद् विश्वं च तदृतं महत्।।

८/१/१२।।

सर्वैःप्रकारैः पक्षस्ते सदोषोऽनुपपत्तितः।
तस्माद् बौद्धमतं युक्त्या वेदव्यासेन खण्डितम् ।।श्रीः।।
पञ्चमं चाधिकरणं पञ्चमप्राप्तये मया।
श्रीराघवकृपाभाष्ये द्वितीये चाभ्यभाष्यत।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथैकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम्।।

अथ जैनमतं यच्च कल्पितं नास्तिकैरिह।
तत्खण्डने प्रवृत्तोऽत्र श्रीमत् सत्यवती सुतः।।
जीवाजीवास्रवांश्चैव संवरो निर्जरस्तथा।
बन्धो मोक्ष इतीमेवै पदार्थाः जैनशासने।
जीवस्तु चेतनस्तत्र अजीवो भोग्यवर्गकः।
इन्द्रियाणां च विषयप्रवेशो ह्यास्रवो मतः।।
संवरो नियमस्तेभ्यः संयमाख्यो उदीरितः।
निर्जरस्तपसा देहनिर्जीर्णत्वं व्रतादिकम्।।
बन्धस्तु कर्मणामेव मोक्षस्तत्त्याग उच्यते।
एते सप्तपदार्था वै कीर्तिता जैनदर्शने।।
सप्तभङ्गी पदार्थानां चिन्तने तत्र कीर्तिता।
सन्देहग्रस्तचेतोभिर्विवस्त्रैर्वेदनिन्दकैः।।
स्यादस्ति स्यान्नास्त्यथ स्यादस्ति नास्ति चोभयम्।
स्यादस्ति चावक्तव्यं च स्यादस्ति नास्ति चोभयम्।

स्यादस्ति चावक्तव्यं च स्यान्नास्ति च तथाविधम्।।
स्यादवक्तव्यं स्यादस्ति वक्तव्यं चैव पञ्चमम्।
स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च न वाच्यं चैव पञ्चमम्।
स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च न वाच्यं स्यात्तथोभयम्।।
इत्येव सप्तभङ्ग्यस्ति जैनदर्शनकल्पिता।।

तत्र मतमिदं सर्वथैवानुचितम् । अत आह–

नैकस्मिन्नसम्भवात् ।।२/३/३३।।

एकस्मिन्नेव पदार्थे एवं विरुद्धधर्मा न घटन्ते। न हि कोऽपि प्रत्यक्ष–सिद्धायां गवि वृषभत्वं महिषत्वं वा कल्पयितुं प्रभवति। अतएव भगवान्प्राह-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

यथोक्तं भागवते–

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययो समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ।।
६/४/३२

विरुद्धधर्मवस्तूनां विरुद्धानां स्वभावतः।।
एस्मिन् न स्थितिः शक्या पदार्थानामसम्भवात् ।।श्रीः।।

एवमात्मनः परिच्छिन्नदेहत्वमपि न संगतम्। अत आह–

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ।।२/२/३४।।

एवं च आत्मनः अकार्त्स्यम् असामग्रयम्। आत्मपरिच्छेद इत्यर्थः, न। नकारः पूर्वसूत्रादनुवर्तते। यदि तस्य परिमाणमंगीक्रियते तदा मशकादीनां शरीरेषु समग्रप्रवेशानुपपत्तिः स्यात्। एवमल्पपरिमाणकस्य तस्य गजादिशरीरप्रवेशे असमग्रता स्यात्। इति जैनमतं सर्वथानादरणीयम्। यथोक्तं भागवते–

नत्माजनान न मरिष्यति नैधतेऽसौ ।
न क्षीयते सवन विद व्यभिचारिणां हि।

सर्वत्र सश्वदन पाय्युपलब्धिमात्रं।
प्रणोयन्येन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्।

(११/३/३०)

एवं च जैनसिद्धान्ते कात्स्न्याभावस्तथात्मनः।
व्याप्त्यव्याप्तिविसम्वादाद् युक्तियुक्तो न कर्हिचित् ।।श्रीः।।

अथ स्वदोषं परिहरतः कृतपूर्वपक्षस्य जैनस्य समाधान माह-

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः।।२/२/३५।।

पर्यायः संकोचविकासाद्यवस्थाभेदः। न च जीवात्मनः गजादौ विकासे मशकादौ संकोचे अवस्थाभेदपर्याये सति सर्वत्र निर्दोषतापत्तिरिति वाच्यम्। एवं सति तस्मिन् निर्विकारे विकारत्वापत्तेः। बन्धमोक्षाभ्युगमस्य च सर्वथैवासिद्धेः। स पक्षो दूषित एव। यथोक्तं भागवते-

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः।

(१०/५४/४६)

यदि चेत्तत्र पर्यायः ह्रासोल्लाससमन्व्थितः।
तथात्वे निर्विकारे ऽस्मिन् विकारापत्तिरुल्वणा ।।श्रीः।।

किञ्च तवैव सिद्धान्तात् तव पक्षे दूषणम्-

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।।२/२/३६।।

अन्ते मोक्षे अवस्थितिः इति अन्त्यावस्थितिः जैनदर्शने अन्त्यावस्थितेरेव जीवपरिमाणस्य नित्यत्वं स्वीक्रियते। अतस्तदनुरोधेन आदिमध्यावस्थयोरपि नित्यत्वे समानमेव मानं जीवस्य सिद्धम्। अतस्संकोचविकासकल्पना निरर्थिका। तस्मात् विवसनदर्शनमपि विवसनवत् निरपत्रपम्। यथोक्तं भागवते-

नित्य आत्मा व्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गे मायया विसृजन् गुणान्।।

(भाग० ७/२/२२)

अन्त्यावस्थितिवन्नित्ये आदिमध्यस्थिती यदि।
तदा विशेषादुभयोर्निर्मूलं जैनदर्शनम् ।।श्रीः।।

षष्ठञ्चैवाधिकरणं जैनदर्शनकृन्तनम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

श्रीः राघवः शंतनोतु।

।।अथावैदिकं शैवमतं निराकुरुते-।।

त्रिकालज्ञो हि भगवान् व्यासस्सत्यवती सुतः।
तस्माच्छैवमतं चापि दृष्ट्वा पूर्णमवैदिकम्।।
भस्मादिधारणं तत्र कपाले भोजनं तथा।
श्रितिः पञ्चमकारस्य वामोपास्तिरथापि च।।
तस्याप्यश्रुतिमूलत्वात् भगवान् वेदपारगः।
ब्रह्मसूत्रे प्रववृते खण्डनेऽखण्डबोधवान्।।

पत्युरसामञ्जस्यात् ।।२/२/३७।।

तथा असामञ्जस्यात् श्रुतिविरोधात् पत्युः पशूनां पत्युः मतं न समीचीनम्। तत्र महेश्वरः निमित्तकारणम्। प्रधानमुपादानकारणमिति श्रुति विरुद्धं। "तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेय तत सत्यं सच्च त्यच्चयच्च।" इति श्रुतिविरोधात्। यथोक्तं भागवते-

नष्टशौचमूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्।।
असामञ्जस्यतश्चैव श्रुतीनां दिव्यमेधसाम्।
पत्युः पशूनां च मतं वामं नैवास्ति वैदिकम्।।

किञ्च ईश्वरेण सह प्रधानस्य कश्चिद् सम्बन्धो वाच्यः। स च संयोगः समवायो वा द्वयमपि न इत्यत आह-

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।।२/२/३८।।

ईश्वरस्य तन्मते शरीराभावाद् द्वयमपि न घटते। कथमस्य शरीरस्य सम्बन्धः स्यात्। अतः सम्बन्धस्यानुपपत्तेः न पाशुपतमतं वैदिकम्। यथोक्तं-

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषो प्रतिष्ठिनः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मनं लीलया सृजत् ।

३/१०/११।

ईश्वरस्याशरीरस्य सम्बन्धद्वयवर्जनात्।
जीवभक्तेरनुपपत्तेः शैवं मतवैदिकम् ।।श्रीः।।

किञ्च- अधिष्ठानमन्तरेण निमित्तकारणं देहं न प्रभवति स्थातुम्। त्वन्मतकल्पितस्य पशुपतेः शरीराभावान्नोऽस्त्यधिष्ठानत्वमत आह-

अधिष्ठानानुपपत्तेः ।।२/२/३९।।

अधिष्ठानस्य निमित्तस्य आकाराभावात् अनुपपत्तेः नेदं दर्शनं सिद्धान्तसहम् अधिष्ठीयते अनेनेत्यधिष्ठानम्।

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणाः स्वतः ।

१/२/६/३०

पुनः तत्पूर्वपक्षं खण्डयति-

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।।२/२/४०।।

यथा अशरीरस्य जीवात्मनः प्रधाननिर्मितकरणकलेवरेण अधिष्ठानत्वम् तथैव इदमपि ईश्वरस्य भवेत् इति चेन्न। जीवस्य करणकलेवरस्य कृते सम्पूर्णभोगाः आरोप्यन्ते तथैव ईश्वरेऽपि तदा महाननर्थः स्यात्। तस्मादधिष्ठानानुपपत्तिरिह दुर्वारा।यथोक्तं भागवते-

वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो।
विदधति यत्र येत्वधिकृताभवतश्चकिताः ।।

(१०/८७/२८)

जीवात्मनिः प्रधानस्य करणवत्करणमीशितुः।
आरोप्यते तदा तस्मिन् भोग्यत्वापत्तिरुल्वणा ।।श्रीः।।

किञ्च कलेवरत्वे स्वीकृते ईश्वरे अन्तवत्वम् असर्वज्ञता च स्यात्। अत आह-

अन्तवत्वमसर्वज्ञता वा ।।२/२/४१।।

वा शब्दश्चार्थे। किञ्च प्रधानाधिष्ठानत्वस्वीकारे पशुपतौ पुण्यपापवशात् अन्तवत्वम्। विनाशित्वमागच्छेते एवं जीवस्येव तस्मिन् असर्वज्ञता च प्रसज्येत। अत एव प्रधानाधिष्ठाने न स्वीकर्तव्यम्। असत्यधिष्ठाने न कारणता।

यथोक्तं भागवते–

रूपं यत्त त् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्मज्योतिर्निगुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीयः।

(१०/३/२४)

शरीरे स्वीकृते तस्मिन् अन्तवत्त्वमथाज्ञता।
अधिष्ठानं प्रधानं च ततः पशुपतौ नहि ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं छिन्नपाशुपतंम् मया।
व्याख्यातं रामभद्रेण श्री वैष्णवसतां मुदे।।

।।अथोत्पत्यसम्भवाधिकरणम्।।

अथ पाञ्चरात्रे केषाञ्चिद् विप्रतिपत्तिं निराचष्टे–

"उत्पत्यसंभवात्" ।।२/२/४२।।

तत्र यथा परमकारणात् ब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते तस्मादनिरुद्धसंज्ञोऽहंकारो जायते। इत्यनेन जीवस्योत्पत्तिराशंक्यते। इत्यत आह– उत्पत्यसंभवादिति। जीवस्योत्पत्तिः न संभवा। श्रुतिविरुद्धत्वात्। अतः जीवशब्दस्य "जीवयतीति जीवः" इति व्युत्पत्या बुध्यधिष्ठातृप्राज्ञोः जायते प्रकटो भवति इति तात्पर्यम्। यथोक्तं भागवते–

घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद् यथापुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ।।

१२/५/५।।

जीवात्मनश्च नित्यस्य सदोत्पत्तेरसम्भवः।
ततो जीवयतेर्जीवो वर्णितो बुद्ध्यधीश्वरः ।।श्रीः।।

(३/३६/२५)

पुनरपि तद्वचः परिष्कुरुते–

न च कर्तुः करणम् ।।२/२/४३।।

कर्तुः सकाशात् करणं मनः न जायते। अतः संकर्षणात् मनोमयं प्रद्युम्नं

जायमानं कथयतः वाक्यस्य अन्यआशयः। संकर्षणमपेक्ष्य मनोनियन्तृ अन्तर्यामिस्वरूपोः भगवान् प्रद्युम्नः प्रकटो भवति। अयमेवार्थः करणीयः यथोक्तं भागवते– सहस्रंशिरसं साक्षाद्यमन्तम्–

कर्तुः सकाशात्करणं न कदाप्युपजायते।
अतस्तत्पञ्चरात्रस्य वाक्यमन्यार्थकं स्मृतम् ।।श्रीः।।

पुनः समर्थयते-

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।।२/२/४४।।

वा त्वर्थः। एषां विज्ञानादिभावे तात्पर्यम्। न तु जीवभावे। स्वेच्छया ग्रहीतलीलावपुषः परमात्मनः संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाः व्यूहावताराः। अतः जीवमनोहंकाराणां तदधिष्ठातृदेवातासु तात्पर्यम्। तस्मात् पञ्चरात्रस्य वैदिकत्वाप्रतिषेधः। अर्थात् पूर्णवैदिकत्वम्। विज्ञानशब्दः बुद्ध्यादिदैवतपरः। यथोक्तं भागवते–

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितृर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि।

(१०/७/३६)

मनोबुद्ध्यात्मनां तत्र तदधिष्ठानदैवते।
तात्पर्यान्नारदीयं श्रीः पाञ्चरात्रं हि वैदिकम् ।।श्रीः।।

किञ्च न केवलं जीवोत्पत्तेः असम्भवेनैव संतोषः प्रत्युत तत्र नारदीये तन्त्रे जीवोत्पत्तेः प्रतिषेधादपि हेतोः तस्मिन् वैदिकत्वस्य प्रतिषेधाभावः। तद्यथा-

विप्रतिषेधाच्च ।।२/२/४५।।

विप्रतिषेधो यथा–

अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते।।
व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च।
सह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ।।

(परमं संहिता)

एवं ब्रह्मसूत्रपर्यालोचया पञ्चरात्रस्य प्रामाणिकत्वम्। ये त्वत्र पञ्चरात्रं निन्दन्ति ते ब्रह्मज्ञं मन्यमानाः न जानन्ति भगवन्तं नवा भागवततत्वम्।

अतस्तैरसदालापैः सह किमधिकेन कुतर्ककलजल्पितेन वाग्जालेन।

केचिद्ध्यानपरायणाः प्रतिपदं पारम्परं वैभवात्।
भूयिष्ठं समुपासते तु विरजं तन्निर्गुणं निष्क्रियम्।।
किन्त्वस्मन् नयनाभिराम विषयः श्यामस्तमालद्युतिः।
कौसल्या सुकृताब्धिशारदशशी श्रीराघवो राजते।।

यथोक्तं भागवते–

तदापुरुष आत्मनं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ।।

३/२५/१७

जीवोत्पत्तिनिषेधो हि पाञ्चरात्रेषु दृश्यते।
तस्मात् श्री नारदप्रोक्तं पाञ्चरात्रं श्रुतिश्रुतम् ।।श्रीः।।
अष्टमं चाधिकरणं पाञ्चरात्रविभूषितम्।
श्रीवैष्णवमुदे प्रोक्तं रामभद्रेण धीमता।।
द्वितीश्च मया पादः द्वितीयाध्याय गोचरः।
श्री राघव कृपाभाष्ये भाषितो भगबन्मुदे।।

इति श्री तुलसीपीठाधीश्वरगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यकृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये श्रीमद्बादरायणवेदव्यास विरचितवेदान्तदर्शने ब्रह्मसूत्रे द्वितीये अविरोधाध्याये द्वितीयः पादः सम्पूर्णः।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः।।

प्रेमातुरतृतीयञ्च त्रिगुणत्रितयं हरिम्।
त्रिभिस्तृतीयेऽनुभजे तृतीयं रामसंज्ञकम् ।।१।।

अथ पूर्वयोः पादयोः परमतानि निरस्य तत्र च श्रौतप्रमाणैकचुञ्चुः श्रीमद्बादरायणो भगवान् प्रतीयमानानि श्रौतान्यपि विरोधवचनानि ब्रह्मणि संगमिष्यमाणः तृतीय चतुर्थपादौ प्रारभते।

।। अथ वियदधिकरणम् ।।

ननु निरवयव आकाशः ब्रह्मण उत्पद्यते नवा? इति चेदाह- नोत्पद्यते।

कथं निरवयवत्वात्। अवयववान् उत्पद्यते। न च कदापि निरवयवोऽप्युत्पद्यते **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। तन्मोऽसृजत्** (मु० उ० १/२/३) इत्यादि श्रुतेः **वीक्ष्यरन्तुं मनश्चक्रे योगयामुपाश्रितः।** इत्यादि स्मृतेश्च। इति संदेहे उपस्थिते आह–

न वियदश्रुतेः ।।२/३/१।।

वियद् आकाशः। न उत्पद्यते। कथम्? अश्रुतेः। वियदुत्पत्तिबोधक-श्रुतेरभावात्। तथाहि छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके **"तत्तेजोऽसृजत् (११छा० ६/२/३) इति तस्मादाकाशो नोत्पद्यते वियत् इत्येतस्य व्युत्पत्तिश्च"** विः विहगः पक्षी याति उड्डीयते यस्मिन् सा वियत् यथोक्तं भागवते–

गायन्त्य उच्चैरमुमेवसंहताः विचिक्युरुन्मतवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरंबहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।

(भाग १०/३०/४)

आकाशोत्पत्तिवाक्यानां वेदमन्त्रेष्वभावतः।
वियन्नोत्पद्यते तस्मात्पूर्वपक्ष इतिस्थितः ।।श्रीः।।

इति पूर्व पक्षं निरीक्ष्योत्तरयति–

अस्ति तु ।।२/३/२।।

तु शब्देन पूर्वपक्षो निर्वत्यते कथमुच्यते आकाशोत्पत्तिमूलिका श्रुतिर्नास्ति। सा श्रुतिस्तु अस्ति। क्व? तैत्तरीये आनन्दवल्याम् **तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मन आकाशः सम्भूतः** ।। तै० २/१) तस्मात् ब्रह्मणः आकाश उत्पद्यते। अतएव **जन्माद्यस्य यतः** इत्यत्र आद्यस्य प्रथममहाभूतस्याकाशस्य जन्म। इति तत्रैव व्याख्यातम्मया। यथोक्तं भागवते–

कालमायस योगेन भगवद्वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुमृतं स्पर्शं विकुवन्निर्ममेऽनिलम्।।

(३/५/३२)

तैत्तरीयोपनिषदः तस्मादित्यादि राजते।
श्री ब्रह्मानन्दबल्ल्यां तु आकाशोत्पत्तिका श्रुतिः ।।श्रीः।।

गौण्यसम्भवात् ।।२/३/३।।

ननु सा श्रुतिः गौणी। यतोहि छान्दोग्ये **"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"** इत्यत्र यथा ब्रह्मणः सिसृक्षा समजायत अनन्तरमनेन "तत्तेजोऽसृजत्" इति श्रुतिलिंगात् प्रथमं तेजस्सृष्टिः व्यधायि। एवमीक्षणानुपदं तेजसः सृष्ट्या आकाशोत्पत्तिश्रुतेः गौणीत्वं स्पष्टं ज्ञायते। किञ्च असम्भवोऽप्याकाशसम्भवः। आकाशो हि व्यापकः नित्यः सर्वमनः सूक्ष्मश्च सर्वव्यापकस्य नित्यस्य सम्भूतेरसम्भवः अतोऽसम्भवात् आकाशोत्पद्यते यथोक्तं भागवते–

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुजा।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये।।

११/३/३

आकाशोत्पत्तिका गौणी श्रुतिः सृष्टेश्च तेजसः।
व्यापकत्वात्तदुत्पतिः सर्वथैव ह्यसम्भवा ।।श्रीः।।

ननु श्रुति प्रमाणादुत्पद्ये। प्राणादिरिव इत्यरुचेराह पुनरपिपूर्वपक्षम्-

शब्दाच्च ।।२/३/४।।

चकारोप्यर्थः। शब्दः श्रुतिप्रमाणम्। श्रोताच्छब्दादपि हेतोः नाकाश उत्पद्यते। कस्तावत् शब्दः। आकाश एव नामरूपयोर्निवर्हिता। सर्वाणि हवा इमानि भूतानि आकाशात् समुत्पद्यन्ते। आकाशेऽस्तं प्रत्यन्ति। इत्यादिशब्देभ्यः इति चेन्मैवम्। तत्र आकाशशब्दस्य ब्रह्मपरकत्वेन व्याख्यातचरत्वात्। **"आकाशस्तल्लिंगात्।"** (ब्रह्मसूत्र १/१/२२) आकाशादिषु अर्थान्तरत्वव्यपदेशात्। (ब्र० सू० १/३/४१) इत्यादि ब्रह्मसूत्रेष्वपि आकाशस्य ब्रह्मपरकत्वेन व्याख्यानात्। अथ समुदाह्रियते अन्यः शब्दः। बृहदारण्यके श्रूयते- **"अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्"** ।।बृ० २/३/३।। अन्तर्गतानि ऋक्षाणि यस्मिन् तदन्तरिक्षम्। ननु **"अन्तर ऋक्ष" "इत्यत्र रेफलोपे"** ढ्रलोपे० (६/३/११२) इत्यनेन कथन्न दीर्घः इति चेत्? **'बहुलं छन्दसि'** इत्यनेन दीर्घविधायकसूत्रस्याप्रवृत्तेः। इति शब्दादपि नोत्पत्तिराकाशस्य यथोक्तं भागवते–

ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान वियदेव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः।

१०/८/३८

आकाशोत्पत्त्यभावस्य सूचकाच्छ्रुति शब्दतः।
असम्भवाच्च ज्ञातव्या श्रुतिर्गौणी तथाभिधा ।।श्रीः।।

पुनरपि प्रतिपूर्वपक्षः। ननु तस्माद् वा एतस्माद् वा आकाशः सम्भूतः इत्यत्र प्रयुक्तसम्भूतशब्दः न गौणी वृत्याश्रयः। अग्रे आकाशाद्वायुः– इत्यादौ अनुसज्यमानस्य सम्भूतशब्दस्य मुख्यवृत्तिपरकत्वात्। इति चेदाहो–

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।।२/३/५।।

चकारः अप्यर्थः। एकस्यापि सम्भूतशब्दस्य लक्ष्यानुरोधेन गौणी मुख्या च वृत्तिः स्यात्। पक्षं द्रढयितुं दृष्टान्तमाह- ब्रह्मशब्दवत्। **"तत्र तस्येव"** इति षष्ठ्यन्तात् ब्रह्मशब्दात् इवार्थे वतिः। ब्रह्म शब्दस्य इव। तथा क्वचित्- **"तस्मादेतत् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते।** (मु० १/१/९।।) इत्यादौ गौणी वृत्तिः **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तै० २/१) इत्यादौ च मुख्यावृत्तिः तस्यैव एकस्य सम्भूतशब्दस्य आकाशांशे गौणीवृत्तिः। वाय्वाद्यंशे मुख्यावृत्तिरिति यथोक्तं भागवते–

हतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभेसि लोयते।।

२१/३/१४।

ब्रह्म शब्दो यथा लक्ष्यानुरोधात् तत्र तत्राहि।
गौण्यां तथैव मुख्यायां सम्भूतोऽपि तथोच्यताम् ।।श्रीः।।

स्वपक्षं द्रढयितुं सिद्धान्तयति–

"प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात्" ।।२/३/६।।

आकाशस्योत्पत्तिर्वाच्यैव। तां विना आकाशस्य ब्रह्मभावे सिद्धे ब्रह्मकार्यभावे च दूरमपसारिते येनाश्रुतं श्रुतं भवति इत्यादि छान्दोग्ये विहितमेक विज्ञानं न संगमयितुं शक्यते। आकाशशस्य ब्रह्मतः पृथग्भावाभावात्। अतः तस्माद् ब्रह्मणः अव्यतिरेकात् पृथक्त्वाभावात् ब्रह्मविज्ञानस्य प्रतिज्ञाया हानिः स्यात्। तस्मादुत्पद्यत आकाशः यथोक्तं भागवते-

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः।

२/१०/१५

अनुत्पत्तौ च नभसो, ब्रह्मीभूते नभस्यथ।
श्रौती प्रतिज्ञा हीयेत तस्मादुत्पद्यते नभः ।।श्रीः।।

अपरमपि स्वपक्षे हेतुमाह-

शब्देभ्यश्च ।।२/३/७।।

आकाशोत्यत्तिसमर्थने सन्ति बहवः श्रौतशब्दाः। छान्दोग्ये- **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** (छा० ६/२/१) इत्यत्र एवकारेण ब्रह्मातिरिक्तं व्यवच्छिद्य एकशब्देन च ब्रह्मण एव सृष्टि- प्राग्भावित्वम् विधाय, पुनश्च **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं सच आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"** (छा० ८/७/१) इत्यत्र ब्रह्मातिरिक्तस्य जगतः तदात्मत्वम् स्पष्टमभ्यधात्। एवं **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इत्यादावपि आकाशस्य ब्रह्माति रिक्तत्वम्। अतस्तदुत्पपत्तिः श्रुतिप्रमाणसिद्धा। यथोक्तं भागवते-

"तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्य चोदितात् ।
शब्दामात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोतन्तु शब्दगम् ।"

(३/२६/३२)

वेदेषु बहवः शब्दा आकाशोत्पत्ति सूचकाः।
सन्ति तेषां संमारम्भाद् ब्रह्मणो जायते नभः ।।श्रीः।।

पुनश्च स्वपक्षं द्रढयति-

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ।।२/३/८।।

यावद्विकारमिति अव्ययीभावसमासः। **"यावदवधारणे"** (पा० अ० २/१/८) इत्यनेन अवधारणार्थेसमासः। **"यावन्तः श्लोकाः तावन्तोऽच्युतप्रणामाः"** इतिवत् यावन्तो विकाराः तावन्तो ब्रह्मण उत्पन्नाः इति यावत् विकारं विकारमात्रं ब्रह्मण एव विभागः ब्रह्मण उत्पन्नम्। विभागः कार्यम् लोकवत्। यथा लोके सर्वान् सम्बोध्य ब्रूयात्- इमे चैत्रस्य सूनवः। पश्चादेकैकस्य नाम ग्रहणे द्वित्रास्त्यक्ताः भवेयुः तथापि ते पारिशेष्याद्गृण्यन्ते चैत्र सूनुषु। एवमत्रापि। **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"** इत्यादिः सर्वस्य जगतः ब्रह्मकार्यत्वं प्रतिज्ञाय **"तत्तेजोऽसृजत्"** इत्यत्र यद्याकाशीस्त्यक्तस्तर्हि सोऽपि ब्रह्मण उत्पन्न एव परिगणयितव्यः ।।

यथोक्तं भागवते-

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुरनरा नागाःखगाः मृग सरीसृपाः ।।

(भा० २-६-१२)

सर्वं प्रतिज्ञाय यथैवलोके त्यक्ता अपि द्राक् परिगण्यमानाः।
सर्वं प्रतिज्ञाय तथैव वेदे यावद्विकारं च नभोऽपि भूम्नः ।।श्रीः।।

पक्षान्तरं निरस्यन्नाह-

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।।२/३/९।।

अथ वायुरपि नोत्पद्यते- "वायुरन्त रिक्षञ्चैतदमृतम्' (बृ० २/३/३) इत्यादिश्रुत्या अमृतत्वज्ञापनादत आह एतेन। पूर्वसूत्रे दत्तेन 'लोकवत्' इति दृष्टान्तेन। मातरिश्वा माङ्माने शब्दे च। इति शब्दात्मकधातोः। मायते शब्दायते इति मातः- शब्दगुणकः आकाशः। तस्मिन् मातरि आकाशे वर्धते इति मातरिश्वा वायुरपि व्याख्यातः। ऐतदात्म्यात् तस्यापि ब्रह्मोद्भवत्वम्। यथोक्तं भागवते-

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः।
स्पर्शोऽभवत्त वायुस्त्वक्स्पर्शस्य च संग्रहः ।।
(भा० ३-२६-३५)

लोकन्यायेन वातोऽपि व्याख्यातो ब्रह्मसम्भवः
ऐतदात्म्यबलात्सर्वं प्रतिज्ञानानुरोधतः ३-६-८

ननु यदि निरवयवस्याकाशस्य निरवयवस्य च वायोरुत्पत्तिः तर्हि तुल्यन्यायेन ब्रह्मणोऽपि उत्पत्तिः स्यादित्यत आह-

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।।२/३/१०।।

न तस्य कश्चिज्जनितास्ति लोके। स कारणं करणाधिपाधिपः श्वे० ३-६-८ इत्यादि श्रुतीनामनुपपत्तेः। सर्वकारणभूतस्य ब्रह्मणः उत्पत्ति कल्पने तत्कारणस्यापि उत्पत्ति कल्पनं पुनः तत्कारणस्योत्पत्ति कल्पनम् इत्यनवस्थाप्रसंगः। किञ्च- "मूले मूला भावादमूलं मूलति न्यायात् सम्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः छा० ३-६-८-४ इति श्रुत्यनुरोधेन सन्मूलत्वात् प्रजानां सतो ब्रह्मणश्च तन्मूलत्वेन तेनामूलेनैव भवितव्यम्। अतः सन्मूलत्वं सकेतयन्नाह- सतः ब्रह्मणः असम्भवः। उत्पत्त्यभाव एव। यथोक्तं भागवते-

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुर्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडशषोडशात्मकः सोऽलङ्कृषी भगवान् वचांसिमे।।
(।।भा० २-४-२३)

सर्वकारणभूतत्वाद् ब्रह्मगर्भान्न जायते।
श्रुतीनां चानुपपत्तेः सन्मूलेति गिरामथ ।।श्रीः।।
प्रथमं चाधिकरण तृतीयाङ्घ्रौवियन्मयम्।
श्रीरामभद्रविदुषा व्याख्यातं प्रीतये हरेः।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

अथ तेजोऽधिकरणम् ।

अथ पञ्चभिः तेजोऽधिकरणं निरूप्यते। तत्र चतुर्भिः पूर्वपक्षः एकेनोत्तरम्। छान्दोग्ये- तत्तेजोऽसृजत् छा० ६/२/३) इति श्रुतौ ब्रह्मणस्सकाशात्तेजस उत्पत्तिः श्रुता। पुनश्च तैत्तिरीये- वायोरग्निरिति परस्परं विरुद्धं नत्वेकमेव वस्तु द्वाभ्यामुत्पद्यते। इति विषमवादे प्राह-

तेजोऽतस्तथा ह्याह- २/३/११।।

पूर्वपक्षसूत्रमेतत्। एतस्माद् वायोरेव सकाशाद् तेजो उत्पद्यते हि अस्माद्धेतोः श्रुतिरपि तथा तेन प्रकारेवैव आह- वायोः अग्निः इति कथयामास। यथा भागवते-

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत्।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षु रूपोपलम्भनम् ।।

(भा० ३-२६-३८)

वायोः सकाशात् तेजोऽभूत् शब्दस्पर्शस्वरूपवत्।
वायोरग्निरिति ह्येषा श्रुतिर्मानं निदर्शने ।।श्रीः।।

एवं जलमपि न ब्रह्मणः यद्यपि तदपोऽसृजत् इति श्रूयते किन्तु अग्नेराः इत्यपि। न हि सचेतनः अचेतनं सृजेत अतः सूत्रयति-

आपः ।।२/३/१२।।

पूर्वसूत्रात् अतः तथा हि आह इत्यनुवर्तते। आपः जलान्यपि अतः ब्रह्मणः सकाशादुत्पद्यन्ते हि यतोहि श्रुतिः तथैव प्राह- आग्नेरापः इति।। यथा भागवते-

रूपमात्राद्विकुर्वाणत्तेजसो दैवचोदितात्।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भोजिह्वा रसग्रहः। ।

(भा० ३-२६-४)

ब्रह्मणस्तु सकाशाद्वै नैवापः परिजज्ञिरे।
तथैव निर्दिशत्येषा अग्नेराप इति श्रुतिः ।।श्रीः।।

एवं पृथिव्यपि अद्भ्य, उत्पद्यते, न तु ब्रह्मणः श्रुतिः तथैव प्राह- अतः सूत्रयत-

पृथिवी ।।२/३/१३।।

छान्दोग्ये ता अन्नमसृजन" इति विलक्षणमेव यथा भागवते-

गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वि घ्राणस्तु गन्धगः।
करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक ।।

भा०३-२६-४४

अद्भ्यः पृथिवी समुद्भूता ब्रह्मणो नो कदाचन।
तथैव श्रुतिरप्याह अद्भ्यः पृथिवीति शाश्वती ।।श्रीः।।

इति शंकां परिणुदति अन्नस्यापि पार्थिवत्वात्। कथं? अत आह सूत्रकारः-

तदधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः २/३/१४।।

तत्तेजोऽसृजत् इत्यतो महाभूताधिकारः प्रारब्धः। तस्मात् तदधिकारे तेजो जलवारवाकाशादिभिः सह पृथिव्या एव ग्रहणौचित्यात, अत्रान्नशब्दः पृथिवीवाची। एवञ्च- अन्नशब्दादपि अदनीयमन्नं तच्च पार्थिवमेव। तस्मात् चत्वारि इमानि स्वसकाशीभूत आकाशवायुतेजोजलेभ्यो जायन्ते, आकाश आत्मनः यथा भागवते-

त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः।।

(भा० ८-६-११)

तेजोऽधिकारवत्वाच्चा तथा शब्दान्तरादपि।
पूर्वस्मादुत्तरं जातमाकाशश्चात्मनोऽभवत् ।।श्रीः।।

इति विसंकटे संकटे प्राह-

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ।।२/३/१५।।

तुकारः पूर्वपक्षं निराकरोति। तस्याभिध्यानादेव इमानि भूतानि सृज्यन्ते। अतस्तल्लिंगात् तादृशादेव प्रमाणात् यथा- "तदैक्षत बहुस्याम", प्रजायेयं-, ब्रह्मणि ईक्षणसंकल्पो जायते। अनेनैव संकल्पेन परमात्मा आकाशवाय्वानन्तरं

तेजोऽसृजत्। वायोः सकाशात् तेज उत्पादयामास इति तदर्थः, एवमग्नेः सकाशीज्जलं रचितवान्। जलाच्च पृथिवीम्। इह पञ्चम्यन्तोपस्थितिः सकाशार्था। अतः सर्वेषां भूतानां कारणं परं ब्रह्मैव।। यथोक्तं भागवते-

एतावान् सर्ववेदार्न्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति।।

।।भा० ११-२१-४३।।

सः सृष्टिं समकल्पयच्च गगनं वायुस्ततो विश्वराट्
तस्मात्तेज इतो जलं सुमधुरं भूमिं ततो निर्ममे।
एवं पूर्व सकाशतस्तदपरं भूतानि पञ्चाप्यसौ
सृष्टवा तत्प्रविवेश भूतसदनं शास्त्रं स्मरद् ब्रह्म तत् ।।श्रीः।।

अथ विपर्ययाधिकरणम्

एवं उत्पत्तिक्रमो वर्णितः। अथ प्रलये कश्चन क्रमो व्युत्क्रमो वा। इति जिज्ञासायामाह-

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।।२/३/१६।।

अत्र प्रलयस्य इत्यध्याह्रियते। एतच्छब्देनोत्पतिक्रमः परामृश्यते। तु शब्दः क्रमवैलक्षण्यद्योतनार्थः। तु एतद्विपरीतं प्रलयक्रमं दर्शयति। अतः एतस्मात् उत्पत्तिक्रमात् विपर्ययेण विपरीतमाध्यमेन क्रमः विलयक्रमः। च तथा लोके इत्थमेवोपपद्यते यथा तस्माद्वा आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम्। (तै० २/१) एतस्माह विपर्ययेण प्रलय क्रमः। पुरुषोऽन्ने अन्नमोषधीषुः ओषधयः पृथिव्यां, पृथ्वी जले, जलमग्नौ, अग्निर्वायौ, वायुश्चाकाशे, आकाशपृथ्वी जले, जलमग्नौ, अग्निर्वायौ, वायुश्चाकाशे, आकाश आत्मनि, आत्मा अव्यक्ते, अव्यक्तं परमात्मनि। अयमेवक्रमः श्रुतौ- "सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्ते श्रुतौ- सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजोवायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि, तमः परे देव एकीभवति। परस्तान्न सन्नासन्नासदसाद्दित्येत न्निर्वाणमनुशासमिति वेदानुशासनमिति वेदानुसाशनम् ।।सुबाल० २) अयमेव अयं क्रमः उत्पत्तिप्रलययोः प्रदर्शितो भगवता श्रीमद्बाल्मीक्यवतारेण गोस्वामितुलसीदासेन मानसे-

क्षितिजल पावनु गगन समीरा। पञ्चरचित यह अधम शरीरा।।

(मानस ४/१०/४) अयं प्रलय क्रमः। बालिवधप्रसंगे प्रोक्तत्वात् तादृग्वस्तुस्थितेः। उत्पत्तिक्रमः

गगन समीर अनल जल धरनी। इन करि नाथ सहज जड करनी।।
तब प्रेरित माया उप जाए। सृष्टि हेतु सब ग्रन्थन गाए।।

(मानस ५/५९/२-३)

क्षितिर्जलं तथा वह्निः समीरो गगनं तथा ।
पञ्चभिः निर्मितं चैतैः शरीरं ह्यधमस्य च ।।१।।
नभः शरीरं वह्निः जलं पृथिवी तथैव च ।
अचिद्वस्तूनि चैतानि निसर्गादथ कार्यतः ।।२।।
सृष्टेश्च निर्माणाय माया तत्प्रेरिता सती ।
जनयामास वै सृष्टिं सद्ग्रन्था इत्थमुज्जगुः ।।३।।

यथा भागवते-

पुरुषः प्रकृतिमव्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्वान्युक्तानि मे नव।।

(भा० ११-२२-१४)

यथा निगदितः पूर्वं श्रुत्या चौतपत्तिकक्रमः ।
विपर्ययेण बोधव्यस्ततो वै प्रलयक्रमः ।।श्रीः।।
इदं चौवाधिकरणं रामभद्रेणधीमता
व्याख्यातं भगवत्प्रीत्यै यथाध्यायद्वितीके।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

अथान्तरा विज्ञानाधिकरणम्

ननु यथाकाशाद्युत्पत्तिक्रमः तथैव प्राणेन्द्रियादिक्रमोऽपि इति जिज्ञासां शमयन्नाह-

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिंगादिति चेन्नाविशेषात् ।।२/३/१७।।

अन्तराशब्दः अन्तरालवाचकः। अन्तरालश्च व्यवधानम्। विज्ञानशब्दः

बुध्यर्थकोऽपि सर्वेन्द्रियाणामुपलक्षणः। ननु तैत्तिरीये **तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मन आकाशः सम्भूतः** ।।२/१।। पुनश्च एतास्माज्जायते प्राणो मनः प्राणेन्द्रियाणि च खं वायुरग्निकापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी (मु० २/१-३५ इति द्वयोरपि एतस्मादात्मनो जन्म प्रोक्तम्। किन्तु अत्रैव श्रुत्यां पूर्वं प्राण-मनः सर्वेन्द्रियाणामात्मनः जन्म अनन्तरम् आकाशादीनां तत्रैव प्रथम चरणे प्राणादीनां द्वितीयचरणे आकाशादीनां जन्मलिंगात् आकाशादितः विज्ञानं सर्वेन्द्रियाणि अन्तराक्रमेण जायन्तेः इत्यमेव पूर्वापरचरणयोनिर्देशाल्लिंगम्? इति चेन्न, तस्य परमात्मनः पार्श्वे नान्तरालक्रमः। अविशेषात् द्वयोर्मध्ये विशेषाभावात्। प्राणादयः आकाशदयश्च परमात्मनः शरीराणि। "यस्य प्राणः शरीरं यस्य विज्ञानं शरीरं यस्याकाशः शरीरं, किं बहुना यस्य सर्वभूतानि शरीराणि।" इति सर्वसमर्थो भगवान् युगपदपि प्राणादीनाकाशादीन् निर्मातुं समर्थोऽस्ति यथा भागवते-

न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद् ।
नियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ।।

।।भा० १०-८७-२९

तस्य सर्वसमर्थस्य नान्तरालं परेशितुः ।
प्राणादीन् गगनादींश्च युगपचयत्यसौ ।।श्रीः।।

ननु सर्वेऽपि शब्दाः कथं स्वार्थे गौणीं भजन्ते परमात्मनि च मुख्यां? इत्यत आह-

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।।२/३/१८।।

चराचरं व्यापाश्रयते इति चराचरव्ययाश्रयः संसारः, सर्वोपि जडचेतनात्मकः जगद्वाचकः तस्मिन् ब्रह्मणि व्यपदेशो व्यवहारो यस्य एवम्भूतः ब्रह्मव्यवहारभाक् भाक्तः स्वार्थे गौणः। कथम्? तद्भावभावित्वात्। यतो हि सर्वेऽपि ब्रह्मभावेन भाविताः। तस्य ब्रह्मणः भावः तद्भावः तद्भावं भावयन्ति तच्छीलाः तद्भावभाविनः। तद्भावभाविनां भावः तद्भावभावित्वम्। तस्मात् तद्भावभावित्वात्।। यथा भागवते-

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यगुणो विभुः ।।

।।भा० १-२-३०।।

ब्रह्मभावेन भावित्वात् ब्रह्मणि व्यपदेशतः ।
स्वार्थे गौणो भवत्येव संसारश्चिदचिन्मयः ।।श्रीः।।
अधिकरणं मया चैतत् ब्रह्मभावैकभावितम्।
श्री वैष्णवमुदे प्रोक्तं रामभद्रार्यधीमता ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु ।।

।। अथात्माधिकरणम् ।।

अथ बहोः कालतः विवादविषयीभूतम् प्रकरणमेतदुत्थापयति। आत्मपरमात्मनोर्मध्ये न कोऽपि भेदः। इत्यद्वैतवादिनां समयः। यश्च भेदः सः प्रातीतिकः नतु पारमार्थिकः। नितरां भेदः अभेद एव औपचारिकः इति द्वैतिनः। केचन अर्धजरतिन्यायेन भेदमभेदञ्च। तत्र भेदाभेदप्रतिपादिकाः उभयप्रकारिकाः श्रुतय उपलभ्यन्ते। एकतरस्वीकारे अपरपक्षीयाणामप्रामाण्यम्। ततो विशिष्टाद्वैतिनो वयम्। जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य पदपंकेरुहपरागरागरसिकः रोलम्बमनसरश्रीवैष्णवाः विशिष्टाद्वैतमुपासीनाः स्वरूपतो जीवब्रह्मभेदं स्वीकुर्वन्तोऽपि शरीरतः अभेदमपि उपगच्छामः। चिद्भोक्ता जीवः। अचिद्भोग्यञ्जगत्। द्वे अपि परमात्मनः शरीरे। ताभ्यां विशिष्टमद्वैतं ब्रह्म विशिष्टाद्वैतम्। यस्य पृथिवी शरीरम्। इत्युक्त्वा यस्यात्मा शरीरमित्यभिधाय चिदचितोः शरीरत्वं ब्रह्मणश्च शरीरित्वं श्रुत्यैवोक्तम्। अतएव अभेदश्रुतयः ब्रह्मशरीराभिप्रायेणाभेदं व्याहरन्ति। यथा शरीरे गौरेऽपि शरीरी प्राह अहं श्यामः अहं गौरः इति व्यवह्रियते। विकाराश्च अचिति शरीरे न तु परमात्मनि शरीरिणि। अवस्थान्तर-प्राप्तिरेव जीवस्य ब्रह्मनिरूपितकार्यत्वम्। मुख्यतस्तु सेवकसेव्यभावसम्बन्धः।। अत एव ब्रह्मदासा इति लभ्यते। स च जीवः ब्रह्मसान्निध्येन आविर्भूतगुणाष्टको भूत्वा भगवत्कैकर्यं कुरुते। इदं सर्वमस्मिन्नधिकरणे आम्नातपूर्वमपि समाम्नायते। इत्यत आह-

नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।।२/३/१९।।

ननु यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तैत्तिरीय ३/२) इत्यनेन स्पष्टं जीवजन्मसंकीर्तनम्? इत्यत आह- नात्मा इत्यादि। आत्मा नोत्पत्तिमान्। कथम्? अश्रुतेः। श्रुतौ निर्देशाभावात्। **न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्।** (कठ० २/१८) प्रत्युत् अनेकश्रुतिभ्यः तस्य नित्यत्वमेव ख्याप्यते। यथ-अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः "(कठ० २/१८)" नित्यो

नित्यानां चेतनश्चेतनानां (श्वे० ६/१३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च तस्य नित्यत्वमेव प्रतिपाद्यते।। यथोक्तं भागवते-

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धि मात्रं
प्राणो यन्थेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्।।

।।भा० ११-३-३८।।

श्रौतप्रामाण्यशून्यवात् नात्मा सञ्जायते क्वचित् ।
ताभ्यस्तु तस्य नित्यत्वं सोपपत्तिप्रतिष्ठितम्।।श्री।।
रामभद्रेणसुधिया ह्यात्माधिकरणं मया।
श्री राघवकृपाभाष्ये यथाशास्त्रमभाष्यत।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ ज्ञाधिकरणम् ।।

अथ जीवात्मा किं अचेतनः। कादाचित्कचेतनो नित्यचेतनो वा? नित्य-चेतन इत्येव सिद्धान्तः। आत्मा न ज्ञानस्वरूप, किं तर्हि? ज्ञानाधिकरणम्। अत एव ज्ञाता। अत आह-

ज्ञोऽत एव ।।२/३/२०।।

अत एव उत्पत्यभावादेव जीवात्मा ज्ञः। जानाति परमात्मानंइति ज्ञः तस्य ज्ञानं भवेन्नाममोहतिरोहितम् कदाचित्। अत एव सर्वावरणभंगायैव सर्वाः उपनिषदः प्रवर्तन्ते। यथोक्तं भागवते-

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमानमात्मानमात्मस्थमतिर्नवेद ।।

भागवत् ११/२८/३१

तथा च प्रश्नोपनिषदि श्रुतिः- एष हि द्रष्टा। स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। (प्रश्न ४/९।।)

ज्ञाता ज्ञानाधिकरणं तथा ज्ञानस्वरूपकम्।

नित्यचेतनरूपोऽयं जीवात्मा भगवत्परः ।।श्रीः।।

किञ्च नायमात्मा व्यापकः। कस्तर्हि? अणुः। अत आह-

"उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" ।।२/३/२१।।

उत्क्रान्तिश्शरीरत्यागः। गतिः परधामप्राप्तिः। अगतिःसंसारचक्रावर्तनम्। आत्मनः उत्क्रान्ति गत्यागतयः श्रुतिषु दृश्यन्ते। अत एव न स विभुः। **उत्क्रान्तिर्यथाः एष सम्प्रसादोस्माच्छरीरात् समुत्त्थाय** (।।छा० १२/३) गतिर्यथा- **अत्रैव परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेनैव स्वरूपेणभिनिष्पद्यते।** आगतिर्थथा- **पुनः पुनः वशमामापद्यते मे।** (कठ० २/१३।।) अतएव श्रीगीतासु स्पष्टमुच्यते भगवता- **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणिविहाय जीणाव्य न्यानि संयाति नवानि देही ।।** (गीता २/२२।।) यथोक्तं भागवते-

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानाहं मनः ।।

(भा० ११/१६/११)

उत्कान्तेश्च गतेश्चैव ह्यगतेश्च श्रुतेष्वपि ।
जीवात्मनस्तु दृष्टत्वात् ततोनासौ विभु र्मतः ।।श्रीः।।

तमेव पक्षं दृष्यति-

स्वात्मना चोत्तरयोः ।।२/३/२२।।

अत्रात्मशब्दः स्वरूपरः। उत्क्रान्तिस्तु कथञ्चिद्विस्मरणेनापि सम्भवेत् विभोः परन्तु उत्तरयोः गतागत्योः स्वात्मन्येव स्वस्वरूपेणैव सम्भवः। तथा सति अणुत्वं निर्विवादम्। तर्हि **नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः** (गीता २/२५।।) इतिभगवद्वचनस्यैवाप्रामाण्यम्? इति चेन् मैवम्। तस्य परमात्मपरकत्व-व्याख्याने दोषाभावात्। अथवा जीवात्मत्वेऽपि नित्यत्वाक्षतिः। स गत इति सर्वगतः इदमणुत्वेऽपि सम्भवं सूक्ष्मत्वात्। यथोक्तं भागवते-

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः।

(भाग० ३/३२/२)

विस्मृतावपि जीवस्य चोत्क्रान्ते सम्भवे ननु ।

उत्तरे तु यथाप्यस्य विनाणुत्वं न सम्भवेत् ।।श्रीः।।

अथ नायमणुः किञ्च विभुरेव। इत्यत आह-

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।।२/३/२३।।

आत्मा अर्णुर्न कथम् अतच्छ्रुतेः। तत्सम्बन्धिनी श्रुतिः तच्छ्रुतिः। न तच्छ्रुतिः अतच्छ्रुतिः। तस्याः अतच्छ्रुतेः। तद्यथा- **स वा एष महान् आत्मा** (बृ० ६/४/२५) इति चेन्न, यदि ब्रूषे महान् इति महत्वसंकेतात् अयं जीवात्मा अणुः न। तदसंगतम्। तत्र इतरस्य व्यपदेशात्। तत्रेतरस्य जीवेतरस्य परब्रह्मणोऽधिकारः। **"यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा"** (बृ० ६/४/१३) इत्यनुगमात्। ब्रह्माधिकारे तत्र महच्छब्दप्रयोगः यथोक्तं भागवते-

एवं विधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ।।
(१०/१४/२४)

श्रुतावविहितत्वाच्च नायमात्मा ह्यणुर्ननु ।
तस्यान्यव्यपदेशत्वात् स एवाणुरुदाहृतः ।।श्रीः।।

स्वशब्दानुमानाभ्याञ्च ।।२/३/२४।।

किञ्च अपराभ्यामपि हेतुभ्यां जीवात्मा अणुरेव। यथा मुण्डके- **"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा"** (मु० ३/१/९।।) किञ्च अनुकूलम्मानमनुमानम् अनूत्तमं मानमनुमानम्। श्रुतया जीवात्मनः मानमपि दर्शितम् तद्यथा- श्वेताश्वतोरापिषदि- **"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चान्त्याय कल्पते"** (श्वेत० ५/९) एवं श्रोतेन शब्देन अनुकूलेन मानेन च हेतुना जीवात्मा अणुरेव न विभुः।। यथोक्तं भागवते-

यथोक्त भागवते-

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत् ।
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ।
१०-१४-२४

श्रुतौ विस्पष्टनिर्देशादनुकूलप्रमाणतः ।
जीवात्माणुर्विभुर्नैव नित्यः सर्वगतोऽपि सः ।।श्री।।

अथ यद्येतावाँल्लघिष्ठो जीवात्मा तर्हि कथं तस्य सम्पूर्णशरीरे सुखदुःखाद्यनुभूतिः। कथञ्च अधिशरीर तस्य प्रभावः इत्यत आह-

अविरोधश्चन्दनवत् ।।२/३/२५।।

चन्दनवत् अविरोधः। यथा एकदेशस्य चन्दनलेपः सम्पूर्णशरीरं सुखयति तथैवायं जीवात्मा एकदेशस्थोऽपि सम्पूर्णशरीरं चेतनावन्तं करोति। शरीरसुख दुःखादिकन्मनुभवति। वस्तुतस्तु चन्दन शब्द न चन्दन लेपपरः प्रत्युत चन्दनवृक्षपरः। यथा चन्दनवृक्षः आरामैकदेशस्थोऽपि सम्पूर्णप्रदेशं यथा वा चन्दनदारूशकलं गृहस्यैक देशस्थंमपि सम्पूर्णगृहम् परिमलयति, तथैव जीवात्मायं हृदैकदेशस्थोऽपि निजचेतनामहिम्ना सम्पूर्णशरीरं चेतनतामातनुते यथोक्तं भागवते-

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती जीर्वस्य मयारचितस्य नित्याः ।
अविर्हिता क्वापि तिरोहिताश्च शुद्धोविचष्टे ह्य विशुद्धकर्तुः ।।

(भा० ५।१।११।१२)

यथा तरुश्चन्दन एकदेशे आराममात्रं सुरभी करोति ।
तथाणुरेष सकलं शरीरं हृदैकदेशोऽपि सुखीकरोति ।।श्रीः।।

ननु दृष्टान्तवैषम्यं चन्दनतरुः एकदेशस्थः सम्पूर्णवनं सुरभयति यतस्तस्यवस्थितिर्निश्चिता। तद्वन्नैतस्य। इति पूर्वपक्षं क्रोडीकृत्याह-

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्दि हि। ।।२/३/२६।

अवस्थितेः वैशेष्यात् न दृष्टान्तमनुकूलमि इति चेन्न, तस्यापि जीवात्मनः, हृदि अवस्थितेः अभ्युपगमात् स्वीकारात्। तथाहि बृहदार्ख्यक- योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदान्तज्योतिः (प्र० ६/३/७) हृदि ह्ययमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम् ।।प्र० ३/६. यथोक्तं भागवते

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमम्।
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे।।

(१०/८७/१८)

अवस्थितेश्च वैशेष्यात् यदि वैषम्यमिष्यते ।
नोचितं तत् यतो ह्यस्य श्रूयते हृदि संथितिः ।।श्रीः।।

अथ स्वमतमाह-

गुणाद्वाऽऽलोकवत् ।।२/३/२७।।

गुणात् वा आलोकवत् इति पदच्छेदः। गुणात् निजचेतनागुणात् हृद्देशस्थितोऽपि अयं जीवात्मा सम्पूर्णं शरीरं चेतयते। किमिव अत आह आलोकवत्। आलोक इव यथा गृहे एकदेशस्थः दीपालोकः प्रभया सम्पूर्णं लोकं भासयति तथैव जीवात्मापि। यथोक्तं भागवते-

ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः।
रजः सत्वतमोवृत्या जायतेऽथ विनश्यति ।।

(१२/५/७)

यथा प्रदीपो भवनैकदेशस्थितो ऽपि धाम प्रभया बिभर्ति ।
तथा हृदिस्थोऽपि किलायमात्मा सर्वं शरीरं विभया बिभर्ति ।।श्रीः।।

ननु गुणिगुणिनोः सहभावात् कथमात्मस्थचेतना आत्मानं विहाय सकलशरीरे संचरतीति जिज्ञासमानमुत्तरयन् सूत्रयति-

व्यतिरेको गन्धवत्तथाच दर्शयति ।।२/३/२८।।

गुणितो गुणस्य व्यतिरेको भवति। कथमिव। गन्धवत्। यथा पृथिव्याः गन्धः पृथिवाव्यतिरिक्तोऽनुभूयते। न कस्यचित् पुष्प घ्राणकाले शब्देन सह गन्धवती पृथिवी अपि न नासिकां गच्छति एवमेव जीवात्मनश्चेतना जीवात्मनो व्यतिरिक्ता शरीरं सज्ञानं करोति। पुरुषोऽयं जानाति इति श्रुतिरपि ज्ञान गुणं गुणिनो दर्शयति इत्यनेन विज्ञानमात्मेति परास्तम्। तर्हि **योऽयं विज्ञाने तिष्ठन्** (प्र० ३/७/२२।) इत्यस्य का गतिः? सद्गतिरेव। अनवगतशब्दः शास्त्र रहस्यस्त्वम्। विज्ञायते येन तद्विज्ञानम्। करणेल्युट् यथोक्तं भागवते-

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्
यत् स्थयैं भूभृतां भूमेर्वृतिर्गन्धोऽर्न्थतो भवान्।।

(१०/८५/७)

यथा प्रसूनव्यतिरिक्तगन्धः संघ्रातमात्रो मृडयत्यशेषम् ।
तथैव चात्मव्यतिरिक्तयैव देहः पुनश्चेतनया विभाति ।।श्रीः।।

अन्यदपि ज्ञानगुणात्मजीवात्मभेदः स्पष्टं दृश्यते।

पृथगुपदेशात् ।।२/३/२९।।

अन्यथा बृहदारण्यके- न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ।। (बृ० ६/३/३०) यथा च काठके प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् अत्र प्रज्ञानेन इति करणे

तृतीया। आप्नुयात् इति कर्तरि तिप्। कर्तृकरणयोर्भेदस्तु सर्वतन्त्रसिद्धः। अतः पृथग् उपदेशात् जीवात्मनः ज्ञानस्य। निजगुणेन स निखिलं शरीरं स चेतनं करोति। यथोक्तं भागवते-

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे, च्छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहं।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं, वन्दे परं प्रकृतिपूरूषयोः पुमांसम् ।।

(भा० ३/३१/१४)

ज्ञानात्पृथगुपदेशाज्जीवात्मा ज्ञानतो भिन्नः ।
हृदयसदनमधितिष्ठन् सकलं चिदचित्प्रकाशयति ।।श्रीः।।

ननु यदि ज्ञानगुणो जीवात्मानो व्यतिरिक्तः तर्हिं विज्ञानं यज्ञं तनुते (तै० २१५) यो विज्ञाने तिष्ठन् (वृ० ३/७/२२) इत्यादि स्थलेषु कथं जीवात्मनः कृते विज्ञानशब्दस्य प्रयोगः इति चेदाह-

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।।२/३/३०।।

तु शब्दो निश्चयार्थकः।। तद् गुणः एव सारः यस्मिन् तस्य भावस्तत्त्वम् तस्मात्। विज्ञानगुणस्यैव सारभूतत्वात् तदाधिक्येन जीवात्मनि विज्ञानशब्दस्य व्यपदेशः। यथा सत्स्वपि वात्सल्यकारूण्यतारूण्यप्रभृतिनिरतिशयनिरुपद्रव-निखिलकल्याणगुणगणेषु परमात्मनि प्रज्ञासारत्वात् प्राज्ञ इति वदन्ति। तथैव विज्ञानसारत्वात् इदं विज्ञानमिति व्यपदिशन्ति। यथोक्तं भागवते-

कर्मास्तु हेतुः सुख दुःखयोश्चेत् किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ।।

(११/२३/५५)

विज्ञानगुणसारत्वाद् विज्ञानोऽयमितीर्यते ।
प्रज्ञानगुणसारत्वात् प्रज्ञानं च यथा हरिः ।।श्रीः।।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ।।२/३/३१

किञ्च जीवात्मनो ज्ञानाख्यो गुणो यावदात्मभावी। यावद् इत्यवधारणे। भावनं प्रसन्नतोत्पादनम् आत्मा हरिः जीवात्मनो ज्ञानम् परमात्मानं भावयति। अतः भगवत्प्रसादसाधनत्वात् तद्व्यपदेशेऽपि न दोषः। दृश्यते चेत्थम्। प्रधाने व्यपदेशो भवति यथा मैत्रः पण्डितः "पाण्डित्यप्रधानत्वात् पण्डितः, भगवत्तत्वज्ञानं भगवत्प्रसादकारणं भवति।" अतएव ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः। (गीता ७/१७।।)

यथोक्तं भागवते-

त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक्, परस्यपुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावभ्युदयोऽधिगण्यताम्।।
(१/५/२)

जीवात्मज्ञानगुणो परमात्मप्रसादनम् ।
यावत्तद्व्यपदेशत्वात् श्रुतौ तद्धद्धि दृश्यते ।।श्रीः।।

किञ्च ज्ञानं न जीवात्मनो मुख्यगुणः। सुषुप्तौ मूर्च्छायाञ्च तस्यानभिव्यक्तेः। अत आह-

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।२/३/३२।।

नायं पक्षः समीचीनः। पुंस्त्वादिवत्। अस्य सतः अभिव्यक्तियोगात्। यथा बाल्ये बालकस्य पुंस्त्वम् कन्याश्च वनितात्व अनभिव्यक्तम् यौवने स्वत एव प्रमूटीभवति। तथैव सुषुप्तौ मूर्च्छायामविद्यातोऽपि तिरोहितं ज्ञानं पुनः तदनुकूलसामग्रीसमवधाने अभिव्यक्तं भवति। सतो हि प्राकट्यं न हि क्लीबस्य यौवनेऽपि पुंस्त्वाभिव्यक्तिः। तस्मात् केनचित् कारणेन अनभिव्यक्तं ज्ञानं नासत्वेला पितुं शक्यते। यथोक्तं भागवते-

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठा।
व्यन्र्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसा, मत्त परावृत्तधियां स्वलोकात् ।।
(११/२२/३३)

यथैव पुंस्त्वादितिरोहितं शिशौ तथा च योनिः प्रकटीभवत्यथ ।
तथात्मनि ज्ञानगुणस्तिरोहितः स ईशभक्त्या प्रकटः प्रभासते ।।श्रीः।।

किञ्च आत्मनो विभुत्वपक्षे दोष त्रयसमुद्भावनं-

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतर नियमो वाऽन्यथा ।।२/३/३३।।

यदि आत्मा नित्यः ज्ञानवान् तर्हि तस्य नित्यमुपलब्धिःस्यात्। यद्वा-नित्यमेवानुपलब्धिः स्यात्। अथवा- विपरीतःक्वचिन्नित्यमेवोपलब्धिः। क्वचिद्वानित्यमेवानुपलब्धिः। इति महान् वै व्यवहारविरुद्धो दोषः स्यात्। तस्मात् अणुत्वपक्ष एव ज्यायान्। तथा सति हृत्पुण्डरीके विराजमानः यतमानेन स्वशरीरावच्छिन्नेन कर्त्रा लब्धुं शक्यते। परशरीरेण च कर्त्रा न

लब्धुं शक्यते। यथोक्तं भागवते-

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदन पाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यन्थेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्।

(भाग० ११/३/३८)

नित्योपलब्धिर्ह्य- पलब्ध्यभावस्तथा विकल्पो मनसि स्थितः स्यात् ।
दोषत्रयं दुस्तर सिन्धुवत्स्याज्जीवात्मनश्चैव विभुत्ववादे।।
इत्येवं ज्ञाधिकरणं श्रितसूत्रचतुर्दशि।
श्रीरामभद्रविदुषा भाषितं रामतुष्टये।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ कर्त्रधिकरणम् ।।

एवं ज्ञातृत्वं निरूप्य साम्प्रतमात्मनः कर्तृत्वं विचार्यते। ननु नात्मा कर्ता, कठोपनिषदि द्वितीयवल्यां तस्य हननादिनिषेधात्। यथा-

हन्ता चेत् मन्यते हन्तुं हतश्चेत् मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति नहन्यते ।।

(कठ० २-१-१९ एवं श्री गीतासु)

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

(गीता २-१९)

एवं "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।।गीता १४-१९ इत्यादि वचनात्। इत्यत आह-

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ।।२-३-३४।।

जीवात्माकर्ता। कथं? शास्त्रार्थवत्वात्। शास्त्राणाम् अर्थवत्वं शास्त्रार्थवत्वं तस्मात् शास्त्रार्थवत्वात्। जीवात्मानमेव कर्तारं मत्वा विधिनिषेधात्मकानि शास्त्राणि अर्थवन्ति भवन्ति। "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत् "अग्निहोत्रं जुहुयात्" "दिवा मा स्वाप्सीः"- "इत्यादि विधिनिषेधानि वचनानि क्वार्थवत्तां स्थापयेयुः।।

यथोक्तं भागवते-

त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो।
महति महीयसेअष्टगुणितेऽपरिमेयभगः।।

(१०/८७/३८)

सर्वाणि विधिशास्त्राणि निषेधवचनानि च ।
कर्तर्येवार्थवन्तीति कर्तात्मा श्रुतिसम्भतः ।।श्रीः।।

किं च बृहदारण्यके उपादानस्य वर्णनं वर्तते। "**तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय**" (बृ० उ० ४-१-१७)

"एवमेवैष एतान् गृहीत्वा ।।बृ० उ० ४-१-१८ अत्र कर्त्तृत्वमन्तरेण आदाय, गृहीत्वा इति क्रियाबोधितमुपादानं कथं सङ्गच्छेत्। अतोऽपि कर्त्तृत्वं जीवात्मनः। तथाचाह-"

"उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ।।२/३/३५।।

एवमुपादानेन विहारस्य च उपदेशेन अस्य कर्तृत्वम्। विहारोपदेशो यथा- 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ।।ब्रृ० उ० ४-१८ यथोक्तं भागवते-

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽन्र्थान्
भुङ्क्ते समस्त करणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः।

(भा० ११/१३/३२)

उपादानात्क्रियाणां च विहारस्योपदेशनात् ।
जीवात्मनोऽस्ति कर्तृत्वं घटेते नान्यथा हि ते ।।श्रीः।।

किं च अपरेणापि श्रौतहेतुना जीवात्मनः कर्त्तृत्वम्।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।।२/३/३६।।

तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यां जीवात्मनः कृते क्रियायां कर्तृत्वेन व्यपदेशो वर्तते। यथा "**विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च** (तै० उ० २-५-१) अत्र कर्तृत्वमन्तरेण विज्ञानपर्यायो जीवात्मा यज्ञं कर्माणि च कथं तनुयात्। न च विज्ञानपदं बुद्धिपर्यायमिति वाच्यम्। तथा सति करणत्वेन निर्देशः स्यात्। यतो

हि बुद्धिः करणम्। न चेत् तत्र निर्देशे तृतीया विपर्ययः अन्यथा विज्ञानेन इत्येव स्यात् यथोक्तं भागवते-

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं संयच्छति च पाति च।।

(२/६/३८)

व्यपदेशात् क्रियायां च कर्तृत्वात्प्रत्यगात्मनः ।
स कर्ता विपरीतः स्यान्निर्देशोऽप्यत्र चान्यथा।।श्रीः।।

अपरामप्यनुपत्ति दर्शयति-

उपलब्धिवदनियमः ।।२-३-३७।।

यथा पूर्वं ज्ञाधिकरणे नित्योपलब्धौ अनियमः प्रतिपादितः। तथैवात्रापि जीवात्मान्यकर्त्तरि प्रधानादौ कर्तृत्वे सर्वेऽपि भोक्तारः स्युः। सर्वे वा भोगविरताः स्युः। प्रत्येकक्रियायौगपद्येन सर्वेषां स्यात्। अतो जीवात्मैव कर्ता यथोक्तं भागवते-

न घटत उद्भवःप्रकृतिपुरुषयोरजयोरुभयरूजाभवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुद्वत्।
त्वयित इमे ततो विविधनामगुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनिलिल्युरशेषरसाः।।

(१०/८७/३१)

जीवात्मनो ह्यकर्तृत्वे उपलब्धिसमं समम् ।
विपरीतदशां गच्छेत्ततो ह्यनियमो भवेत् ।।श्रीः।।

किंचापरोऽप्यनर्थः स्यात् जीवात्मनोऽकर्तृत्वे।

शक्तिविपर्ययात् ।।२-३-३८।।

जीवात्मनः अकर्तृत्वे बुद्धेश्च कर्तृत्वे तस्य भोक्तृत्वशक्तेः विपर्ययः स्यात्। एवमात्मापि निष्प्रमाणकः स्यात्। अतो जीवात्मनः कर्तृत्वम्। यथोक्तं भागवते-

स्वकृतपुरेष्वमाष्वबहिरन्तर संवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासनेऽङ्घ्रिभवं भुवि विश्वसिताः

१०/८७/२०

जीवात्मनो ह्यकर्त्तृत्वे कर्त्तृत्वे प्रकृतेर्मते ।
शक्तेर्विपर्ययात्तस्य स्थादात्मा निष्प्रमाणकः ।।श्रीः।।

अपरोऽपि दुर्निवारो हेतुर्दीयते-

समाध्यभावाच्च ।।२/३/३९।।

यदि जीवात्मा नाङ्गीकरिष्यते, तदा समाधिर्न भविष्यति। समाधिश्च ईश्वरप्रणिधानेन भवति। ईश्वर प्रणिधानं कर्तारमन्तरेण न घटते। अचेतनं प्रधानं किं समाधास्यते। ततो जीवस्य कर्तृत्वम् यथोक्तं भागवते-

तानाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध धियाः स्वात्मात्मानमदस्तन्थेदम् ।
यन्था समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे।।
(११/१२/१२)

आत्मनश्चाप्यकर्तृत्वे समाधिर्नोपपद्यते ।
तस्य वै कर्त्र्यधीनत्वात् जडत्वात्प्रकृतौ न सः ।।श्रीः।।

किंच बुद्धेः कर्तृत्वे प्रकृतेर्वा कर्तृत्वे क्रियास्वातन्त्र्यं न स्यात्।

यथा च तक्षोभयथा ।।२/३/४०।।

तक्षः वर्धकिः उभयथा उभयेन प्रकारेण यथा वर्धकिः उपकरणे सति यथेच्छं कार्ये प्रवर्तते कदापि विरमति च, तथैव जीवात्मा हस्तपादादौ सत्यपि कदापि कुरुते कदापि विश्राम्यति। एवं बुद्ध्यादौ न स्यात्। यन्त्रमानववत् सततं क्रियाप्रवाहः प्रवर्ततेत। अतो जीवात्मनः कर्तृत्वम्। यथोक्तं भागवते-

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्।।
(भा० ३/२६/८)

यथा च तक्षोभयथा सुखाय करोति कार्यं सति साधने वै ।
तथायमात्मा सति हस्तपादे क्वचित्प्रवृतिं क्वचिदप्रवृत्तिम् ।।श्रीः।

"इदं चैवाधिकरणं स्वात्मकर्त्र्तृत्वसाधकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं सत्प्रमोदकृत्।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।। अथ परायत्ताधिकरणम्।।

ननु जीवस्य कर्तृत्वं स्वतन्त्रं परतन्त्रं वा? इत्यत आह-

परात्तु तच्छ्रुतेः ।।२/३/४१।।

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः परादित्यत्र ल्यब्लोपेपञ्चमी। परमपेक्ष्यैव का सा श्रुतिः? "**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** ।।तै० आ० ३-११-१०, किं च "य आत्मानमन्तरो यमयति ।।बृ० उ० ३-७-२२, अन्यापि श्रुतिः- "**एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो** लोकेभ्यो नुनुत्सते ।।कौ० ३-९ जीवात्मनः कर्तृत्वं परमात्माधीनम्। परमात्मैव तं प्रेरयति । जीवो भोक्ता, जगद्भोग्यं, परमात्माप्रेरकः। तथा च श्रुतिः- **'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वेत० उ० १/१२)** अतएव गीतासु जीवात्मनः स्वतन्त्रकर्तृत्वं निषिध्यते। यथा- सति कर्तारमात्मानं केवलं तुयः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।) अत्र केवल शब्दः स्वातन्त्र्यपरः। (तत्रैवं गीता १८/१६) यथोक्तं भागवते-

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि
न शस्येति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ
भवेत्षसमनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया।।

१०/८७/३०

जीवात्मनस्तु कर्तृत्वं परात्मानमपेक्ष्य हि ।
तादृशाच्छ्रुतिलिङ्गाच्च ह्यान्तर्यामि प्रकरणतः ।।श्रीः।।

नन्वनेन ईश्वरे वैषम्यनिर्दयत्वापत्तिः। इत्यत आह-

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः (२/३/४२)

विहितस्य सन्ध्यादेः प्रतिषिद्धस्य चौर्यादेश्च अवैयर्थ्यात् सोऽन्तर्यामी जीवस्य कृतप्रयत्नमपेक्ष्यैव ईश्वरः तत्तत् कर्मसु तमनुमन्यते। केचन तथाकथितसुधारवादिनः प्रतिभायुक्तं मन्यमानाः अत्र भगवत्प्रेरकत्वं न स्वीकुर्वन्ति। एवंविधैः नास्तिकैः किम्? यदि भगवत्प्रेरणा श्रुतिविहिता न स्यात् तदा गायत्री मन्त्रे- "धियो योनः प्रचोदयात् "इति प्रयुक्तं न स्यात्। जीवः कर्मकरणे हस्तचरणादिदृष्ट्या स्वतन्त्रः। किन्तु अनुमन्ता परमेश्वर एव। अयं भावः

अनुमतिर्नाम सत्स्वसत्सु च मूकस्वीकृतिः। सामान्यजीवान् प्रति जीवात्मन इच्छायामुउपेक्षकतया मूकस्वीकृतिं ददाति। किन्तु निजचरणसरसिजप्रपन्नान् प्रति भगवान् अर्भकवत्सला मातेव भवति। वारयत्यशुभेभ्यः नियुङ्क्ते च शुभेषु। किन्त्वभक्तान् प्रति ताटस्थ्यं वर्तयति। यथा पाण्डवगीतायां दुर्योधनः कथयति-

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।।

(पा० गी० २८)

यथोक्तं भागवते-

श्रृण्वन गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो राविष्टचेता न भवाय कल्पते।।

(भा० १०/२/३७)

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु परात्माप्रत्यगात्मनः ।
त्रातुं विधिं निषेधं च ताटस्थ्यमनुवर्तयन् ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिकरणं परायत्ताख्यमादरात्।
आचार्यो रामभद्रोऽसौ व्याख्यच्छ्रीरामतुष्टये।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथांशाधिकरणम्।।

अथ जीवः ईश्वरस्य अंशो न वा? इति पक्षं विचारयितुं अधिकरणमेतत् प्रारभ्यते। अत्र पक्षत्रयम्। को नाम अयं जीवात्मा स्वतन्त्रसत्ताकः, अंशः यद्वा उपाध्यवच्छिन्नः परमात्मैव। एषु न तावत् स्वतन्त्रसत्ताकः सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाहानेः। न तावदुपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्म श्रुतिषु असकृद् भेदनिर्देशात्। कस्तावत्? इत्यत आह-

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके ।।२-३-४३।।

नाना व्यपदेशात्। चकारेण अनानाव्यपदेशाच्च। जीवः परमात्मनः अंशः। नाना व्यपदेशो यथा- "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कमान् ।।श्वे० उ० ६-१३ "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम् ।।बृ० उ० ३-७-२२ एवम् अनाना व्यपदेशोऽपि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म

(छा० उ० ३-१४-१) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् (छा० उ० ८-७-१) इति भेदाभेदनिर्देशाः अंशत्वमन्तरेण न संगस्यन्ते। किंच एके शाखाध्यायिनः दासकित वादित्वं अधीयते। "ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः" अत्र ब्रह्मैव इमे अनानात्व व्यपदेशः। तस्मात् चिच्छरीरभूतोऽयं जीवः परमात्मनः अंशः विशेषणम्। खण्डपर्याये अखण्डे सखण्डतापत्तिः। अत एव अंशत्वं विशेषणत्वमेव। यथोक्तं भागवते-

घनोऽर्कप्रभवोऽर्क दर्शितो ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ।।

(भा० १२/४/३२)

अनेक व्यपदेशाच्च जीवात्मापरमात्मनः ।
अंशोऽन्यथा दासकितवादित्वं नैवोपपद्यते ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह-

"मन्त्रवर्णाच्च ।।२-३-४४।।

मन्त्रस्य वर्णेऽपि जीवेश्वरयोः अंशांशिभावः साधितः। "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (शु० य० ३१-३) यथोक्तं भागवते-

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च
वासुदेवात्परो ब्रह्मन् चान्योऽर्थोऽस्ति तत्वतः।

(भाग २/५/१४)

मन्त्रवर्णेऽपि दृष्टोऽस्ति जीवात्मपरमात्मनोः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि इति श्रौतं वचः किल ।।श्रीः।।

स्मृतिमप्युदाहरति-

'अपि च स्मर्यते ।।२-३-४५।।

किं च जीवः परमेश्वरांशः इति श्रीगीतायां भगवतापि स्मर्यते। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।।गीता १५-७ न च अंशशब्दः अंशशब्दे लाक्षणिकमिति वाच्यम्। सनातन इति पदेन तस्य शाश्वतत्वात्। न च उपाध्यवच्छिन्न चेतनांश एवेति वाच्यम्? सनातन इति पदेन तस्यापि निरासात्। यथोक्तं भागवते-

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवः।

तद्धि स्वयं वेद भवास्तथापि वै प्रादेश मात्रं भवतः प्रदर्शितम्।

(भा० १/५/२०)

श्री गीतायां भगवता जीवात्मपरमात्मनोः ।
अंशाशिभावः प्रागुक्तो ममैवांशेति वादिना ।।श्रीः।।

नन्वंशांशिभावस्वीकारे ब्रह्मणो गुणाः जीवे आगच्छेयुः। इत्यत आह-

"प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ।।२-३-४६।।

प्रकाशादिना तुल्यं प्रकाशादिवत्। यथा सूर्यः प्रकाशो न भवति। सूर्यस्य व्यापकत्वादि गुणाः प्रकाशे नागन्तुं शक्याः तथैवाल्पपरिमाणे जीवे परमेश्वरस्य सर्वे गुणाः न आगच्छन्ति। अहो बिन्दौ सिन्धुर्न सम्माति। किं च अद्वैताचार्य शंकराचार्योऽप्याह-

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामद्रो हि तरङ्गः क्वचित् समुद्रो न तारङ्गः।।

यद्वा- प्रकाशादिवदेवं परो नः यथा प्रकाशः सूर्यादिः बाह्यदोषैर्न लिप्यते तथैव परमात्मापि। वस्तुतः पूर्वव्याख्यानमेव ज्यायः। प्रकाशः अंशः। अल्पकिरण इव अल्पशक्तिमान्। यथा सूर्यः प्रकाशे न सम्माति एवमेव परः परमात्मा अंशे जीवे न सम्माति। अतएव जीवतस्तस्याधिकत्वं संगच्छते। यथोक्तं भागवते-

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलसत्यवबोधक ते
कचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।

यथा प्रकाशे सूर्यादिः प्रकाशो नो विलीयते ।
एवं जीवात्मनि ह्यंशे नांशी सम्माति राघवः ।।श्रीः।।

पुराणान्यपि जीवेश्वरयोः अंशांशिभावं स्मरन्ति। श्रुतिमूलकम्।

स्मरन्ति च ।।२/३/४७।।

यथा-

"एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ।।

(वि० पु० २-२२-५६)

यथोक्तं भागवते-

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याविद्यमानादिर्विद्यया च तथेतर :

(भाग ११/११/४)

अष्टादशपुराणानि इतिहासौ धर्मसम्मिताः ।
स्मरन्ति सर्वे ह्यंशांशीभावं जीवपरात्मनोः ।।श्रीः।।

ननु सर्वेषां जीवानां भगवदंशत्वे सिद्धे विधिनिषेधयोः कथं प्रवृत्तिः समानत्वात्? इत्यत आह-

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।।२/३/४८।।

अनुज्ञा विधिः, परिहारो निषेधः इमौ देहसम्बन्धमपेक्ष्यैव सेत्स्यतः। पुण्यकृद्देहावच्छिन्नस्य भगवदंशस्य जीवस्य विधिः पापकृद् देहनिष्ठस्य निषेधः। उदाहरणमाह **"ज्योतिरादिवत्"** यथा समानेऽप्यग्नित्वे यज्ञाग्नेर्ग्राह्यत्वम्। श्मशानाग्नेपरिहार्यत्वम्। तथैव समानेऽपि ईश्वरांशे अवैष्णवाः हेयाः श्रीवैष्णवाः ग्राह्याः। यथोक्तं श्रीमद्भागवते-

"विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः ।।

(भागवत ७-९-१०)

यथा च-

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा।
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः।।

अुसतृपयोगिनामुभभयतोऽप्यसुखं भगव- न्नगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः।।
(१०/८७/३९)

अनुज्ञा परिहारौ च देहसम्बन्धमाश्रितौ ।
समानत्वेऽयज्ञाग्निः श्मशानाग्निप्रयोगवत् ।।श्रीः।।

उपसंहरति ब्रह्मजीवयोः साम्येऽपि द्वयोर्गुणानां नव्यतिकरः। अत आह-

असन्ततेश्चाव्यंतिकरः ।।२/३/४९।।

जीवानामणुत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात्। प्रतिशरीरं भिन्नत्वात् जीवानां

सन्ततेः सम्बन्धस्याभावात गुणानामअव्यतिकरः, सङ्कराभावोऽपि। सुतरां सिद्धः। यथोक्तं भागवते-

इति सदजानतां मिन्थुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहिते स्वनिरस्तभगे।
स्वजन सुतात्मदारधनधामधरासुरथै
स्त्वयि सति किंनृणां श्रपत आत्मनि सर्वरसे।

(१०/८७/३४)

अणुत्वव्यापकत्व.दि मिथो विषमधर्मिणोः ।
गुणव्यतिकरो नैव जीवात्मपरमात्मनोः ।।श्रीः।।

ननु अंशत्वात् जीवानां साम्ये अन्यकृतकर्मणामअन्यत्र भोगसङ्करः स्यात्। यद्वा भवन्तु नाम जीवाः पृथक् पृथक्। इत्यत आह-

आभासा एव च ।।२/३/५०।।

ते सर्वे आभासा एव। श्रुतिप्रामाण्याभावात्। एवमेव सर्वे वादाः अपि आभासाः। विशिष्टाद्वैतवाद एव शास्त्रसम्मतः। युक्तियुक्तत्वात् यथोक्तं भागवते-

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ।। २/९/१
जीवात्मना स्वतन्त्रत्वं कर्मणां संकरस्तथा ।
समत्वमिति चाभासा अश्रुतत्वादुपेक्षिताः ।।श्रीः।।

अन्योऽपिदोषः-

अदृष्टानियमात् ।।२/३/५१।।

जीवस्य स्वातन्त्र्ये उपाध्यवच्छेदेवा अदृष्टस्य नियमः न स्यात्। स्वातन्त्र्ये अल्पज्ञो जीवात्मा स्वकृतकर्मणां शुभाशुभव्यवस्थां न कर्तुं शक्नुयात्। स्वयं च कर्माणि जडत्वात् न फलदाने प्रभवेयुः यथा शिवमहिम्ने- **"क्वकर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।"** (शिवम० २०)। उपाध्यवच्छेदे परमात्मा स्वमेव कथं कर्मफले योजयेत्। तस्मात् अंशांशिभाव एव युक्तः यथोक्तं भागवते-

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।
योनिनां गुणवैशम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ।

(भाग० ३/२८/४३)

जीवात्मा यदि नांशः स्यादंशिनः परमात्मनः ।
तदाह्यदृष्टनियमो न घटेत कदाचन ।।श्रीः।।

एवं सङ्कल्पादावपि दोषः-

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।।२/३/५२।।

अभिसन्धिः सङ्कल्पः स आदिर्येषां तेषु अभिसन्ध्यादिषु एवमेव दोषः स्यात्। उपाध्यवच्छिन्नानां जीवानां न स्वतन्त्राः संकल्पाः न वा ईश्वरसंकल्पाद्भिन्नाः। अतो कथमुपपद्येत। तस्मात् जीवः परमात्मनः सनातनः अंशः। यथोक्तं भागवते-

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमन्तरं त्ववहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति।
(भाग० ५/११/१२)

जीवात्मा यदि नांशःस्याद् देवस्य परमात्मनः।
संकल्पाद्यास्तदा तस्य न सिध्येयुः कथञ्चन ।।श्रीः।।

किं च उपाधौ सर्वत्र सर्वेषामन्तर्भावः। अत आह-

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् ।।२/३/५३।।

ननु उपाधीनां देशभेदात् सर्वेषां जीवानां कर्मविभागो भविष्यति? इति चेन्न। अन्तर्भावात्। उपाधिभेदेऽपि उपधेयेस्यैक्ये उपाधेय कर्मणामुपाधिष्वन्तर्भावात् न व्यवस्था। तस्मात् जीवः अंशः परब्रह्म अंशी।

अंशोजीवो नातिभिन्नः खरारे- रल्पज्ञोऽसौ व्याप्यभूतो ह्यणुश्च।
सर्वज्ञोऽशी व्यापकब्रह्मरूपः सीतानाथो रामचन्द्रो धनुर्धृक् ।।

यथोक्तं भागवते-

यतो यतो धावति दैव चोदितं मनो विकारात्मममाप पञ्चसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते।।
(१०/१/४२)

प्रदेशभेदो नो शंक्यः स्वावच्छिन्नाखिलात्मनाम्।
तत्तदुपाययुक्तत्वादन्तर्भावश्च ब्रह्मणि ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिकरणं जीवे सांशांशिनिर्णयम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये हरेः।।

तृतीयोऽयं मया पादो द्वितीयाध्याय गोचरः।
श्री वैष्णव प्रमोदाय ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।

इति श्री चित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामीरामभद्राचार्यकृतौ श्रीमद्बादरायणवेदव्यास-प्रणीते ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभाष्ये अविरोधाख्ये द्वितीयाध्याये तृतीयपादः सम्पूर्णः।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादः

चतुर्थविगतान् कुर्वन् सदाप्रियचतुर्थकान्।
चतुर्थेऽसौ विजयते चतुर्थो राम ईश्वरः।।

।। अथ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ।।

पूर्वस्मिन् पादे जीवभोगायतन कारणीभूतानां आकाशादीनामुत्पत्तिमुक्त्वा इदानीं सूक्ष्मशरीराङ्गाना प्राणानां उत्पन्ति विचारयति।

तथा प्राणाः ।।२/४/१।।

यथा आकाशादयः उत्पद्यन्ते तथैव प्राणा अपि। यथोक्तम्- **एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च।**

यथोक्तं भागवते-

स वै तद्धैव प्रतिपादिनां गिर, दैवीं परिज्ञात परात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः
(भा० ४/९/५)

आकाशादीनि भूतानि जायन्ते ब्राह्मणे यथा।
तथा प्रांणादयः सर्वे उत्पद्यन्ते हरेः किल ।।श्रीः।।

ननु प्राणोत्पत्तिविधायिका श्रुतिर्गौणी स्यात् , इत्यत आह-

गौण्यसम्भवात् ।।२/४/२।।

अत्र गौणीश्रुतिः कल्पयितुं न शक्यते। कथम्? असम्भवात् । बह्वीनां श्रुतीनां प्राणोत्पत्ति समर्थकत्वात् यथोक्तं भागवते-

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विशेष्टतः।
ओजः सहोबलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ।।

२/१०/१५)

बह्वीनामनुरोघाच्च श्रुतीनां प्राणजन्मनः।
असम्भवा न मन्तव्या गौणी सा श्रुतिरद्भुता ।।श्रीः।।

अपरं हेतुमाह-

तत्प्राक् श्रुतेश्च ।।२/४/३।।

यथाकाशादीनांउत्पत्तिः ब्रह्मणः स्वीकृता तथैव प्राणादीनामपि उत्पत्तिः स्वीकर्तव्या। अस्यामेव श्रुतौ आकाशादीनामुत्पत्तेः प्राक् प्राणोत्पत्तिः श्रूयतेः। यथा एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणीति यथोक्तं भागवते-

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवभिवानुगाः।

(२/१०/१६)

अस्यामेवश्रुतौ पूर्वं खादीनां चैव जन्मतः।
प्राणादिजन्म श्रवणात्सा गौणी नो कथंचन ।।श्रीः।।

उपपत्तिमाह-

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।।२/४/४।।

तर्हि इदम् अव्याकृतम्। नामरूपाभ्यां व्याक्रियत इत्यत्र वागुत्पति वर्णनम्। वाक्यप्राणोत्पत्तिं विना नोत्पद्यते। अतोऽपि प्राणोत्पत्तिः श्रुतिसिद्धा। यथोक्तं भागवते-

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः।

भा० २-१०-३६

प्राणात्पूर्वं श्रुतौ प्रोक्ता वाच उत्पत्तिरद्भुता।
ततस्तेनापि मानेन प्राणाद्या ब्रह्मसंभवाः ।।श्रीः।।
इत्थं प्राणोत्पत्यधिकरणं सीताप्राणकृपाफले।
श्रीराघवकृपाभाष्ये रामभद्रः समीरयत्।।

।। अथ सप्तगत्यधिकरणम् ।।

एवं प्राणपूर्वकाणां इन्द्रियाणां उत्पत्ति वर्णयित्वा तेषां संख्यां विचारयति।

सप्तगतेर्विशेषितत्वाञ्च ।।२/४/५।।

इन्द्रियाणि सप्तैव। कथम्? तेषामेव गतेः तेषमेव विशेषितत्वाच्च। यथा- **सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहितास्सप्त सप्त** (मु० २/१/८) तथा च **यदा पञ्चापि तिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां** गतिम्।। ५/६/१०।। तस्मात् सप्तैवेन्द्रियाणीति पूर्वः पक्षः। यथोक्तं भागवते-

केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ।।

११/२२/२)

पञ्चप्राणामनोबुद्धिर्सप्तानामिह चैन्द्रियम्।
संश्रावितं च श्रुत्या भाषया भाषणार्हया ।।श्रीः।।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।।२/४/६।।

स्थानं स्थितम्। तस्मिन् स्थिते भावेक्त प्रत्ययः। हस्तादयः हस्तपादपायूपस्थाः इन्द्रिय विशेषाः सन्ति। एवं स्थिते प्रत्यक्षतः सिद्धे सप्तैवेन्द्रियाणि इति न वाच्यम्। किञ्च- बृहदरण्यके "**दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश** (बृ० ३/९/४) आत्मात्र मनस्तात्पर्यकः यथोक्तं भागवते-

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेतिज्ञानश्शक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाखङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः।।

।।भा० ११-१२-१५

प्रत्यक्षेणैव प्रमिते वाक्पात्पाणिपायूपस्थकाः।
ज्ञानेन्द्रिय सह प्रोक्ता दशेन्द्रियगणा श्रुतौ ।।श्रीः।।
द्वितीयञ्चाधिकरणम् चतुर्थाघ्रौ यथाश्रुतम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ प्राणाणुत्वाधिकरणम्

एवं इमे प्राणाः विभवो अणवो वा? इत्यत आह-

अणवश्च ।।२/४/७।।

चकार एवार्थः। इमे अणव एव सन्ति। अत एव बृहदारण्यके- **प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः अनुत्क्रामन्ति** (बृ० ४/४/२) यथोक्तं भागवते-

एवं कृणात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु।।

(भाग० ११/३/३०)

बृहदारण्यकश्रुत्या बोधिताणुत्वलक्षणा।
ब्रह्मजा सकला प्राणाः प्रत्यक्षमणवः श्रुताः ।।श्रीः।।
तृतीयञ्चाधिकरणं प्राणाणुत्वप्रदर्शकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण तूर्ये प्रोक्तं द्वितीयके।।

श्री राघवः शंतनोतु।

।।अथ श्रैष्ठ्याधिकरणम्।।

अत्र पूर्वपक्षः अयंप्राणः इन्द्रियेभ्यः श्रेष्ठः। उताहो इन्द्रियाणि श्रेष्ठानि? इत्यत आह-

श्रेष्ठश्च ।।२/४/८।।

प्राणः श्रेष्ठः चकाराज्ज्येष्ठोऽपि भूतादीनामिन्द्रियदीनाञ्च उत्पत्तेः प्राक् तस्यैवोत्पत्तिः श्रुतेः। एतस्माज्जायते प्राणः मनः प्राणेन्द्रियाणि च। इह पूर्वं प्राणः अनन्तरमिन्द्रियाणि। अनन्तरञ्च भूतान्येव वर्णितानि। यथोक्तं भागवते-

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः।।

(भा० २-१०-१५)

भूतानामिन्द्रियाणां च उत्पत्तेः प्राग्जनिश्रुतेः।
प्राणा ज्येष्ठाश्च श्रेष्ठाश्च बृहदारण्यकान्मताः ।।श्रीः।।

इति श्रैष्ट्याधिकरणं श्रौतसिद्धान्तमण्डितम्।
रामभद्रेण विदुषा भाषितं भाष्य उत्तमे।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ वायुक्रियाधिकरणम् ।।

नन्वयं प्राणः को नाम वायुर्वा क्रिया वा उभयमपि संगमयितुं शक्यम्। मुखनासिकाभ्यां निर्गमनात् वायुः। निश्वासादिक्रियाकरणात् क्रियापि। इत्यत आह-

न वायुक्रियेपृथगुपदेशात्।।२/४/९।।

प्राणः न वायुः क्रिया। आभ्यां पृथक्तस्योपदेशात्। "एतस्माज्जायते प्राणः"। इत्यत्र पूर्वं प्राणः अनन्तरमिन्द्रियाणि अनन्तर रवं वायु इत्यादि। तस्मात् द्वाभ्यां विलक्षणोऽयं प्राणः। यथोक्तं भागवते-

न तथा ह्यघवान् राजन् पूये त तपादिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया।।

(भा० ६-१-१६)

मुण्डकोपनिषन्मन्त्रे क्रियायाः वायुतः पृथक्।
उपदेशादयं प्राणो नूनं ताभ्यां विलक्षणः ।।श्रीः।।

तर्हि को नाम? इत्यत आह-

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।।२/४/१०।।

चक्षुरादिना तुल्यं चक्षुरादिवत्। यथा चक्षुरादीनि जीवस्य उपकारीणि तथैव प्राणोऽपि। कथम्? तैरेव सह प्राणस्यापि सृष्टिः। आदि पदेन प्राणः पिता प्राणः माता इत्यादिना उपदेशश्च। यथा भागवते-

मौनं सदाऽऽसनजयः स्थैर्य प्राणजयः शनैः।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि।।

(भा० ३-२८-५)

यथा देहोपकारीणि चक्षुरादीनि वै किल।
एवं तैः सहसृष्टत्वात् प्राणो देहोपकारकः ।।श्रीः।।

अथ यदि चक्षुरादिवत् प्राणः जीवस्योपकारकः तर्हि तेषमिव शब्दादिविषयाः प्राणस्यापि केनचिद् विषयेण भवितव्यम्? इत्यत आह-

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।।२/४/११।।

प्राणः चक्षुरादिवत् न करणम्। किन्तु करणभिन्नः सन् जीवस्य परमोकारकः। प्राणमुत्क्रान्तं सर्वे प्राणानुत्क्रामन्ति इति श्रुतेः।। यथोक्तं भागवते-

विदित्वार्न्थं कपिलो मातुरित्थं जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः।
तत्वाम्नायं यत्प्रवद न्तिसांख्य प्रोवाच वै भक्तिवितानायोग ।।

(भा० ३-२६-३१)

प्राणो हि करणभिन्नः सन् जीवस्यवापकारकः।
तस्मान्न पञ्चविषयाः स्पृशन्तीमं कदाचन ।।श्रीः।।

निष्कृष्ट माह-

पञ्चश्रुत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ।।२/४/१२।।

यथा मनः एकमपि कामादिवृत्तिभिरनेकधा भवति। यथा "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर्हीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव (बृ० १/५/३) तथैवायं प्राणोऽपि एकः सन् प्राणा पानोदानव्यानसमानवृत्तिर्लभमानः विराजते।

यथोक्तं भागवते-

तितिक्षवः कारूणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणा।।

(भा० ३-२६-२१)

यथा कामादयो धर्माः एकस्य मनसः किल।
तथैव पञ्चवृत्तिर्हि प्राण एष प्रकीर्तितः ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं प्राणवृत्तिनिरूपकम्।
व्याख्यातं रामभद्रेण भाष्ये वेदान्तदर्शने।।

।। श्री राघवः शंतनोतु ।।

।। अथ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ।।

अणुश्च ।।२/४/१३।।

एवं मुख्योऽयं प्राणः विभुरणुर्वा? अत आह- अणुश्च। अयमणुः तं प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः उत्क्रामन्ति इति श्रुतेः।। यथा भागवते-

तेनैव सर्वेषु वर्हिगतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्यं तदन्वितः पुनर्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ।

(भा० १०-१२-३२)

उत्क्रामन्तमिति श्रुत्या श्रावणाद् गति कर्मणः।
अणुः प्रोक्तः प्राण एष वेदान्ते श्रौतदर्शने ।।श्रीः।।

इदञ्चैवाधिकरणं मुख्यप्राणानुबोधकम्।

श्री रामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरण् ।।

अथ इमे पुरोदिता ये प्राणादयः करणविशेषाः तेषां स्वातन्त्र्येण क्रियाप्रवर्तकत्वम् उताहो पारतन्त्र्येण? इत्यत आह-

ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् ।२/४/१४।।

तु शब्दः शंकानिवर्तकः। ज्योतिरग्निः। येषां करणानां ज्योतिरादि अधिष्ठानम्। अग्न्यादिदेवताः अधिष्ठानि अभिरधिष्ठितानि एकादशेन्द्रियाणि त्रीणि करणानि। पञ्चवृत्तिः प्राणः। इमे सर्वे स्वाधिकारे प्रवर्तन्ते। तदामननात्! अग्निर्वाग्भूत्वा प्राविशत् इति श्रुतिः आदरेण आमनति यथा भागवते-

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते तमनु वाङ्मन इन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः।

(भा० १२-८-४०)

भूतेन्द्रियाणि प्राणाश्च अन्तः करणसयुता।
अग्न्याद्यधिष्ठिता भान्ति इत्यामनति वै श्रुतिः ।।श्रीः।।

अथ तेषां देवानामधिष्ठानत्वे इन्द्रियाणां जीवस्य न भोक्तृत्वादि? इत्यत आह-

प्राणवता शब्दात् ।।२/४/१५।।

प्राणः अस्ति अस्मिन् इति प्राणवान् जीवः। तेन प्राणवता जीवेनैव अधिष्ठिताः सर्वे देवाः इन्द्रियाणामधिष्ठानानि भवन्ति। अतः परम्परया सर्वेषां भोक्तृत्वं जीवात्मनि सम्पद्यते। शब्दादपि तथाहि श्रुतिः। अथ यत्रैतदाकाश मनुविषण्णं पक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः (छा० ८/१२/४१)। यथा भागवते-

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं, दैवीं परिज्ञानपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यं गृणादसत्वरं, परिक्षुतोश्रवसं ध्रुवक्षितिः।
(भा० ४-९-५)

प्राणवान् किल जीवात्मा देवतास्तदधिष्ठिताः।
तदभोक्तृत्वञ्च जीवेऽस्मिन् शब्दादपि विनिश्चितम् ।।श्रीः।।

किमिदं भोक्तृत्वं नित्यमनित्यं वा? इत्यत आह-

तस्य च नित्यत्वात् ।।२/४/१६।।

तस्य च जीवस्य नित्यत्वात् भोक्तृत्वमपि नित्यमेव। नित्यो नित्यानामिति श्रुतेः। यथोक्तं भागवते-

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
यो ऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्।।
तस्य जीवस्य नित्यवात् भोक्तृत्वं नित्यमेव हि।
वद्धानां विषया भोगा भक्तानां प्रभुसेवनम् ।।श्रीः।।
(१०/३३/३६)

इत्येव ञ्चाधिकरणं जीव भोक्तृत्व संज्ञकम्।
रामभद्रेण विदुषा बुधप्रीत्यै प्रभाषितम्।।

।। श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथेन्द्रियाधिकरणम्

अथ चक्षुरादीनि प्राणपर्यन्तानि इन्द्रियाणि उताहो प्राणं विहाय? इत्यत आह-

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।।२/४/१७।।

ते प्राणा इन्द्रियाणि सन्ति। कथम्? तद्व्यपदेशात्। वस्तुतः श्रेष्ठात् मुख्यप्राणादन्यत्र तं विहाय चतुर्दशेन्द्रियाणि करणपदवान्यानि। तत्र दशकरणानि बाह्यानि चत्वारि अन्तःकरणानि।। यथोक्तं भागवते-

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः।।

(भा० २-१०-१६)

चतुर्दश हि करणानि मनोऽन्तानि यथाक्रमम्।
प्राणं त्यक्त्वैव सर्वाणि इन्द्रियाणीति निश्चयः ।।श्रीः।।

कथं नेन्द्रियस्यान्तर्माव इत्यत आह-

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।।२/४/१८।।

प्राणस्य इन्द्रियेभ्यो भेदश्रवणात्। एतस्माज्जायते प्राणः इत्युक्त्वा अनन्तरं मनः सर्वेन्द्रियाणि च इत्युच्यते, किञ्च- वैलक्षण्यमपि प्राणे उत्क्रान्ते सर्वाणि इन्द्रियाणि शिथिलानि जायन्ते अतोऽपि प्राणस्य श्रैष्ठ्यम्। यथोक्तं भागवते-

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यन्थानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधषिद्धिः ।।११/३/३६

इन्द्रियेभ्यः पृथक् प्रोक्तश्चक्षुरादिभ्य एव च।
भेदश्रुतेरतो नूनं प्राणस्तेभ्यो विलक्षणः ।।श्रीः।।
इत्येतदधिकरणं प्राणश्रेष्ठत्ववाचकम्।
मया श्रीरामभद्रेण व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

।। श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथ समस्तसृष्टिं वर्णयित्वा व्यष्टिसृष्टौ जिज्ञास्यते। तत्र छान्दोग्ये षष्ठे अनेन

जीवेनात्मना सह प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। इति त्रिवृत्कुर्वत किमिदमित्यत आह-

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।।२/४/१९।।

संज्ञामूर्त्त्योः क्लृप्तिः संज्ञा नाम, मूर्तिः रूपम्। तयोः क्लृप्तिः रचना तु त्रिवृत्कुर्वतः एकैकस्य भागं त्रयं कुर्वतः परमात्मन एव कर्म। इत्थमेवोपदेशात्। **हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि।** इति। यथोक्तं भागवते-

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रिय मनोगुणाः।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तमम्।।

(२/५/३२)

त्रिवृत्कुर्वतस्तस्य ब्रह्मणः सर्वशक्तिनः।
संज्ञा चैव तथा मूर्ती रचने समुदाहृते ।।श्रीः।।

अत्र कश्चिदाह त्रिवृत्करणं जीवकर्तृकमेव तथान्नमशितं त्रिधा भवति। स्थविष्ठं पुरीषं कनिष्ठं मांसमणिष्ठं मनः इति चेन्न-

मांसादि भौमं यथाशब्दमितयोश्च ।।२/४/२०।।

मांसादि त्रिवृत्करणं भौममेव। नतु जलीयं नतु तैजसम्। एवं इतरयोरपि। पुरीषमनसोरपि विषये अवगन्तव्यम्।। यथोक्तं भागवते-

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः।
तस्यापि चाङ्घ्रयोरधि गुल्फजङ्घा जानूकमध्योरशिरोधरांसाः ।।

(भागवत० ५/१२/५)

मांसादि पार्थिवं द्रव्यं यथाशब्दमुदीरितम्।
एवमेवावगन्तव्यं पुरीषमनसोरपि ।।श्रीः।।

ननु यदि अन्नमशितं त्रिधा विधीयते यदि अन्नस्यैव इह चर्चा तर्हि अन्नमपस्तेज इति कथं व्यवहारः? इत्यत आह-

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।।२/४/२१।।

एषांम् एकत्वेपि एकैकस्मिन् एकस्यैक्याधिक्यात् तद्वादः। पुरीषेऽन्नस्य मांसे अपा मनसि तेजसः आधिक्यात् पृथग्वादः। तद्वाद इति द्विरावृत्तिः

अध्यायसमाप्तिसूचिका ।।

यथोक्तं भागवते-

नभो गुण विशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरूच्यते।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ।।

३/२६/४७

एकैकस्मिन्नथैकैक समाधिक्याद्यथाक्रमम्।
तेज आपस्तथान्नं च श्रुत्या तद्वाद ईरितः ।।श्रीः।।
इत्येतच्चाधिकरणं संज्ञामूर्तिप्रकल्पकम्।
व्याख्यातं रामभद्रेण सीतारामङ्घ्रि भक्तये।।
चतुर्थोऽयं मया पादो द्वितीयाध्यायगोचरः।
श्रीराघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।
श्री राघव कृपाभाष्ये द्वितीयाध्यायको मया।
अविरोधाख्य आख्यातो ब्रह्मसूत्रेषु शास्त्रः।

हे भूतभावन! भवेश्वर! भूतनाथ! हे भक्त वत्सल! भवाधिपभूतभव्यः। हे श्रीपते पतितपावन! रामभद्राचार्यं सुधामय दृशा परिपश्य राम।।इति

श्री तुलसीपीठाधीश्वर श्री मज्जगदगुरुरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यकृतौ श्रीमद्बादरायण वेदव्यास प्रणीते ब्रह्मसूत्रे अविरोधो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।

।। राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ तृतीयाध्यायः।।

प्रथमः पादः

मंगलाचरणम्

वनं गच्छन् यच्छन् मुनिगणयतिभ्योऽम्बकफलं ,
वहँस्तूणीचापं शुचिशरकलापं सुजटिलः ।
ससौमित्रिः सीताकृतपदपयोजानुगतिको ,
घनश्यामो रामो नयनपथपान्थो भवतु मे ।।१।।

पूर्वे चाध्याययुगले शास्त्रवाक्यसमन्वयात् ।
विरोधपरिहाराच्च ब्रह्महेतुत्वमीरितम् ।।२।।

प्रसंगे तत्र तत्राथ ह्यन्येषां वचसां किल।
सोपपत्तिसमभ्युक्तं तात्पर्यं ब्रह्मणीश्वरे ।।३।।

तत्काले वर्तमानानां तथैव च भविष्यताम्।।
वेदवाक्यविरुद्धत्वात् मतानां खण्डनं कृतम् ।।४।।

वेदव्यासो हि भगवान् सर्वज्ञो हरिरीश्वरः ।
त्रिकालाबाध्यबोध्यत्वात् सर्वं सस्मार नागतम्।।५।।

प्रथमे तत्र देवस्य प्राप्यस्य ब्राह्मणो हरेः ।
स्वरूपं श्रुतितः प्रोक्तमध्याये च समन्वये ।।६।।

अविरोधे द्वितीये तु नास्ति काम्युक्तिखण्डने ।
प्राप्तुर्जीवस्य चांशत्वमंशित्वं परमात्मनः ।।७।।

कर्तृत्वमथ जीवस्य राम-ब्रह्म नियन्तृता ।
प्राणानामिन्द्रियाणाञ्च स्वरूपं हि निरूपितम् ।।८।।

तृतीये साधनाध्यापे प्राप्त्युपाये विरोधि च ।।
वैराग्योत्पादनार्थं हिं पाराशर्य उदैरयत् ।।९।।

चतुर्थे च फलाध्याये फलमेव सुनिर्मलम् ।
निरूपयिष्यते राम ब्रह्मप्राप्तेः परं ध्रुवम् ॥१०॥

चतुर्भिरेवमध्यायैः सत्पुमर्थचतुष्टयैः ।
अर्थपञ्चकमेवात्र व्यासदेवो व्यवीविचत् ॥११॥

वेदव्यासस्तुभगवान् वेदगर्भः स्वराट् स्वभूः ।
सोवतीर्णो हितायास्य जगतो जगतीपतिः॥१२॥

तत्कृतौ ब्रह्मसूत्रेऽस्मिन् भिक्षुसूत्रापराभिधे ।
एकमप्यक्षरं व्यर्थं नास्तीति मन्मनीषितम्॥१३॥

अल्पज्ञः पण्डितम्मन्यो वाचाटो बालिशाब्रुवन् ।
ब्रह्मसूत्राक्षरं व्यर्थं रौरवं नरकं व्रजेत् ॥१४॥

व्यासो नारायणः साक्षात् तद्वचो वेदसम्मितम् ।
तदेव विब्रवन् वाचा को नरः क्षेममाप्नुयात् ॥१५॥

एकैकमक्षरं चात्र ब्रह्मपीयूष भाजनम् ।
श्रद्धया पीयमानस्तु निर्मानोऽमृतमश्नुते ॥१६॥

तस्मात प्रत्यक्षरं शास्त्रे प्रत्ययोऽत्र निरत्ययः।
क्रियतां पीयताञ्चैव ब्रह्मसूत्रसुधाबुधैः ॥१७॥

द्वितीयपादस्यान्तिमेऽधिकरणे

संज्ञामूर्त्योः क्लृप्तिचर्चा। तत्र संज्ञा नाम मूर्तिः रूपम्। त्रिवृत्करणेन परमात्मा ते क्ल्पयते। अत्राधिकरणे संज्ञामूर्ती उपेयुषः। संसारिणाऽस्य जीवस्य गतागते किं रूपे भवतः। जीवः सूक्ष्मभूतानि गृहीत्वा गच्छति वा न। रिक्त एव गच्छति जीवः। सूक्ष्मभूतानां सर्वत्र सुलभत्वात्। यथा पुराणे स्मर्यते- अन्यच्च- द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने अन्यच्च।। देहश्चितायां परलोकमार्गी धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।। शरीरमुत्सृज्य काष्ठ कोष्ठमयं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति। इति पूर्व पक्षे प्राप्ते आह-

"अथ तदन्तरप्रतिपत्यधिकरणम्" तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्न निरूपणाभ्याम् ३/१/१।।

तत्पदेनाऽत्र मूर्तिः। ननु तदिति सर्वनाम। तेन सह अन्तरशब्दस्य कथं समासः। हन्त! अद्यावधि कोऽपि भाष्यकृन्नव्यचीचरत्। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। अन्यत् तत् तदन्तरम्। ननु नैतादृशाः समासाः श्रूयन्ते! सत्यम्। ये न श्रूयन्ते त एव मयूरव्यसकादित्वात् साध्यन्ते। अमोघाःेदं भगवतः पाणिनेः ब्रह्मास्त्रम्। यद्वा नायं सर्वनाम तच्छब्दः। कस्तर्हि? संज्ञाशब्द एव। तनु धातु निष्पन्नो यथा तनुशब्दः। तथैव तन्वर्थस्तच्छब्दोऽपि। तनोतीति तत् तन्यन्ते विस्तारयन्ते सप्तधातवो यस्मिन् तथाभूतं तत् शरीरम् अन्यत् तत् तदन्तरम्। अस्वपदविग्रहोऽयं तदन्तरस्य देहान्तरस्य प्रतिपत्तिः प्राप्तिः सिद्धिर्वा इति तदन्तरप्रतिपत्तिः। तस्या तदन्तरप्रतिपत्तौ विषयसप्तमी विषयता सम्भावितत्वरूपा। इति श्री राघव कृपाललब्धकुशाग्रबुद्धेर्मे मञ्जुलमनीषितम् । अस्मिन् व्याख्याने अनुवृत्तिकरणरूपं अपरमपि लाघवम्। अहो अद्यावधि सर्वेऽपि पूर्वाध्याये संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु ब्र० ।।२/४/१९।।

इते सूत्रे प्रयुक्तसमस्तमूर्तिशब्दं तृतीयाध्याय अनुवर्तयाञ्चक्रुः। इदं सर्वथैवाशास्त्रीयम्। सूत्रपरम्परायां यद्यप्यनुवृत्तिः प्रधानमङ्गम्। वरदराजस्तु लघु सिद्धान्तकामुखाम् विधित्वेनेमां स्वीकरोति सूत्रेष्दृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र। किन्त्वियम् प्रायशः आपादं कदापि द्वितीयं पादं यावत् गच्छति तत्रापि असमस्तपदानाम्। क्वचिदे कदेशोऽप्यनुवर्तते। यथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (पा० अ० ८/४/५८) इत्यत एकदेशोऽपि सवर्ण इति उदः स्थास्थतम्भोः पूर्वस्य (पा० अ० ८/४/६१) इत्यत्रानुवृत्तः पूर्वस्य इत्यनेनान्वेति। परन्तु पूर्वाध्यायपदानि उत्तराध्याये न कदाप्यनुवर्तन्ते विषयभेदात्। अत्र पूर्वाध्यायस्य सूत्रस्य समासैकदेशः उत्तरस्मिन्नध्याये कथमनुवर्तेत। तच्च तत्सर्वनाम्ना कथं परामृश्यते। सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शित्वं प्रधानपरामर्शित्वञ्च स्वभावात्। मूर्तिशब्दोनाव्यवहितपूर्व न प्रधानः। तस्मात् ममैव पन्थाः शास्त्रीयः। अतस्तच्छब्दोऽपि योगाद्देहवाची। तत् तदन्तरम्। देहान्तरमिति भावः तस्य प्रतिपत्तिः तदन्तरप्रतिपतिः। तस्यां तदन्तरप्रतिपत्तौ अन्यशरीरप्राप्तौ सत्यां जीवः सम्परिष्वक्तः रंहति। सूक्ष्मशरीरेण सम्परिष्वक्तः आलिंगितः आश्लिष्टः सन् गच्छति। कथम्? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। निरूपणमुत्तरम्। प्रश्नश्च निरूपणञ्च प्रश्ननिरूपणे ताभ्यां प्रश्ननिरूपणाभ्यां, हेतौ पञ्चमी। श्रुतौ कृताभ्यां प्रश्न निरूपणाभ्यामित्यर्थः। छान्दोग्ये इत्थमाम्नायते यदारूणेयः श्वेतकेतुः

प्रवाहणमुपससार तत्र प्रवाहणः पञ्चाहुतीनाञ्च कल्पनां कृत्वा प्राह- किं त्वं वेत्थ पञ्चाहुतिषु कथमापः पुरुषवचसो भवन्तीति? तत्र सन्ति पञ्चाग्नयः। द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषितः तेषु पञ्चाहुतयः श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतांसि श्रद्धा द्युलोके सोमोऽभ्रे जलं पृथ्व्यां नरेऽन्नकम् रेतो योषिति इत्येता पञ्चाहुय ईरिताः।। एवं प्रवाहणेन पृष्टं किं त्वं वेत्थ, यथा पञ्चयम्यामाहुतौ आपः पुरुष वचसो भवन्ति। (छान्दोग्ये ५/१/३।।) एवं देवाः श्रद्धां जुह्वति इति श्रुत्यनुरोधेन पुरुषाकारेण परिणता मनोमयी श्रद्धैव पञ्चमक्रमे पुरुषसंज्ञां लभते। तत्र जीव एव भूत एषः परिष्वक्त· श्रद्धायां मनोवृत्तावागच्छति। पुनः स एव सोमो भूत्वा पर्जन्ये, पुनः जलं भूत्वा पृथिव्यां, पुनश्चान्नं भूत्वा पुरुषे, पुनश्च रेतो भूत्वा योषिति। श्रद्धा कामः संकल्पः इत्येवमादयः मनो नामानः क्रमेण पुरुषतां लभन्ते। जीवः श्रद्धामाविशति। श्रद्धा वा मनः क्वचिद् भगवानपि। यथा- श्रीमद्भागवते- भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः। आविवेशांशभागेन मन आनकदुंदुभेः। (भाग० १०/२/१६) तत्र प्रश्नस्य निरूपणम् छान्दोग्ये इत्थम्-

"असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरचिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः ।१। तस्मिन् एतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति (छा० ५/४/१२) पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादनयो विस्पुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुंह्ति तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति ।।२।। छा० ५/५। पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चि सोऽगंराः अवान्तरदिशो विस्फुल्लिंगाः ।।१।। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं संभवति ।।२।। (छा० ५/६) पुरुषोवाव गौतमस्याग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिशमश्ररङ्गराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः ।।१।। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुतेरेतः सम्मवति ।।२६/५/७।। योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दाः विस्फुल्लिंगाः ।।१।। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ।।२।। छा० ५/८।। इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति· स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ।।१।। स जातो यांव दायुषं जीवति तं. प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ।।२।। (छा०५/९।।) एवं प्रश्ननिरूपणपर्यालोचनया जीवः सम्परिण्वक्त एव गच्छति। सूक्ष्मभूतैः।

यथा भागवते-

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ।।

(भा० ३-३१-४३)

त्यक्तदेहो व्रजज्जीवो सूक्ष्मभूतैस्तथेन्द्रियैः।
परिष्वक्तो व्रजत्येष प्रश्नोत्तर विधानतः ।।श्रीः।।

ननु त्रिवृत्करणप्रक्रियायां रेतोऽपि पार्थिवजलतेजोमयं तर्ह्यापः पुरुष वचसा इति कथम्? प्रश्न मुत्तरयत्राह-

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।।३/१/२।।

तु शब्दः अप्यर्थः। त्रीणि पृथिव्यप्तेजांसि आत्मानः रूपाणि यस्य तत् त्र्यात्मकं तस्य भावः त्र्यात्मकत्वम्। तस्मात् त्र्यात्मकत्वात्। यद्यपि रेतो त्र्यात्मकं तथापि अपां भूयस्त्वात् द्वयोरपेक्षयाधिक्यात् तत्र तादृग्व्यवहारः।

यथोक्तं भागवते-

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवः सुवः।
ता नः पुनीतमीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ।लृ

(भा० ५-२०-२३)

अन्नतेजोजलमयं रेतो यदपि कीर्तितम्।
तथापि वारिभूयस्त्वात् आप इत्यामनन्ति वै ।।श्रीः।।

"प्राणगतेश्च" ३/१/३।।

किञ्च प्राणानां गतिः प्राणगतिः तस्याः प्राणगतेश्च। जीवेन सह प्राणानां गतेरपि इत्थमेव निश्चीयते। यत् सूक्ष्मभूतसहित एव जीवो गच्छति। यथा तमुत्क्रामन्तं प्राण उत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा ह्युत्क्रामन्ति इति श्रुतेः।

यथोक्तं भागवते-

तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान्।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ।।

(भा० १०-१२-३२)

प्राणानां सह गत्या वै गच्छता तेन वेगतः।
पूर्वापरप्रकरणाभ्यां परिष्वक्तत्वमीयते ।।श्रीः।।

पुनः पूर्वपक्षयति-

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।।३/१/४।।

प्राणादयस्तु अग्नौ गच्छन्ति। इति श्रुतिर्जागरुका। अतः कथं प्राणदिभिः सह जीवो गच्छतीति यथा श्रुतिः छान्दोग्ये- "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाश-मात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते (छा० ३/२/१३।।) इति पूर्व पक्षे आह- अग्न्यादिगतिश्रुतेरित्यादि। अग्न्यादिषु गतिः अग्न्यादि गतिः। तस्याः श्रुतिः श्रवणंमिति अग्न्यादिगतिश्रुतिः तस्याः अग्न्यादिगतिश्रुतेः। अत्र प्राणादीनामग्न्यादौ गतिश्रवणात् कथं? जीवस्य प्राणादिभिः सह गमनम्? इति चेन्न, भाक्तत्वात्। सा श्रुतिर्भाक्ती वर्तते। कथं? आर्तभागस्य प्रश्नान्तर्गतत्वात्। प्रश्नो न सिद्धान्तो भवति- यथोक्तं भागवते-

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनापतिं ततः।
प्रजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः।

(भा० १-१५-३९)

अग्न्यादौ प्राणगमनं श्रुत्या संश्रावितं यदि।
कथमात्मगतिस्तेन सा भाक्तीति निधीयताम् ।।श्रीः।।

ननु आपः पुरुषवचसो भवन्तीत्यनुपपन्नम्। यतो हि प्रथमाहुतावपां श्रवणं नास्ति? इति चेद् अंत आह-

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।।३/१/५।।

प्रथमे प्रथमाहुतिप्रस्तावे अश्रवणात् अपामकीर्तनात्। नापः पुरुषसंज्ञाः इति चेन्न? नेत्थम्। आप एव। कथम्? उपपत्तेः श्रद्धातः सोमतो वृष्टिः। वृष्टेरन्नम्। अन्नाद्रेतः। कार्येऽप्यापः। तस्मात् कारणेऽपि। श्रद्धा वै आपः इति श्रुतेरपि। यथा भागवते-

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम्।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः।

(।।भा० १२/१२/१६)

प्रथमेऽश्रवणादापो नरसंज्ञा कथं ननु।
श्रुत्या चैवोपपत्तेश्च ता वै पुरुषसंज्ञिका ।।श्रीः।।

ननु उपपत्तितः सिध्यन्तु नाम किन्तु आपः आहुतित्वेन न श्रुताः? इति चेन्न? इष्टादिकारिणाम् यदि धूमादिगमनप्रतीतिः तथैव जीवस्यापि। यदि जीवः गच्छति तर्हि शरीरमन्तरेण तस्य गमनं नोपपन्नम्। अतो गमनोपपत्तये सूक्ष्मभूतानामपि तेन सह गमनमावश्यकम्। अत आह सूत्रकारः-

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।।३/१/६।।

यथा इष्टादिकारिणां प्रातीतिरुपा यथा सा श्रुतिरित्थम्- **"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति** ।।छा० ५/१०/३।। यदीष्टापूर्तिकारिणः धूमादिमार्गेण गमनं श्रौतं तर्हि अन्येषामपि। यथोक्तं भागवते-

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄँश्च श्रद्धयान्वितः।

(भा० ३-३२-२)

इष्टादिकारिणां धूममार्गाच्छ्रौति यथा गतिः।
तथान्येषामपि ज्ञेया गतिः सा प्रतिभाधनैः ।।श्रीः।।

ननु इदं प्रकरणं भाक्तं। यथा- "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति (छा० ३/६/१) अतएव इदं सर्वं भाक्तम्? इति चेन्न-

भाक्तं वानात्मवित्वात्तथा हि दर्शयति ।।३/१/७।।

अनात्मवित्वात् देवाः इमान् भोग्यान् मन्यन्ते। आत्मवित्तु स्वयं देवानां सेव्यो भवति तद्यथा- **"आप योऽन्या देवतामुपास्तेऽव्योसावन्योह मस्मीति न सवेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।"** (वृ० ३/४/१०) एवंमनात्मवित्वादेव जीवस्य भोग्यत्वम्। यथा- **एष सोमोराजा तद्देवानामन्नम्। तं देवा भक्षयन्ति** (छा० ५/१०/४) इदं भक्ष्यं नात्मविदः। अनात्मविदेव। तस्मात् अधिकरणमेतत् वैराग्योत्पादनार्थत्वात् परमोपयोगि। एतस्यापरमपिव्याख्यानं न आत्मानं विदन्ति इति अनात्मविदः। तेषां भावः अनात्मवित्वम्। तस्मात् अनात्मवित्वाद्धेतोः चन्द्रमसो देवतानां भक्ष्यत्वं निगदितम्। अनात्मविदां निन्दार्थंआत्मविदां प्रशंसार्थं चैतत्। वस्तुतो देवा न वा खादन्ति न वा पिबन्ति तेतु अमृतं दृष्ट्वैव तृप्यन्ति। एवं जीवस्य जननमरणप्रतिपादने विशालयात्राव्यपदेशेन च

वैराग्यमेव वर्णितम्। सकामं कुर्वतामावागमनचक्रम् निष्कामकर्मकुर्वतां भगवत्प्राप्तिरिति महदुपकारकमेतत् ये त्वधिकरणमेतत् व्यर्थं मन्यन्ते तेषां पण्डितमन्यानां का कथा? तस्मात् जननमरणचक्रसमाप्तये भगवानेव भजनीयः।। तथा च गीतासु अधिकरणैतस्य सारांशः

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।
शरीरं यदवप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।

(गीता १५-६, ७, ८, ९)

यथा भागवते-

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।

(।।भा० १०-२-३२)

येनैवात्मविदो लोके धूममार्गाद् ब्रजन्ति ते।
तेषां भाक्तत्वमित्येव भवसिन्धुनिमज्जनम् ।।श्रीः।।
प्रथमञ्चाधिकरणं प्रथमाङ्घ्रौ तृतीयके।
श्रीरामभद्राचार्येण प्रोक्तं वैराग्यपुष्टये।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।। अथ कृतात्ययाधिकरणम् ।।

ननु इष्ट्यादिकारिणो यद्धूममार्गेण चन्द्रमण्डलमुपेत्य स्वर्गं यान्ति। ततश्च पुण्ये क्षीणे पुनरावर्तन्ते, तत्र जिज्ञासाद्वयम्। किमखिलं कर्म समाप्याव्रजन्ति? आहोस्वित्भुक्त्वावशिष्टं गृहीत्वा। अपरा च येन मार्गेण गच्छन्ति तेनैवावर्तन्ते उताहो अन्येन केनचित् मार्गेण। इत्यत आह-

"कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेतं च ।।३/१/८

अत्ययो भङ्ग, अनुशयः भुक्तावशिष्टं कर्म, कृतस्य वेदविहितस्य स्वर्ग्यस्य कर्मणः समनुष्ठितस्य शुभाशुभकर्मवान् एतं मार्गमभिलक्ष्य अनेतम् एतद्भिन्नं च मार्गं, यथा येन केन वा मार्गेण आवर्तते। अतएव छान्दोग्ये- "तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमाकाशमाकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ।।छा० उ० ५-१०-५, किं प्रमाणम्? इत्यत आह "द्रष्टस्मृतिभ्यां" दृश्यते ब्रह्म अनेन इति दृष्टो वेदः, स्मर्यते वेदार्थोऽनया इति स्मृतिः, दृष्टश्च स्मृतिश्च दृष्टस्मृती ताभ्यां दृष्टस्मृतिभ्याम्। श्रुतिर्यथा- "तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।। छा० उ० ५-१०-७ एवं स्मृतिश्चात्र गीता-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्मनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।

(गीता ९-२०, २१)

ननु चरणशब्दः शुभाशुभकर्मपरः, तेन कथमनुशयो गम्येत। इति पूर्वपक्षे आह-

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।।३/१/९।।

चरणात्- रमणीयचरणा, कपूयचरणा इत्युभयत्रचरणशब्दाभिधानात् यद्वा-चरणशब्दाद्धेतोः नानुशयो गंस्यते। इति चेत्! अत्र कार्ष्णाजिनिः कृष्णाजिनस्य गोत्रापत्यं काण्र्णाजिनिराचार्यः प्राहः। 'तदुपलक्षणार्थाः तस्य उपलक्षणं अर्थः प्रयोजनं यस्या सा तदुपलक्षणार्था। सा श्रुतिः कदाचार-दुराचारौ बोधयन्त्यपि उपलक्षणत्वेन अनुशयमपि बोधयति। उपलक्षणत्वं नाम स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम्-

यथोक्तं भागवते-

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम्।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम्।।

(भा० ३/३०/१३)

कदाचारदुराचारौ श्रुतिप्राहोपलक्षणात्।

कर्मशेषमपि प्राह कार्ष्णाजिनिरथाब्रवीत् ।।श्रीः।।

ननु किमनेनोपलक्षणेन प्रकरणात् अनुशयार्थमेव बोधयतु चरणशब्दः। इत्यत आह-

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।।३/१/१०।।

अस्त्यावश्यकता। उपलक्षणाभावे तस्या आनर्थक्यं स्यात्। क्षीणसामर्थ्यात्। ननु भवतु नामानर्थक्यम्। न हि तदपेक्षत्वात् चरणशब्दस्य सदाचारकदाचारव्यवस्थापने अपेक्षत्वात्। कार्ष्णाजिनेराचार्यस्य मतेन उपलक्षणविधया चरणशब्दः सदाचार कदाचारार्थं बोधयन्नपि अनुशयं बोधयिष्यति यथोक्तं भागवते-

वेदाध्यास्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम्।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्।।

(११/१७/५०)

उपलक्षणेन चानर्थ्यं न वा चरणवाच्ययोः।
आवश्यकं त्रयं चैतत् इति कार्ष्णाजिनेर्मतम् ।।श्रीः।।

अथ बादरेर्मतमाह-

"सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।।३१/१/११।।

तु पूर्वपक्षे अरुचिद्योतनार्थः, बादरिराचार्यः आह चरणशब्दस्य सुकृतदृष्कृते एवार्थौ। अतः अनुशयोऽपि द्वयोरेवान्तर्भवति। अतः सति मुख्यवृत्यार्थसम्भवे उपलक्षणक्लेशो न कर्तव्यः। यथोक्तं भागवते-

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्।।

(३/३१/४३)

मुख्यवृत्यैव चरणो ब्रूते सुकृतदुष्कृते।
तयोरनुशयो लीनो मतमेतद्धि बादरे ।।श्रीः।।
"इदं चैवाधिकरणं जीवानुशयबोधकम्।
पण्डितो रामभद्रोऽहं व्याचक्षे प्रीतये सताम्।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथानिष्टादिकार्यधिकरणम्।।

अथ ये इष्टापूर्त्तं न कुर्वन्ति, ते चन्द्रलोकं गच्छन्ति, न वा? इत्यत आह-

"अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।।३/१/१२।।

इष्टापूर्तिविहीनानामपि चन्द्रलोकगमनं श्रुतौ श्रुतम्। यथा- "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।।(कौषी० १-२,) तस्मात्तेऽपि गच्छन्ति। यथोक्तं भागवते-

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः।।

(११/१०/२९)

इष्टापूर्तमकुर्वाणा देहं त्यक्त्वापि मानवाः।
चन्द्रमण्डलमासाद्य पुनर्यान्त्यधमां गतिम् ।।श्रीः।।

अथ द्वयोः किं वैलक्षण्यम्। समाने चन्द्रलोकगमने। इत्यत आह-

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।।३/१/१३।।

संयमनं यमलोकः इतरेषां अनिष्टादिकारिणां संयमने यमलोके यातना अनुभूय अनन्तरं चन्द्रलोके आरोहः ततश्च क्षीणे पुण्ये चन्द्रलोकात् भूमौ अवरोहः। चकारात् इष्टादिकारिणां तदगतिदर्शनात्। यमलोकगमनं विनापि चन्द्रलोके गमनं दृश्यते। अत्र यमलोक गमने श्रुतिप्रमाणं "**न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे** ।।(क० उ० १-२-६)

प्रमाणान्तरं दर्शयति-

"स्मरन्ति च ।।३/१/१४।।

अन्येऽपि स्मृतिकाराः यमलोकं स्मरन्ति। "**यमः संयमतामहम्।**" ।।गीता १०-२९ किं च गरुडपुराणे प्रेतखण्डं तु सम्पूर्णं यमलोकवर्णनपरम्। यत्त्विह स्वर्गनरकादिकमन्यथा मन्यन्ते। यमलोकादिकं च कपोलकल्पितं मन्यन्ते। अत्रत्यं ब्रह्मसूत्रवर्णनं च दर्शनबाह्यत्वेन अङ्गीकुर्वन्ति। तान् वर्णाश्रम-कुलाचारेभ्योऽपेतान् नास्तिकान् प्रति उदयनाचार्योक्तिमेव सखेदं विनिवेदयामः-

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते।

येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः।
काले कारुणिक! त्यैव कृपया ते तारणीया नराः।।
अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धानन्दधियौ तथापि तरलं नाद्यापि निष्क्रामति।
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः।।

न्यायकुसुमाञ्जलि स्तबक ५-१०, ११

यथा भागवते-

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतश्च विद्याधरचारणादयः।।

(३/३/१९)

अष्टादशपुराणानि सेतिहासानि संहिताः।
स्मरन्ति यमलोकं च यमं चैव गतज्वराः ।।श्रीः।।

किं च पापिनां फलभोगार्थं सप्तनरकान् स्मरन्ति । यथा-

अपि च सप्त ।।३/१/१५।।

नन्विदं न्यूनम्। स्वयमेव भागवतवचनविरोधात्। तता हि भागवते अष्टाविंशतिर्नरकाः। "तत्र हैके नरकानेक विंशति गणयन्ति अथ तांस्ते राजन्नामरूप लक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूक्षत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तसूर्मिर्वज्रकण्टक शालम्ली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवी चिरयः पानमिति। किञ्च- क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिनरका विविधयातनाभूमयः।

(।।भागवत ५-२६-७)

इति चेत् उच्यते। यद्यपि मत्तः पूर्वे सर्वे आचार्याः इह प्रामुख्येन सप्तसंख्यां व्यवहरन्ति। रौरवप्रमुखा सप्तैव नरकाः। परन्तु श्री भागवतं वैष्णवानां धनम्। इत्युक्तिं मानयन् भागवतप्रमाणं नोपरुन्धानो यते समाधातुम्। पूर्वसूत्राच्चकारो अनुवर्तते अपि शब्दस्तु चार्थः। चकारश्चात्र समुच्चयार्थः। एवं

सप्तसंख्यां समुच्चार्य तया सह सप्तसंख्यैव त्रिरावर्तते। एवं सप्त इत्यनेन सह सप्त च सप्त च सप्त च इति मूलसंख्यया सह सप्त, सप्त, सप्त, सप्त इति अष्टाविंशतिः। यद्वा अपि च इति निपातद्वयं पापिनां नरक निवासस्यदृढीकरणार्थम्। तथा च-सप्त सप्तस्यैव चतुरुच्चार्यैकशेषः, सप्त च सप्त च सप्त च सप्त च इत्यष्टाविंशतिः। यथोक्तं-

देवासुर नृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम्।
सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे।

(६/४/१)

एकदेशबलेनात्र चतुरुच्चार्य सप्त च।
विज्ञेया शास्त्रतः सिद्धाः नरकाणामष्टविंशतिः ।।श्रीः।।

"यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वत ननु तत्र नरकेषु को यमः? इत्यत आह-

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।।१३/१/१६।।

तेषु नरकेष्वपि यमस्यैव व्यापारात् अविरोधः, न कोऽपि विरोधः। नरकेष्वपि यमराजास्यैव किङ्कराः चित्रगुप्तादयः। अतएव न कश्चन विरोधः

यतोक्तं भागवते-

"यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः
स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु।
सम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घित
भगवच्छासनः सगणो दमं धारयति।।

(५/२६/६)

तत्रापि यमराजस्य व्यापृतिर्नरकेषु च।
शुभाशुभनियोगाय न विरोधस्ततः श्रुतेः ।।श्रीः।।

अथ सिद्धान्तमाह

विद्याकर्मणोरिति तु तत्प्रकृतत्वात् ।।३/१/१७।।

वस्तुतस्तु अत्र विद्याकर्मणोरेव प्रकृतत्वात्, प्रस्तुतत्वाद्धेतोः देवयानपितृयानयोश्चर्चा। यथा "विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोकः" अतो ब्रह्मविद्योपासकानां देवलोकः। इष्टादिकारिणां च पितृलोकः। उभये चन्द्रमण्डलं

आरोहन्ति। नैव पापिनः। यथोक्तं भागवते-

अन्नं चोरूरसं तेभ्यो दत्वा भगवदर्पणम्।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः।।

३/३/।२८

विद्याकर्मणोरेव प्रकरणादुभयो ननु।
चन्द्रं प्राप्यावरोहन्ति केचिद्यान्ति सनातनम् ।।श्रीः।।

किन्तु उभाभ्यां व्यतिरिक्तानां का गतिः? इत्यत आह-

"न तृतीये तथोपलब्धेः ।।३/१/१८।।

"तीयस्य ङित्सु वा "इत्यनेन वैकल्पिकी सर्वनाम संज्ञा। तथा हि देवलोक पितृलोकतो बहिर्भूते तृतीये नरकस्थाने गतानां पापिनां न चन्द्रलोकारोहणं, तथा तेन प्रकारेण उपलब्धेः श्रुतिप्रमाणप्राप्तेः। तथा हि श्रुतिः "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्वम्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते ।।छा० उ० ५-१०-८, इति तत्र श्रुति यथोक्तं भागवते- यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्। संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः।

(भाग० ११/२८/१२)

देवयानपितृयाणतो बहिर्गच्छतां कुकृतिनां कुमेधसाम्।
रौरवं च नरकं समेयुषां नैव चान्द्रमुपलभ्यते श्रुतौ ।।श्रीः।।

पुनरुदाहरति लोकदृष्टान्तेन-

स्मर्यतेऽपि च लोके ।।३/१/१९।।

लोकेऽपि स्मर्यते, यत् अलौकिकानां कृते न पञ्चाहुतीनामावश्यकता। यथा पापिनां न पञ्चाहत्यापेक्षा। तथा पुण्यातिशयानामपि। यथा श्रीमद्रामायणे जगज्जनन्याः श्रीसीतायाः भूमिमपेक्ष्य उत्पत्तेः क्व पञ्चाहत्यपेक्षा। यथा-

"तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम्।
अहं किलोत्थिता भित्वा जगतीं नृपतेः सुता।।

(बा० रा०२-११६)

एवं द्रौपद्याः धृष्टद्युम्नस्य च।
तथैव अतिपापिनाम् स्वेदजादीनां स्वयमुत्पत्तेः।

यथोक्तं भागवते-

उतसङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठास्वयम्भुवः
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः।

भाग० ३/१२/२३

अन्यदपि आह-

"दर्शनाच्च ।।३-१-२०।।

श्रुतिरपि क्षुद्रजन्तूनां पञ्चाहुत्यानपेक्षामाह- **"तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भज्जमिति** ।।छा० उ०६-३-५, चकारेण अपरमपि व्याख्यानां श्रीराघवकृपया स्वप्रतिभायामुल्लसितं समुपाजिहीर्षामि श्रीवैष्णवेभ्यः। दर्शनाच्च "इत्यस्य श्रुतावपि श्रीसीतायाः प्राकट्यस्य पञ्चाहुतिं विनापि दर्शनात्। यथा- "गन्धद्वारा दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्। ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्।। गन्धं गन्धगुणकं पृथिवी तत्वं द्वारं जन्ममाध्यमं यस्याः सा गन्धद्वारा तां गन्धद्वाराम्। इत्यनेन सीताजन्मापि वैदिकं प्रमाणितम्।

यथोक्तं भागवते-

द्विविधश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः।
कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः।।

(२/१०/४०)

पञ्चाहुतिं विना जन्म सीतायाः श्रूयते श्रुतौ।
तथा तत्क्षुद्रजन्तूनां स्वाभाविकभवः श्रुतः ।।श्रीः।।

ननु अण्डजं, जीवजम् उद्भिज्जमित्युक्तम्। स्वदेजं च परित्यक्तम्। इत्यत आह-

"तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।।३-१-२१।।

अवरोधनं अवरोधः भावे घञ्। संशोकः प्रस्वेदः तस्माज्जायते इति संशोकजः तस्य संशोकजस्य। सचिर्धातुर्हि पूतीभावे दिवादिः। पूतीभावश्च क्लिन्नता। सा च श्रमेण चिन्तया वा। अतएव श्री गीतासु-

"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षपिष्यामि माशुचः ।।गीता १८-६६ इति

"इरितो वा ३/१/५७ इत्यनेन वैकल्पिकाङ् भावात् संगच्छते। इतरथा मा शोचीः इति ब्रूयात् भगवान् सान्दिपनीशिष्यः।

यथोक्तं भागवते-

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः।

(भागवत ३/७/२७)

तस्य संशोकजस्यैव तृतीये श्रुतिसम्मते।
अन्तर्भावो हि मन्तव्य उद्भिज्जे च पुरोदिते ।।श्रीः।।
इत्येवं चाधिकरणं वैराग्यैकप्रयोजनम्।
रामभद्रेण सुधिया यथा शास्त्रंनिरूपितम्।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

अथ साभाव्यापत्त्यधिकरण्

एवं देवायनपितृयाणानां चंद्रमण्डलगमनमुक्त्वा पापिनाम्च तन्निराकृत्य साम्प्रतमअवरोह प्रकारं विचारयति यत्श्रूयते- **अथैवमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्त्वा धूमो भवति- धूमोः भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षीति** (छा०९ ५४/१०/५) अत्रायं संदेहः किमाकाशादिसारूप्येण सादृश्येन या जीवा इमान् प्राप्नुवन्ति इत्यत आह-

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।।३/१/२२।।

अनुशयानां भोगार्थमेव तेषामवरोहणम्। तच्च सारूप्ये सति नोपपत्स्यते अतस्तत् समानभाविनैव यद्यदासादयति तत्तत्समानभावो भवति। आकाशमासाद्य आकाशवत्सूक्ष्मः वायुमासाद्य स एव गतिमान्, मेघमासाद्य स एव तरलः इत्येवम् अत एव प्रवर्षति इत्यस्य प्रवर्षमाचरति इत्याचारे क्विप् ततो लडादयः। तथाहि- समानो भावं येषान्ते सभावाः। सभावानां गुणः कर्म वा साभाव्यम् 'गुणकर्मणि ब्राह्मणदिभ्यः ष्यञ् (५/१/१२४) इत्यनेन ष्यञ् प्रत्ययः यथोक्तं भागवते-

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः।

(३/२६/३३)

यद्यदाप्नोति भोगार्थं तत्तत्सादृश्यमीयते।

उपपत्तिस्तथा दृष्टा सारूप्यं नोपपद्यते ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं गतिसाभाव्यसूचकम्।
व्याख्यातं रामभद्रेण रामभद्रप्रसादतः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।। अथ नाति चिराधिकरणम् ।।

ननु जीवानां साभाव्यावाप्तौ किं आकाशादिकं यद्यासादयन्तिततस्ततः शीघ्रमन्यद् गच्छन्ति उताहो चिरं तत्र क्षत्र तिष्ठन्ति इत्यत आह-

नातिचिरेण विशेषात् ।।३/१/२३।।

व्रीह्यादिषु दुर्निष्क्रमणस्य विशेषेणोक्तत्वात् आकाशादौ न अतिचिरेण तिष्ठन्ति। तत् तत् पूर्वपूर्व सादृश्यमवाप्य किञ्चित्-किञ्चिद्विश्रम्य ततस्ततः उत्तरोत्तर सादृश्यमाप्नुवन्ति। यतो हि छान्दोग्ये- ततो वै खलु दुर्निष्प्रतरम् दुःखेन निष्प्रथनम् इति दुर्निष्प्रतनम्। यद्यत्र विलम्बेरन् तर्हि तत्र दुर्निष्प्रपतनम् नार्थवत् स्यात्। अतो मुख्यभोगभोगाय तत्रैव विलम्बन्ते ।

यथोक्तं भागवते-

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेववरम्।
कुशलेतरपान्थेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम् ।।
(भाग० ३/३०/३१)

गौणभोगार्थमासाद्य खादेनोत्सृज्य तत्र वै।
न चिरेण विरम्याथ विलम्बन्ते तु मुख्यके ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिकरणमवरोहद्रुतिप्रदम्। आचार्यराभद्रेण युक्तियुक्तं प्रभाषितम्।।

अथान्याधिष्ठिताधिकरणम् अन्याधिष्ठिते

पूर्ववदभिलापात् ।।३/१/२४।।

अथ आकाशाद् मेघं यावत् पुनश्च ब्रीह्यादिभिः साभाव्यमासादयन्तः जीवान्तररूपेण जायन्ते यद्वा अन्यैः साकं तिष्ठन्ति इत्यत आह-

इदश्चैवाधिकरणं जीवसंसारसूचकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम् ।।१।।
तृतीये प्रथमः पादो दृढवैराग्यसूचकः।
मया द्वितीया`व्याख्यातो विरक्तानां विरागकृत् ।।२।।

इति श्रीतुलसीधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यकृतौ श्रीमद्वेदव्यासप्रणीत ब्रह्मसूत्रे साधनाख्ये तृतीयेऽध्याये प्रथमःपादः सम्पूर्णः
।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

अथ सन्ध्यधिकरणम्

यः स्वप्न मेवरचयत्यमितस्वरूपं जीवेन कर्मनिकराननुभावयंश्च। तंसर्वविस्मयमयं मयजापतिघ्नं सीताद्वितीयमनघं प्रभजेऽद्वितीयम्।

पूर्वस्मिन् पादे जीवस्य पञ्चाग्निपञ्चाहुतिरूपकेण सतत प्रवाह प्रवर्तमानजननमरणसंसारसंसरणादिचक्रम् वैराग्यवर्धकं प्रोक्तमिइदानीं स्वाप्निकप्रपञ्चस्यापि कर्ता स सव परमात्मा श्रीरामः इति विषयं विवेचयति भगवान् बादरायणः-

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।।३/२/१।।

तत्र स्वप्ने ह्यनेकसृष्टय ताः रच्यन्ते केन। यथा- न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्नाथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दाः मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्ताः पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ।।४/३/१०) इयं सृष्टिः कस्य। अस्याः कः कर्ता। इत्यत आह- सन्ध्ये सन्धिः जागरसुषुप्तयोः अन्तरालः। तं सन्धिमर्हति इति सन्ध्यः। अर्हार्थे 'दण्डादिभ्योयत्' पा० अ० ५/१/६६ इत्यनेन यत् प्रत्ययः। तस्मिन् सन्ध्ये स्वप्नकाले इत्यादि सृष्टिः जीवस्यैव हि यतो हि इत्थमेव श्रुतिराह। यथोक्तं भागवते-

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्, भुंक्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्। स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः, स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः।

(भा० ११-१३-३२)

स्वप्नकालेऽपि वै सृष्टिः शुभाशुभफलानुगा।
तत्कर्ता प्रत्यगात्मैव श्रुतिरित्थं ब्रवीत्यसौ ।।श्रीः।।

पुनरपि स्वपक्षमाह-

निर्मातारंचैके पुत्रादपश्च ।।३/२/२।।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमानः।" इत्यत्रापि अमीषां कामानां निर्मातारं जीवमेव स्वीकुर्वन्ति। कामशब्देन पुत्रादयः इत्येवार्था पयन्ति।

यथोक्तं भागवते-

जाग्रत स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतोबुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ।।

(भा० ११-१३-२७)

कामशब्देन पुत्राद्या तत्रैव परिकीर्तिता।
तत्सृष्टेर्निर्मातारं जीवात्मानं प्रचक्षते ।।श्रीः।।

इत्येवं द्वाभ्यां पूर्वपक्षे कृते सति सूत्रकारः सिद्धान्तमुत्तयति-

मायामात्रन्तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्

।।३/२/३।।

तु किन्तु 'इदं स्वाप्नं जगत् मायामात्रम्। मायैव इति मायामात्रम्, माया आश्चर्ये लीला वा। **"माया कृपायां लीलायां माया ज्ञाने छले तथा"** इति वचनात्। इदं रथाभावेऽपि रथनिर्माणं जागरे पुष्करिण्याद्यभावेऽपि तन्निर्माण कौशलं मायापतरेव घटते न मायाबद्धजीवस्य। तथा हि **"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनञ्च महेश्वरम्** (श्वे० ४/९।।) इति श्रुतेः। कथं जीवो न शक्यते? इत्यत आह- अनभिव्यक्त स्वरूपत्वात्। जीवस्य स्वरूपं सर्वदैवानभिव्यक्तम् भवति। अतएव न तेनेयं द्विविधाश्चर्यमयी सृष्टी रचयितुं शक्या। यथा भागवते-

ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्। गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति।।

(।।भा० १०-१-४३)

मायामात्रमिदं कृत्स्नं स्वाप्नं सृष्टं परात्मना।
नाभिव्यक्तस्वरूपत्वात् न जीवे घटते तु सा ।।श्रीः।।

अथ कथं तत्स्वरूपं तिरोहितम्? इत्यत आह-

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बंधविपर्ययौ ।।३-२-४।।

परस्य स्वतोऽन्यस्य जागतिकविषयराशेः अभिध्यानादेव एतस्य स्वरूपं तिरोहितम्। तत एव अस्य बन्धमोक्षौ। अथवा- परः परमेश्वरः तस्य अभिध्यानादेव परमात्मनः संकल्पादेव जीवस्य स्वप्नकाले स्वरूपं तिरोहितं भवति। जीवस्य स्वप्नानुगणं कर्मफलं तेनानुभावयितुं परमात्मा निजसंकल्पेनैव तत्स्वरूपं तिरोधापयति। कथं? सर्वशक्तिमत्वात्। तत एव विस्मृतभगवत्पादपद्मस्य जीवस्य परमात्मन एव सकाशात् बन्धः। पुनर्भजनानन्दैकरसस्य तत्कमल चरणपरिचरणैकलालसस्य परमात्मन एव सकाशात् मोक्षः। अतएव विनयपत्रिकायां गोस्वामीश्री तुलसीदासः-

"है सुर विविध उपाय विविध विधि केहिं केहिं दीन निहोरे।
तुलसी दास यह जीव मोह रजु जेहिं बाधेउ सोई छोरे।।

(विनय प० १०३)

रुपान्तरम् -

सुरा ह्यनेके विविधा प्रयत्ना कं कं च दीनो भृशमर्थयेत। बबन्ध जीवं किल मोह रज्वा यः सो हि मुञ्च्यात् तुलसी जगाद।। एवं बन्धश्च विपर्यश्च बन्धविपर्ययौ, विपर्ययो मोक्षः।

यथा भागवते-

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृते पुमान्
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते।।

(।।भा० ३-२६-६)

परमेश्वरसंकल्पात् तिरोहितस्वरूपकः।
जीवस्तद्बन्धमोक्षौ हि परमात्मन एव तौ ।।श्रीः।।

अथ स तिरोभावः किं निमित्तकः? अत आह-

"देहयोगाद्वा सोऽपि ।।३/२/५।।

वा शब्दश्चकारार्थः, स जीवस्य ज्ञानतिरोभावः देहयोगाद् पापीयसा

देहेन योगे सति जीवः पापकर्मसु प्रवर्तते। तदनुसारं परमात्मा निजसंकल्पेन तज्ज्ञानं तिरोधापयति। कदापि अवतारलीलायां लीलारसमनुवितुं यशोदाप्रभृतीनां गुणाष्टकं तिरोधापयति। यथा श्रीमद्भागवते-

"इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः।।
सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम्।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद् यथा पुरा ।।

(भागवत् १०-८-४३, ४४)

पापीयसा च देहेन योगात् क्वापि चलीलया।
ईश्वरस्य तथा जीवे ज्ञानं स्याद् वै तिरोहितम् ।।श्रीः।।

केषाञ्चित् स्वप्नं मिथ्या कथयतां पक्षं निराकुरुते। यदि चेत्! उच्येत सत्यसंकल्पस्य प्रभोः किमर्थं मिथ्यासृष्टौ प्रयत्नः। तत्रोच्यते, स्वप्नो न मिथ्या। कथं? इत्यत आह-

"सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।।३/२/६।।

स्वप्नः इष्टानिष्टयोः सूचको भवति। श्रुतिरपि प्रमाणयति यथा- **"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्न निदर्शने** ।।छा० उ० ५-२-९ किं च माण्डुक्येऽपि स्वप्नावस्थायाः। "स्वप्नास्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक तैजसो द्वितीयः पादः ।।(मा० उ० ४)

यदि स्वप्नं मिथ्या स्यात्। तर्हि तस्याधिष्ठातृ देवता तैजसः कथं स्यात्? यत्तु **"माया ज्ञानम्"** इति केनचिदुक्तम्। माया ज्ञानं तत् सर्वथैव शास्त्रविरुद्धम्। मायाशब्दस्य क्वापि ज्ञानार्थस्यानुपलब्धेः। तस्मात् स्वप्नः सत्यः। तत्सृष्टिश्च सत्या। स्वप्नस्य गोस्वामिना तुलसीदासेन यदसत्य मुक्तम्। तत् केवलं स्वाप्नव्यंवहाराणां जागरितावस्थायां अनुपयोगाभिप्रायेण। न हि अवस्थान्तरव्यवहारः अवस्थान्तरेऽनुपयुक्तत्वात् . मिथ्यात्वेनं लपितुं शक्यः। यथा एकस्यैव पुरुषस्य बाल्यावस्थायाः व्यवहाराः युवास्थायामघटमाना अपि न मिथ्यात्वेन लपितुं शक्याः। न हि कोऽपि सुधीः पितरि पुत्रे च समं व्यवहति। इत्यनेन स्वप्नं मिथ्या वदन्तः परास्ताः अतएव पुराणेषु। मानसे च तत्र तत्र स्वप्नव्यावहाराः श्रुतिप्रमाणानुरोधेन सत्यत्वमाटीकन्ते। अतस्त्रिजटा प्राह मानसे-

यह सपना मै कहऊं पुकारी। होइहिं सत्य गए दिन चारी।। (मानस ५/११/७।।) भुजावुत्थाप्य वच्म्येषा यः स्वप्नो लोकितो मया। भविष्यति स सत्यश्च ह्यस्तं याते रवौ किल।। दिनचारी शब्दस्य सूर्योदयः। अतएव स्वाप्नादेश परिणामो रामरक्षा श्रीरामानन्दीयसाधनसर्वस्वभूता- "आदिष्टवान् यथास्वप्ने रामरक्षामिमां हरः तथा लिखितेवान् प्रातःप्रबुद्धोबुध कौशिवमिमां हरः। **तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः।।** (रामरक्षा १६)

यथोक्तं भागवते-

मनांसि तासामरविन्दलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम्।

(भा० १०-४२-२७)

श्रुतिर्हि सूचयत्येषा स्वप्नदृष्टं शुभाशुभम्।
तद्विदश्चैव निपुणं शाकुनिका वदन्ति वै ।।श्रीः।
प्रथमञ्चाधिकरणं द्वितीये च द्वितीयके।
व्याख्यातं रामभद्रेण स्वप्नसत्यत्वबोधकम्।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

"अथ तदभावाधिकरणम्"

अथ स्वप्नावस्थां विचार्य सुषुप्तिर्विचार्यते, भगवता बादरायणेन तत्र भिन्नाः भिन्नाः पक्षाः जीवात्मा क्व शेते इति विचारणायां क्वापि नाडीसु क्वापि पुरातति क्वापि परमात्मनि। तद्यथा-

"यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीसु सृप्तो भवति" (छा० ८/६/३) अन्यत्र च पुरीतति- "अथ यदि सुषुप्तो भवति यदि न कस्य च न वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्तेताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते (बृ० २/१/१९) एवं परमात्मनि शेते अत्र श्रुतिद्वयम्- य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्शेते (बृ० २/१/१७) अपरत्र च यत्रैतपुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पनो भवति (छा० ८/८/१) एवं नाडीसु पुरीतति परमात्मनि च जीवात्मनः शय श्रवणात् संदेहो जायते इति विकल्पो वा समुच्चयो? अत आह-

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।।३/२/७।।

तस्य स्वप्नस्य अभावः सुषुप्तिरिति यावत्। क्व? इत्यत आह- नाडीषु आत्मनि चकारात् पुरीतति च। कथम्? अत आह तच्छ्रुतेः। तत्प्रतिपदकश्रुतिभ्यः यथोक्तं भागवते-

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः।।

(।।भा० ११-१३-१४)

नाड्यां पुरीततौ चैव तथात्मन्यथ संलयात्।
शेते शान्तो हि जीवात्मा स्वप्नाभावस्तथेदृशः ।।श्रीः।।

अतएव अस्मादेव परमात्मनः सकाशाद् जीवात्मनः प्रबोधो भवति जागरो जायतो अत आह-

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।।३/२/८।।

अस्मात् परमात्मन एव। अतः अस्य जीवस्य प्रबोधः। जागरः। एतस्य इति अतः। सार्वविभक्तिकस्तसिः। प्रमाणयति च श्रुतिः "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छाम इति। (छा० ६/१०/२।।) यथा भागवते-

न यत्र वाचो न मनो न सत्वं तमो रजोवा महदादयोऽमी।
न प्राणबुद्धीन्द्रिय देवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः।।

(।।भा० १२-४-२०)

जायते जागरो ह्यस्य जीवस्य प्रत्यगात्मनः।
एतस्मात् सत्यसंकल्पात् परेशात् परमात्मनः ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं जीवस्वापनिरूपकम्।
रामभद्रेण विदुषा व्याख्यातं प्रीतये नृणाम्।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

।।अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ।।

अथपूर्वपक्षते क उत्तिष्ठति। यतो हि- ब्रह्मसम्पन्नस्य जीवस्योत्थानमसम्भवम्? अत आह-

स एव तु कर्मानुस्मृति शब्दविधिभ्यः ।।३/२/९।।

तु शब्दः पूर्व पक्षनिवर्तकः। स एव उत्तिष्ठति यः सुप्तः कथम्? अत्र चत्वारो हेतवः कर्मेत्यादयः। कर्म च अनुस्मृतिश्च शब्दश्च विधिश्च इति कर्मानुस्मृति शब्दविधयः तेभ्यः कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः पूर्वं कर्मणः जीवेन पूर्वार्जितानि कर्माणि सुषुत्यनंतरमपि भोक्तव्यानि। अनुस्मृतेः। सुप्तोत्थितः सन् स्वपूर्वघटनाः जीवः स्मरति। यदि स न प्रबुध्येत तर्हि रूपान्तरं स्वापपूर्वकालिकघटनाः कथं स्मरेत्? शब्दोऽपि श्रुतिरपि प्रमाणम्। **"स त आगम्य न विदुः सत आगच्छाम इति"** "विधिरचना- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निधिध्यासितव्यः (बृ० ३/२/५) यदि स्वापानन्तरं जीवो न बुध्येत तर्हि किमर्थोऽयं आत्मदर्शनविधिस्यात् ।। यथा भागवते-

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा।।

भा० ११-१३-३० यथा।।

कर्मणोऽनुस्मृतेश्चैव श्रुतिशब्दादथापि च।
आत्मदृष्टिविधेश्चैव सजीवः प्रतिबुद्धयते ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं जीव जागरसम्मतम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं विदुषां मुदे।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ मुग्धाधिकरणम् ।।

अथ मूर्च्छावस्थाविचार्यते- केयं जागरितावस्था। यद्वा सुषुप्तिः यद्वा द्वयोरन्तर्भूता, यद्वा- ततो विलक्षणा? इत्यत आह- **मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्** ।।३/२/१०।। मुग्धे मूर्च्छिते पुरुषे अर्धसम्पतिः। सम्पत्तिर्मरणम्। अर्धं सम्पत्तेः अर्ध सम्पत्तिः।" अर्धं नपुंसकमिति समासः। पिप्पल्यादित्वात्। स्त्रीलिंगता च। यम् अर्धमरणावस्था जाग्रद्रितावस्थातो विलक्षणत्वात् जागृतव्यवहाराणां व्यवहारात् नेयं सुषुप्तिः। निष्ठयूत वेपथुः प्रभृति विचित्रगुणकत्वात्।

मूर्छतान् मम मोहोऽयं मूर्च्छतान् मम मत्सरः।
मूर्छताच्च ममाज्ञानं त्वत्प्रसादेन राघवः।।

यथा भागवते-

क्वचिच्चवात्यौपम्यया प्रमदयाऽऽरोहम
मारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत
इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता
अतिरजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्नविजानाति।।
।।भा० ५-१३-९

मूर्च्छावस्था हि जीवस्य नेमं मरणमुच्यते।
जागरितात् तथा स्वप्नात् सुषुप्तेश्च विलक्षणा ।।श्रीः।।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं मुग्धपापेन वै मया।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं बुद्धये बुधाम्।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।अथोभयलिङ्गाधिकरणम्।।

एव जीवस्य अवस्थात्रयमुक्त्वा तत्प्राप्यपरमात्मनः स्वरूपं वक्तव्यमिति पञ्चदशभिः उभयलिङ्गाधिकरणं निरूप्यते। एकस्मिन्नेव शरीरे जीवात्मना सह तिष्ठन् जीवात्मेव परमात्मापि सुखदुःखादिद्वन्द्वैः कर्मबन्धनैश्च युक्तो भवेत्? इत्यत आह-

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्ग सर्वत्र हि ।।३/२/११।।

तसिल् प्रत्ययः पञ्चम्यन्ताज्जीवात्मना सह स्थानादपि परस्य परमात्मनः नैव सुखदुः खादयो द्वन्द्वा। सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु तस्य परमात्मनः उभयलिङ्गम्। निर्दोषत्वकल्याणगुणगणवत्वयोः लिङ्गं प्रमाणम्। यथा "एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।।छा० उ० ८-७-१, "निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।।छा० उ० ६-१९ इत्युभयोरपि प्रामाण्यात्।

यथोक्तं भागवते-

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम्।।
(।।भा० १०-८०-३०)

हृद्देशे वर्तमानोऽपि भगवान् प्रत्यगात्मना।

न तद्दोषेण लिप्येत निर्दोषः सगुणः प्रभुः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह-

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।।३-२-१२।।

ननु जीवस्यापि अपहतपाप्मत्वादिगुणत्वं निर्दोषत्वं चोक्तम्। तथापि देवमनुष्यादिदेहभेदात् यथा तस्मिन् दोषाः। तथा कथं न परमात्मनि? इत्यत आह- "प्रत्येकमतद्वचनात तस्य दोषस्य वचनं कथनं तद्वचनं न तद्वचनात् अतद्वचनात् निर्दोषत्वकथनादितिभावः। तत्रान्तर्यामिब्राह्मणे अन्तर्यामित्वेन पृथिव्यादिविज्ञानपर्यन्तानां शरीरित्वेऽपि प्रत्येकमुपदेशस्य अनन्तरम् "एष त आत्मार्याम्यमृतः "इति विंशतिकृत्वः अमृतत्वमभिधाय तस्यनिर्दोषत्वकथनात्। भेदे सत्यपि न ब्रह्मणि दूषणलेशोऽपि दूषणशत्रौ।। यथा भागवते-

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक च पश्याम यन्न व्यवाहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं तथापि राजन् करवाम किं ते।।

(।।भा० ५-११-१२)

सति भेदेऽपि जीवात्मदोषैर्न लिप्यते हरिः।
अमृतत्वादिधर्माणां प्रत्येकमगिरोक्तितः ।।श्रीः।।

हेत्वन्तरमाह-

अपि चैवमेके ।।३/२/१३।।

किं च एके श्वेताश्वतरोपनिषदि इत्थंमेवामनन्ति। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।मु० उ० ३-१-१ यथा भागवते

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम्।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्।।

(।।भा० ११-११-६)

ननु "संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति" इति लोकोक्तेः। "अनेन जीवेनानु- प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।।छा० उ० ६-३-२ इति प्रतिज्ञानादपि जीवसंसर्गात् कथं न जीवदोषाः ब्राह्मणि? इति समाधत्ते-

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।।३-२-१४।।

हि यतो हि तद् ब्रह्म प्रधानत्वात् जीवतः उत्कृष्टत्वात् अरूपवत्। जीवकृतपुण्यपापानुरूपरुपरहितम्। अतएव तं दोषाः न स्पृशन्ति यथोक्तं भागवते-

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं- गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं नमामहे देववरं वरेण्यम्।।

(।।भा० ८-५-२६)

प्रधानत्वात्तु जीवेभ्यः तादृग् रूपविवर्जितम्।
जीवसंसर्गजा दोषा न स्पृशन्ति खरद्विषम् ।।श्रीः।।

प्रकाशवच्चावैयर्ग्यात् ।।३/२/१५।।

अपरं च दोषाः अज्ञानजनिता, अज्ञानंचान्धकाररूपम् ततोऽन्धकारे दोषाः प्रभवन्ति। दोषबाहुल्यादेव रात्रिं दोषा इत्यामनन्ति। अन्धकारप्रचुरत्वात्। किन्तु "**सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" तै० उ० २-१, "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति। इति श्रुतीनामवैयर्थ्यात् ब्रह्म प्रकाशवत् परम प्रकाशसम्पन्नम्।। अतएव तं दोषाः न स्पृशन्ति- यथा भागवते-

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत्पुमान् ।।

भा० १०-३-१८

निर्दोषो निष्क्रियः शान्तः परमात्मा प्रकाशवान्।
श्रुतीनां चाप्यवैयर्थ्यात् दोषास्तं न स्पृशन्त्युत ।।श्रीः।।

आ च तन्मात्रम् ।।३/२/१६।।

श्रुतिरपि तमेव निरस्तनिखिलदूषणं रघुकुलभूषणं ब्रह्म सीताभिरामं श्रीरामं तन्मात्रं तदेवज्ञानमात्रमाह। जात्यभिप्रायेण एकवचनम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २/१) तथा रामतापनीया श्रुतिः- **ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मावैः सच्चिदानन्दाद्वैतेकचिदात्मा भूर्भुवः स्वः तस्वै नमो नमः**" (रामात्तेरतापन्याम)

यथा भागवते-

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिसनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयेः गुणापाये समाहिता।।

(।।भा० १०-२८-१५)

निरस्तहेयगुणकं सत्कल्याणगुणाकरम्।
निर्दोषं तं श्रुतिः प्राह तन्मात्रं ब्रह्म शाश्वतम् ।।श्रीः।।

एवं बह्वयः श्रुतयः स्मृतेश्च प्रमाणभूताः तथा च-

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।।३/२/१७।।

तद्यथा तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम् पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीऽयम्।। ।।श्वेत० उ० ६/७।। अणोरणोयान् महतो महीयान् (कठ १/२/२०) आनन्दं ब्रहमेति व्यजानात (तै० ३/५) इत्यादि श्रुतयः। स्मृतेश्च अशक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च। गीता १३/१४ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः। गीता १३/१४।। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति ।।गीता ६८/६१।। यथोक्तं भागवते-

सत्यव्रतं सत्य परं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्म त्वां शरणं प्रपन्नाः।।

(भाग० १०/२/२६)

श्रुतयः स्मृतयश्चैव रामायणननूत्तमम्।
भारतं च पुराणानि निर्दोषं तं प्रचक्षते ।।श्रीः।।

स्वपक्षं समर्थयति-

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।।३/२/१८।।

अत एव ब्रह्मणः शरीरस्थत्वेऽपि निर्दोषत्वादेव सूर्यकादिवत् उपमा। जलप्रतिबिम्बितसूर्यवत् आकाशवच्च शास्त्रे उपमा दीयते। जले सूर्यो विलोक्यते। किन्तु जलगतशैत्येन नार्द्रीक्रियते। तथैव शरीरस्थोऽपि अन्तर्यामी ब्रह्ममयो भगवान् शारीरदोषेण नोपलिप्यते। तद्यथा- सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।। कठ० ३/२/११।। अन्यच्च यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यदाकाशं नोपलिप्यते। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय तथात्मा नोपलिप्यते ।।गीता १३/३२)।।

यथोक्तं भागवते-

विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः।।

(भाग० ६/१६/४६)

यथा वारिगतः सूर्यबिम्बे न पयसाद्र्यते।
तथा देहास्थितो देवो जीवदोषैर्न लिप्यते ।।श्रीः।।

ननु यथा जले सूर्यः अनवस्थितो दृश्यते। यथा च दर्पणादावपि तत्र चलन् सूर्य इति प्रतिभाति। एवं ब्रह्मणि भ्रान्तत्वप्रसंगः। अत आह-

अम्बुदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।।३/२/१९।।

अम्बुनि इति अम्बुवत्। अम्बुनि जले सूर्यस्य इव तस्य ब्रह्मणः अग्रहणात् अस्वीकारात्। दृष्टान्ते तथात्वं सर्वांशसाम्यं नास्ति। तत्र जलादिगत दोषास्पृशत्वे तात्पर्यम् यथोक्तं भागवते-

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्याभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्।।
(भाग० ३/२५/४२)

यथा जलगतो सूर्यो निर्दोषो भगवांस्तथा।
किन्तु साम्यं न सर्वांशे ततो देवे न चापलम् ।।श्रीः।।

तर्हि कथं सामञ्जस्यम् इत्यत आह-

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च।। ३/२/२०।।

उभयोः सामञ्जस्याद्धेतोः अन्तर्भावात् वृद्धिकाय भाक्त्वम्। न वास्तवम्। जलादि शैत्यादिबहिर्भूतत्वञ्च एवं पृथिव्यादौ तिष्ठतोऽपि ब्रह्मण स्तद्गतपरिच्छिन्नत्वं न वास्तवम्। न वा पृथिव्यादिदोषसंस्पर्शः। इत्युभयसांमञ्जस्यम्। व्युत्पत्तिश्च वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ तौ भजते इति वृद्धि ह्रासभाक्। तस्यभावः वृद्धि ह्रासभाक्त्वम्। यथोक्तं भागवते-.

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति।
(भाग० ३/७/११)

वस्तुतः सच्चिदानन्दे तस्मिन् सर्वगुणालये।
निर्दोषत्वं निष्कलत्वं वृद्धि ह्रासौ न वास्तवौ ।।श्रीः।।

ननु बृहदरण्यके श्रूयते- द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थित च यच्च सच्चत्यच्च इति। वृ० २/३/१।। अनन्तरं अथात्

आदेशोनेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति (बृ० ४/२/६) इदं द्वयं परस्परं विरुद्धम् इत्यत आह-

प्रकृतैतावत्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।।३/२/२१।।

इयं श्रुतिः प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य ब्रह्मणः एतावत्वं इयन् मात्रं प्रतिषेधति। ततश्च अधिकं ब्रवीति यथा- **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्** बृ० ४/३/६।।

यथोक्तं भागवते

खं रोदसि ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधा मानि।
द्वीपान् नगांस्तद् दुहितुर्वनानिभूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि।।

भाग० १०/७/३६

प्रस्तुता च श्रुतिरियं सीमानं प्रतिषेधति।
परन्तु तस्मादपि सा भूयस्त्वं चाब्रवीदिह ।।श्रीः।।

एवं श्रुतिः तत्परब्रह्म अव्यक्तमाह। न प्राकृतैरिन्द्रियैगृह्यते।

तदव्यक्तमाह हि ।।३/२/२२।।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यपम्। यदि अव्यक्तं तर्हि कथं सहस्त्रशीर्षा पुरुष इति। इत्यत आह- अपि

संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।।३/२/२३।।

भक्तानां संराधने तदव्यक्तं भवति। कथम्? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः। अनुमानं स्मृतिः। द्वाभ्यां भगवतः प्राकट्यं प्रमाण्यते। श्रुतौ यथा- **"यमे वैष वृणुते तेन लभ्यः"** (क० २/२३) स्मृतिः- भक्त्या मामभिजानाति यावन्यश्चास्मि तत्वतः (गीता० १८/५५) यथा भागवते-

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।।

(भाग० १०/३/८)

प्रत्यक्षं च श्रुतिः प्रोक्ता अनुमानं स्मृति स्मृता।
ताभ्यां ब्रह्म भवेद् व्यक्तं भक्तसंराधने किल ।।श्रीः।।

किञ्च- प्रकाशादिगुणाः जीवस्य कदाविर्भवन्ति। इत्यत आह-

''प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च'' कर्मण्यभ्यासात् ।।३/२/२४।।

प्रकाशादिवत्। जीवज्ञानस्यापि न वैशेष्यं। तत्तु आराधनकर्मणि अभ्यासादेव समुद्भूतं भवति।

प्रकरणमुपसंहरति-

अतोऽनन्तेन तथाहि लिंगम् ।।३/२/२५।।

अतो भगवद्गुणगणानामानन्त्येन परमात्मनिनिर्दोषत्व सगुणत्वयोः उभयोरपि प्रामाण्यम्।।

यथोक्तं भागवते-

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं, कैवल्यनिर्माणसुखानुभूतिः।
प्रियः सुहृदः वः खलु मातुलेप, आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च।
।।७/१५/७६।।

अनन्तत्वाद् गुणानां च सर्वशक्तिमतो हरेः।
गुणाकरत्वं नैर्दोष्यं द्वयं तस्मिन् प्रमाणतः ।।श्रीः।।
इदं पञ्चादशसूत्र्या शुभमधिकरणम्।
विशुद्ध बोद्धाढ्यं तद्ब्रह्माभ्यलिङ्ग व्याचक्षे रामभद्राख्यः।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ श्रुतौ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे (वृ० २/३//१) अस्मात्मायी सृजते विश्वमेतत् (श्वे० ४/९) सर्वं खल्विदं ब्रह्म छा० (३/१४/१) तत्वमसि श्वेतकेतो (छा० ७/१/८) इति ब्रह्मणा भेदाभेदः निर्देशो वर्तते। तत्र कथं भेदः। कथं वा अभेदः कथं चिदचितोर्विशेण्यांशकां इत्यत आह-

उभय व्यपदेशात्वहिकुण्डलवत् ।।३/२/२६।।

तु शब्दः पूर्वपक्ष निवर्तकः। यथा सर्पः स्वरूपेण कुण्डलाकारतां भजते तथैव ब्रह्मापि स्वरूपेणैव अचिद्भूतेन चिद्भूतेन च भेदमश्रित्य विशेषणतामा-

टीकत उभयो चिदचितोः व्यपदेश इत्युभयव्यपदेशः तस्माद् उभयव्यपदेशात्-

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाहवयत्।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम्
सर्पो यथा स्वरूपेण कुण्डलाकारतां भजेत्।
तथा चिदचितोर्भेदात् ब्रह्म वैशिष्ट्यमाश्रितम् ।।श्रीः।।

अपरमपि पक्षमाह-

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।।३/२/२७।।

यद्वा प्रकाशाश्रयवत् कथं उभयोरपि तेजस्त्वात्। यथा- सौरः प्रकाशः सूर्यविशेषणतया ततो भिन्नः तेजस्त्वेन न भिन्नः। तथैव चिदचिती। विशेषणतयाभिन्ने शरीरतया च भिन्ने। यथोक्तं भागवते

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति।
तद्धेतुत्वातत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः।

१०/५४/४६

यथा प्रकाशाययोर्भेदाभेदौ च तेजसा।
तथा चिदचितोर्भेदो ह्यभेदो ब्रह्मणा सह ।।श्रीः।।

अथ सिद्धान्त माह- पूर्ववद्वा ।।३/२/२८।।

वा शब्दः पक्षद्वय निर्वर्तकः। यथा पूर्वं निर्दोषत्व सगुणेति उभयनिर्देशो ब्रह्मणि संगतः एवं चितचितोः स्वरूपतो ब्रह्मणो भेदः वैशिष्ट्याच्चाभेदः। इति सर्वं समञ्जसम्।

यथोक्तं भागवते-

परामरीचिगर्भाद्या देवा इन्दोऽद्भुतः स्मृतः।
द्युतिमत्प्रभुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः।

१०/१३/१९

यथा हरेर्दिव्य गुणत्वयोगान्निर्दोषता सद्गुणधामता च।
तथेह तस्मिंश्चिदचिद्विशिष्टमद्वैतत्वं सुसमंजसं वै ।।श्रीः।।

किञ्च श्रुतिभिः ब्रह्मणः अचिद्धर्माः प्रतिषद्धाः अत आह-

प्रतिषेधाच्च ।।३/२/२९।।

बृहदारण्यके- **स वै महानज आत्मा अजरोऽमृतः** (बृ० ४/४/२५) छान्दोग्ये च- **नास्ति जरयैस्तज्जीर्यति** (छा० ८/१/५) इत्यादिभिः ब्रह्मणि अचिद्धर्मा निषिद्धाः। अतः स्वरूपतो भेद एव। वैशिष्ट्यादभेदः। यथोक्तं भागवते-

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धाज्ञात्वाऽऽत्मनोगतिम्।।

(भाग० १०/८७/४२)

सर्वेऽपि जडधर्मा वौ प्रतिषिद्धा विभूमनि।
भेदाभेदव्यवस्थातो विशिष्टाद्वैतमेव तत् ।।श्रीः।।
इत्येवं चाधिकरणं ब्रह्मनिर्दोषताश्रयम्।
श्रीरामभद्रविदुषा भक्त्या भाष्ये विभाषितम् ।।

।।अथ पराधिकरणम्।।

अथ पूर्वपक्षः-

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।।३/२/३०।।

अतः ब्रह्मणोऽपि किमपि परतत्वं प्रतीयते। कथम्? अज चत्वार। पक्षाः सेतोः उन्मानात् सम्बन्धात् भेदव्यपदेशात्। **सेतोः अथ य आत्मा स सेतु र्विधृतिः** (छा० ८/१/४) अत्र सेतुनापि किमपि तर्तव्यं भवति। **"एतं सेतुं तीर्त्वा"** छा० ८/४/२।) एतेन तरणीयव्यपदेशः। अतोऽपि ब्रह्मणः किमपि परं तत्वम्। पुनश्च चतुष्णाद् ब्रह्म इत्यनेन पादानां परिमाणेन व्यपदेशेन परिमाणिता। अत इतोप्यधिकं किमपि परिच्छेद्यम्। **"अमृतस्यैष सेतु"** (मु० २/२/५) एषः अमृतस्य सेतुः। एतेन अमृतं प्राप्तव्यम् अतोऽपि किमपि विलक्षणम्। परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। (मु० ३/२/८) एतस्मादपि परं किमपि वर्तते। पुनश्च अणोरणीयान् एवं कश्चन भेदः। एभिः हेतुभिः किमितोऽपिपरंपरं किमपि तत्वम्। इति महति पूर्वपक्षे। उत्तरयति पञ्चमी नास्ति।यथोक्तं भागवते-

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा

तपसा ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः।

(१०/१४/२४)

सेतुत्वाच्च प्रमाणत्वात् सम्बन्धाद् भेदवादतः।
ब्रह्मणोऽपि परं तत्वं किमु किञ्चिद् विलक्षणम् ।।श्रीः।।

किमपि एतस्मात् परं तत्वम्। सेतुत्वोपमा मर्यादा संरक्षणाय। न तु तर्तव्यनिर्देशाय अत आह–

सामान्यान्तु ।।३/२/३१।।

सामान्यम् उपमनोपमयसाधारणो धर्मः। अतएव उत्तर वाक्ये एषासम्भेदाय इति प्रयुक्तम्। तस्माद् इदं सर्वथा निर्मूलम्।

यथोक्तं भागवते–

भुविपरूनपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमददास्त
उतभवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि
नित्य सुखे न पुनरूपासते
पुरुषसारहरावसथान् ।।

१०/८७/३५

सेतुत्वं धर्मसामान्यं उपमानोपमेययोः
ततो सेतोरसद्धेतो न किंचिद् ब्रह्मणः परम् ।।श्रीः।।

उपमानं खण्डयति–

उद्धयर्थः पादवत् ।।३/२/३२।।

चतुष्पाद ब्रह्म इति पादनिर्देशस्तु बुध्यर्थः। उपासनार्थो वर्तते। बुद्धिरुपासना। सिद्धं तूपासवशब्दादिभ्यः इति बोधायनवचनात्। अतः पादव्यपदेशेन अपि न ब्रह्मणः किमपि परम्।

साम्नां जैमिनये प्राय तथा छान्दोग्यसंहिताम्।
अन्यर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्टयाय सुभन्तवे।।
वेदकर्मम्य उत्पन्नात् अपूर्वाज्ञासितै न सः।

धर्मात्कर्मफलं भुङक्ते इति जैमिनि रब्रवीत् ।।श्रीः।।

परिच्छेदं खण्डयति–

स्थान विशेषात्प्रकाशादिवत् ।।३/२/३३।।

स्थानानां विशेषात् प्रकाशादिवत् परिच्छेदो विलोक्यते। यथा घटावच्छिन्नस्य सूर्यस्य घट परिच्छिन्नः प्रकाशः मठावच्छिन्नस्य मठपरिच्छिन्नः। यथोक्तं भागवते–

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपादो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु।
(भाग० २/६/१८)

उपासनार्थम्भूतानां चतुष्पादिति कल्पना।
ततो नोन्मान हेतुत्वं परत्वे ब्रह्मणः किल।

उपपत्तेश्च ।।३/२/३४।।

किञ्च अमृतस्यैष सेतुः ब्रह्मणोऽन्यत् प्राप्तव्यं निशेधति- एतस्मात् परं न किमपि प्राप्तव्यमुपपद्यते। न किमपि साधनान्तरम्। अतः स्वयमेव स्वप्रापकः अतः अमृतस्य स्वस्थ एष एव सेतुः। यमे वैष वृणुते तेन लभ्यः (क० १/२/२३) इति श्रुतेः। यथोक्तं भागवत–

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।
(१०/१४/३२)

स्थानानां च विशेषेण परिच्छेदः परात्मनि।
घटावच्छिन्नसूर्यस्य परिच्छिन्न प्रकाशवत् ।।श्रीः।।

किञ्च एतस्मात् परस्य प्रतिषेधोऽपि वर्तते। यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्तिकश्चित् (श्वे० ३/९/) अतः सूत्रयति–

तथान्य प्रतिषेधात् ३/२/३५।।

न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते (श्वे० ६/८) इत्यन्यप्रतिषेधेन तदेव परतत्वम्।। यथोक्तं भागवते-

अनुजानीह मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम्।

(१०/१४/३९)

प्राप्यं प्राप्तस्य चोपायो भगवान् स्वयमेव हि।
अमृतस्यैष सेतुर्हि श्रुतेरित्युपपद्यते ।।श्रीः।।

अथायामादीन् निरूपयति-

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ३/२/३६।।

यथा नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् (मु० १/१/६) सर्वव्यापी स भगवान् (श्वे० ३/१३)। यथोक्तं-

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।।

(भा० २/९/३५)

अस्मात्परतरस्यैव प्रतिषेधो ह्यनेकशः।
विद्यते श्रुतिमन्त्रेषु ततो नो ब्रह्मणः परम् ।।श्रीः।।

आयामो व्याप्तिः। शब्दः श्रुतिः। आदिः उत्पत्तिः। एवमनेन भेदाभेद व्याख्यानेन आयामात् व्यापकत्ववचनात् शब्दात् श्रुति प्रमाणात् उपपत्तेश्च ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वं सिद्धम्।

स्वरूपतस्तु भेदोऽस्ति चिदचिद्भ्यां ब्रह्मणो ननु।
विशेषणादभेदोऽस्ति विशिष्टाद्वैत सम्मतः।।
इष्चैवाधिकरणं ब्रह्मसर्वस्वमद्भुतम्।
श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं भक्तये हरेः।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ निर्णीते परतत्वे ब्रह्मणि भगवति रामे फलं कस्मात् कर्मणः परमात्मनो वा। इति प्रश्ने आह-

फलमत उपपत्तेः ।।३/२/३७।।

अतः परमात्मन एव फलम्। कथम्? कर्मणां क्षणप्रध्वस्तत्वात्। अतएव पुण्यदन्ताचार्यः। क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधममृते। यथोक्तं भागवते–

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां, तेनैवजातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते, रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा।।

(१०/१४/२५)

भेदाभेदविवेकेन व्यापकत्वादि लिङ्गतः।
सिद्धं सर्वगतत्वं हि विशिष्टाद्वैततो हरेः ।।श्रीः।।

श्रुतत्वाच्चा ।।३/२/३८।।

श्रुतिरपि भगवत एव फलदानं समर्थयते। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन। (तै०२/९) ततोऽनन्त्याय कल्पते। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।

धर्मं जैमिनिरत एव ।।३/२/३९।।

जैमिनिः धर्मं फलदातां मन्यते। अत एवोत्पन्नात् अपूर्वात् कर्म वा फलं प्राप्यते जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्। १२/६/५३।यथोक्तं भागवते–

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतंस्मरोदयम्
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्वर्णयन्।

(१०/२१/३)

सर्ववेदान्तवाक्यानामुपपत्तेर्जगत्पतौ।
सर्वकर्मफलं नूनं ब्रह्मणोऽस्माद्धि लम्यते ।।श्रीः।।

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।।३/२/४०।।

तु शब्देन पूर्वपक्षं निवर्तयति। भगवान् बादरायणः हेतुव्यपदेशात् अचेतनत्वात् कर्मधर्मयोः जीवकर्मज्ञानाभावात् कथं फलदातृत्वम्। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। यथोक्तम्

अकामः सर्वकामोवा मोक्षकामा उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम्। २/३/१०
अचेतनत्वाद्धर्मस्य सर्वज्ञत्व वियोगतः।
जीवानां कर्मफलदं ब्रह्मेति बादरायणः ।।श्रीः।।

अतः सर्वशक्तिमान् सर्वकारणभूतो भगवान् ब्रह्म श्रीरामचन्द्र एवं फलदातेति राद्धान्तः।।

यथोक्तं भागवते–

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्यन्तभावनम्।

(भा० ३/३३/७)

रामायणे भारतादौ तथा सर्वस्मृतीतिष्वपि।
अष्टादशपुराणेषु श्री हरिः फलदः स्मृतः ।।श्रीः।।

स्मर्यते च ।।३/२/४१।।

स्मर्यते अपि। आर्षे आदि काव्ये वाल्मीकीये श्री रामायणे भारतादौ च सकृदेव प्रपलाप तवास्मीति। सर्वधर्मान्परित्यज्य मामकें शरणं व्रज।

इदञ्चैवाधिकरणं फल निर्णायकं हरेः।
मया श्रीरामभद्रेण व्याख्यातं रामभक्तये।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

द्वितीयो ऽयं मया पादः तृतीयाध्याय गोचरः।
सीता द्वितीय कृपया ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामिरामभद्राचार्यकृतौ श्रीराघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीयःपादः।

अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

तृतीयस्य तृतीयेऽस्मिन् तृतीयं समुपास्महे।
मुनीनामपियत्पादे तृतीय उपजायते।

।।अथ सर्ववेदान्त प्रत्ययाधिकरणम्।।

अथ जीवब्रह्मणोर्निरूपणं विधाय तत्प्रतिपादके विचारः। वेदान्तो हि मुख्यतया ब्रह्मपतिपादकः वेदस्यान्तिमभागत्वात्। अन्ते हि निर्णयो भवति। इतः पूर्वेषां पञ्चानामपि दर्शनानां पूर्वपक्षत्वात्। यद्वा अन्तः शब्दः सिद्धान्तपरः। वेदस्य अन्तः सिद्धान्तः येषु ते मन्त्राः वेदान्ताः। केषुचिन्मन्त्रेषु वेदस्य

शिष्यस्य जैमिनेर्मतं। हेतुद्वयगर्भेण सूत्रद्वयेनोपन्यस्यति-

''मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।।१/३/३१।।

छान्दोग्ये तृतीयाध्याये मधुविद्यानिरूपिता। तत्र आदित्यवस्वादिदेवा मधुरूपेण वर्णिताः। यथा- असावादित्यो देवमधु तस्य- द्यौरेव तिरश्वीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः। (छा० ३/१/१) एवं मधुविद्यया स्वस्योपासन विधीयते तत्र देवानां नाधिकारः। असम्भवात् स्वेन स्वोपासनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। इति जैमिनिराचार्यो मन्यते यथोक्तं भागवते-

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः। ।।

(भा० २-६-२०)

देवानां मधुविद्यायां स्वस्य स्वेनार्चना विधा।
अशक्यत्वान्नाधिकारः एतज्जैमिनिरब्रवीत् ।।श्रीः।।

अपरमपिहेतुमाह-

ज्योतिषि भावाच्च ।१/३/३२।।

अत्र व्याख्यानप्रकारकद्वयम्।

प्रथम कल्पे, ज्योतिषि शब्दः नक्षत्रवाची। सूर्यादीनां स्वयं ज्योतिषनक्षत्रमण्डले भावसत्वात्। तर्हि स्वयं प्रकाशरूपत्वात् मधुविद्या स्वं प्रकाशं कथमुपास्यताम्? द्वितीयपक्षे, ज्योतिः परं ब्रह्म" "यदतोदिवः परो ज्योतिर्दीप्यते। परं ज्योति रूप संपद्य- तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० ६/४/१४) यद्वा ज्योतिष्शब्दो ज्योतिर्मयलोकपरः। देवानां ज्योतिषि ज्योतिर्मयलोके भावात् स्थितत्वात् हेतोः सर्वैश्वर्यतृप्तानां तेषां मध्वादिषु अनधिकारं जैमिनि राह- यथोक्तं भागवते-

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
सत्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ।।

(भा० १०-३-२४)

स्वयं ज्योतिर्मयत्वाच्च ज्योतिर्लोके जगत्पति।

ज्योतिस्थत्वात्ते देवाः मधौ नाधिकृताः किल ।।श्रीः।।

इमं पूर्वपक्षं उत्तरयन् प्राह बादरायणः-

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।१/३/३३।।

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। बादरायणः मध्यवादिषु भावं अधिकारं मन्यते। यतो हि वेदविहितत्वात्। सोपासनमपि भगवदुपासनासोपानं अतएव कर्मकाण्डे आत्मवन्दनं क्रियते। यद्वा- लोक संग्रहार्थं सोपासनं यथा- गोवर्धनधारणप्रसंगे भगवान् स्यवमेव शैलीभूतं स्वयं प्रणनाम- तस्मैनमो ब्रजजनैः सहचक्रे ऽऽत्मनात्मने। अहोपश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ।। (१०/२४/३६ भागवत) लोकहृष्टान्तभप्याह उत्तर खण्डेन यथा लोकेऽपि स्वेन सम्पूज्यते। विभूतित्वाद्धरेर्लोकसंग्रहात् स्वसमर्चने।

शक्ये मधौ चाधिकारं प्राहैषां बादरायणः ।।श्रीः।।
मध्वाधिकरणं चैतत् सोपपत्तिनिरूपितम्।
श्रीरामभद्राचार्येण वैष्णवानां सतां मुदे।।
सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः,
शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगेत्पत्तेः अपेक्षते तत्र बलं कुलञ्च नो,
नवापि कालो न विशुद्धतापिवा अथापशूद्राधिकरणम्

एवं अधिकारप्रसंगे मनुष्याणां देवानां चाधिकारो वर्णितः। तत्र अपि शब्देन सर्वेषां द्विजातिसंस्कारसम्पन्नानं वेदाधिकारो वर्णितः। तत्र ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां सति वेदाधिकारे तुरीयवर्णस्य वेदेऽधिकारोऽस्ति नवेति निर्णयार्थमधिकरणमेतत प्रारभ्यते। अस्मिन् बहोः कालाद् विप्रतिपद्यन्ते भिन्न भिन्नधारणावन्तः वैदिकधर्मावलम्बिनः, केचन नास्तिका, केचन अर्धनास्तिकाः वैदिक धर्मावलम्बिनः, केचन नास्तिका, केचन अर्धनास्तिकाः, केचन अवैदिकाअपि वैदिकम्मन्यमाना। चतुर्थस्य वेदेषु नास्त्यधिकार। इति वर्तते शुद्धसनातनधर्मावलम्बिनां पक्षः। परन्तु वेदेष्वधिकृतैः वेदाध्यनतो यत् फलं लभ्यते तदेव फलं वेदेष्वनधिकृतैः वेदकल्परामायणमहाभारतादिश्रवणेन वाचनेन च लभ्यते, तद्यथा- स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारत भाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।

भाग० १/४/२५।।

भारतव्यपदेशन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशुद्रादिभिरप्युता।।

।।भाग० १/४/२९।।

अत्र नवा कश्चिद् द्वेषः न वा पक्षपातश्श्रुतीनां। संस्कारा अशुद्धस्य भवन्ति, ये स्वयमेव शुद्धाः तेषां किं संस्कारैः किमन्याभिः क्रियाभिः? अतएव न शूद्रे पातकं किच्चित्नायं संस्कारमर्हति।" वेदे अनधिकृतत्वाद् एवापकृष्टम्। इति नास्ति नियमः यथा सत्योऽपि ब्राह्मणपत्न्य अनधिकृता वेदेषु किं ताः अपकृष्टाः अनसूया सावित्री प्रभृतयः अनधीतवेदा अपि सर्वोत्कर्षगताः। अधिकारो नाम कर्मप्रवर्तनाप्रयोजकः। अहो यस्माच्चरणात् गंगा प्रादुरभवत्। तस्मादेव चरणात् भगवतः प्रादुर्भूतः शूद्रः कथमपवित्र? इति विडम्बनावहः पक्षः। यदि शूद्रः अपावनः न शूद्रे पातकं किञ्चिन्नायं संस्कारमर्हति। इति कथं स्मृतं स्यात्? अधिकारानधिकारयोरंन्याकथा। पवित्रापवित्रयोरन्या। अधिकारानधिकारौ सामर्थ्यासमर्थ्यसापेक्षौ। गर्भधारणे पुरुषोऽनधिकृतोऽसमर्थ। स्त्रीशूद्राणां स्यान्नाम वेदे नाधिकारः किन्तु वेदमहातात्पयभूतभगवत्प्रपत्तौ सर्वेषामधिकारः। अतएव प्राहः श्रीरामविग्रहस्वरूपाः भगवत्पूज्यपादाः परमहंस परिव्राजकाचार्यविमलात्ममहात्मशिरोमणयः-

शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्पत्तेः अपेक्षते तत्र बलं कुलञ्च।

(श्रीमद्भगवद्गीतायामपि जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्या-)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

गीता ९/३२।।

अतएव श्रीमद्भागवते- भागवत कथां प्रारभमाणः भगवान् शुकाचार्यः।-

किरात हूणान्ध्रपुलिन्द पुल्कसा आभीरकङ्कायवनाः ससादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।

(भागवत २/४/१८)

अतएव श्रीरामचरितमानसेऽपि स्वयमेवप्राहुः श्रीमद्रामानन्दीयकुल-कैरवशीतरश्मयःश्रीमद्गोस्वामितुलसीदास महाराजाः।

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजे सुनु सठमना।
काणिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।।

आमीर जवन किरात खस स्वचादि अति अघरूपजे।
कहि नाम वारक तेपि पावन होंहिं राम नमामि ते ।।

(रा० उ० २९/१/१३०)

को नाप्तवान् गतिमथो रघुवीरमेत्य
के रे मनः पतितपावनमीड्यकीर्तिम्।
तीर्णा भवं हि गणिका गजराड्गवाशो,
गृध्रोह्यजामिल समः पतिताधिराजः।।

आभीरयावनखसः कुटिलः किरातः। कोलः श्वपाक इति वरुण कुलादपेतः।

रामेति सोऽपि सकृदेव मुखेन गीत्वा
संसारपार मगमत् तमहं नमामि।।

किञ्च वर्णव्यवस्था नापकर्षाय परमोत्कर्षायैव सा। इदमत्रावधेयम्। यदस्माकं वैदिके धर्मे वर्णा सन्ति सर्वे समाना। किन्तु सवर्णः अवर्णो नास्ति कोऽपि। न कोऽपि दलितः न कोऽपि पृष्ठगामी सर्वे हिन्दवस्समानाः किञ्च- यदि पद्भ्यां जातत्वात् शूद्रोपेक्षाभाग्? तर्हि कथं पादयोः प्रणम्यते न मुखे। कथं पादोदकं गृह्यते न मुखोदकम्? किञ्च पूज्यताद्योतकप्रकरणे पूज्यचरण-गुरुचरण-पितृचरणमातृचरण इत्येत चरणान्तं प्रयुज्यते न मुखान्तम्।

तस्मात् ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चापि महामनाः।
सनातनस्य धर्मस्य चत्वारः स्तम्भका वयम्।।
नैव शूद्रो घृणापात्रं नैवोपेक्ष्यः कदाचन।
हिन्दवः सोदराः सर्वे श्रीरामानन्दानुशासनात्।।

अथ यदि शूद्रो वेदेनाधिकृतः तर्हि रैक्वः जानश्रुतिनामानं राजानं अरे शूद्र! इति कथयित्वा कथं तिरश्चकार। इति शंका समाधातुमाह-

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदा द्रवणात् सूच्यते हि ।।१/३/३४।।

छाग्दोग्ये इत्थमाख्यायते। परमदानशीलः जानश्रुतिनाम राजा आसीत्। स एकदा सायं अध्याट्टालिकामासीनः आकाश उत्पतितहंसात् स्वापेक्षया रैक्वस्य परमोत्कर्षं श्रुत्वा ब्रह्मविद्याविषये परमचिन्तितोऽभवत्। अनन्तरं क्षत्तारं प्रेषयित्वा तन्निवास स्थानसंकेतमभिगम्य तत्र बहु-धनं गृहीत्वागतः स रैक्वः ब्रह्मवेत्ता पामानं कण्डूयमानः तमुपेक्षितवान्। शूद्र इति कथियत्वा। कथं

क्षत्रिय शूद्र इति अकथयत्? इत्येव प्रतिपादयति। तस्य अनादरः तदनादरः। तस्य श्रवणात्। अस्य जानश्रुतेः शुभचिन्ता। अतएव तदाद्रणवात् निजानादरेण संजात ईर्ष्याभावः, तं प्रति आद्रवत् अतोऽसौ शूद्र इति कथितंः। हि यतो हि इदमेव सूच्यते तस्य सर्वज्ञतया तथाहि शुचा चिन्तया द्रवति रैक्वमभिगच्छति इति शूद्रः। अनन्तरं सः कन्यां धनेन सह गृहीत्वा गतः पुनः धनं परावर्त्य कन्यां गृहीतवान्। सा कन्या नाम श्रद्धा तामेव गृहीत्वा धनं तिरस्कृतवानसौ अतः शुचा तत्समीपमाद्रवणात् शूद्रो जानश्रुतिः न तु वर्णतः अतएव भागवते-

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ।।

(भा० १-४-२४)

शुचा रैक्वमभिद्रावात् स्वावमानश्रुतिर्द्रुतम्।
रैक्वस्तमाह शूद्रेति नृपं जानश्रुतिं किल ।।श्रीः।।

किञ्च- एतस्य औपचारिक शूद्रत्वे किं मानम्? इत्यत आत् अग्रिमं सूत्रं-

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।।१/३/३५।।

तस्य जानश्रुतेः अस्या आख्यायिकायाः उपक्रमेण क्षत्रियत्वमवगम्यते। तद्यथा- "जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी आस।। छा० उ० ४-१-१, बहुदायित्वं च क्षत्रियस्यैव स्वभावसिद्धं कर्म-

"दानमीश्वरभावं च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।गीता १८-४३ एवं उपक्रमे जानश्रुते क्षत्रियत्वं प्रतिपाद्य उपसंहारे चैत्ररथेन सह संवर्गविद्याध्ययनादपि लिङ्गात् एतस्य क्षत्रियत्वम्। "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमामौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे (छा० उ० ४-५-५)

इह कापेय सन्निधानेन अभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वं। किं च अभिप्रतारिणा चैत्ररथेन सह जानश्रुतेः समभिहारादपि तस्य क्षत्रियत्वम्। शतपथ ब्राह्मणै चैत्ररथस्य क्षत्रपतित्वं स्पष्टं सूचितम्।

"तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत" (शतपथ० ब्रा० ११-५-३-१३) एवं जानश्रुतिर्न जन्मना शूद्रः किन्तु औपचारिकं तच्छूद्रत्वम् यथा श्री भागवते-

तस्माद् ब्राह्मण देवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणा ननु ।।

(भा० ७-१४-१८)

बहुदायित्वलिङ्गाच्च सख्याच्चैत्ररथे नृपे।
क्षात्रं जानश्रुतेः स्पष्टं शूद्रत्वं नैव जन्मना ।।श्रीः।।

अन्यावपि द्वौ हेतू दीयेते-

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।।१-३-३६।।

संस्कारस्य परामर्शात् वेदेष्वधिकारः प्राप्यते। शूद्रे च तस्योपनयनसंस्कारस्य आभावस्य अभिलापात् अभिलपनात् तत्र नाधिकारः। छादोग्ये एका आख्यापिका आख्यायते- जाबालायाः पुत्रः सत्यकामः स्वमातरं प्रति ब्रह्मचर्यं वस्तुं मन्त्रयाञ्चक्रे। गोत्रञ्च जिज्ञासितवान्। सा स्पष्टं कथितवती। यत्तव पितरं बहुपरिविचरन्ती अहं गोत्रं नापृच्छम्। त्वं सत्यकामः अहं जाबाला। अनन्तरं गौतमं हारिद्रुमत मुपेत्य तेन स्वीकीयाज्ञातगोत्रता वर्णिता। तदा हारिद्रुमतोऽब्रेवीत् यदेतावत् सत्यं ब्राह्मणादृते न कोऽपि वक्तुं शक्नोति। अतस्त्वामुपनीय वेदं पाठायिष्यामि। तद्यथा- तं होवाच नैतदब्राह्मणं विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गाः निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुव्रजन्ति छा० (४/४/५) एवं ब्रह्मविद्यायां संस्कारपरामर्शहेतोः अनधिकारता। शूद्रे

अस्य संस्कारस्य अभावंअभिलपति स्मृतिः वम न शूद्रे पातकं किञ्चिद् नायं संस्कारमर्हति। यथा भागवते-

स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।।

(भा० १-४-२५)

संस्काराणां परामर्शं ब्रह्मविद्या ह्यपेक्षते।
तदभावाच्चतुर्थे च श्रुतौ नाधिकृतौ हि सः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुं कथयन्ति-

तदभावनिर्धारणं च प्रवृत्तेः ।१/३/३७।।

तत्र छान्दोग्ये सत्यकामे तस्य शूद्रत्वस्य अभावस्य निर्धारणे हारिद्रुमतस्य प्रवृत्तेः हेतोः वेदाध्ययने चतुर्थस्य न वाधिकारः। तथाहि- **नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये** (छा० ४/४/५) अथवा अत्र सति सप्तमी। तस्य अभावः तदभावः। तस्य निर्धारणं तदभावनिर्धारणम्। तस्मिन् तदभावनिर्धारणे तस्य शूद्रत्वाभावस्य निर्धारणे सत्येव गौतमस्य सत्यकामोपनयने

प्रवृत्तेः अपि हेतोः चतुर्थो नाधिकारी वेदाध्ययने अत एव श्री भागवते-

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्या तुष्यते हरिः ।।

(भा० ३-६-३३)

शूद्रत्वाभावमालोच्य हारिद्रुमत आदरात्।
प्रवृत्तस्तमुपानेतुं तूर्यो नाधिकृतस्ततः ।।श्रीः।।

प्रकरणमुपसंहरन्नाह-

श्रवणाध्यपनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।।१/३/३८।।

श्रवणञ्च अध्यायनञ्च अर्थश्च श्रवणाध्ययनार्थाः। तेषां प्रतिषेधः! श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधः तस्मात्। अर्थशब्दः अर्थज्ञानपरः तेषां कृते वेदश्रवणस्य अध्ययनस्य अर्थस्य च प्रतिषेधः न तस्मादपि हेतोः स्मृतेश्च हेतोः चतुर्थस्य वाधिकारः ब्रह्मविद्यायाम्। वस्तुतस्तु वेदोपबृंहणपरकपराणेतिहासेभ्यः वेदार्थं तेऽनुगन्तुं शक्नुवन्ति। अत एव भागवते दृश्यते-यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत इत्यनेन अपकर्षो नावगन्तव्यः। संस्कारो नाम शुद्धतामानं चतुर्थो निरन्तरमेव शुद्धः तस्य संस्कारावश्यकतैव नहि। किञ्च आश्रमेष्वपि रोपः वर्णा ब्रह्मचारी ब्राह्मणः, गृहस्थः क्षत्रियः। वानप्रस्थो वैश्यः, यतिस्तूर्यः यथा शूद्राऽनुपवीती त्यक्तवेदक्रियः तथा सन्यासस्यापि। यदि अकृतसंन्ध्यः सन्यासी मोक्षाधिकारी, तर्हि कथं न शूद्र इति? एवं शुभपरमात्मा निश्चयेन द्रवति यस्मिन् स शूद्रः। अत एव भागवते शुक्राचार्यः-

किरातहूणेन्द्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयांश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।

(भा० २-४-१८)

श्रवणाध्यायभ्यां च श्रुत्यर्थप्रतिषेधतः।
वेदोक्तब्रह्मविद्यायां तुरीयो नाधिकारवान् ।।श्रीः।।
अपशूद्राधिकरणं यथा शास्त्रं समन्वये।
अध्याये प्रथमे प्रोक्तं रामभ्रदेण धीमता।।

"श्री राघवः शंतनोतु।"

अथ प्राणाधिकरणम्

कम्पनात् ।१/३/३९।।

अथ प्रकृतमनुसरति सूत्रकारः। औपनिषदवाक्यार्थविचारनिर्णयपरकमिदं ब्रह्ममीमासाख्यं भिक्षुसूत्रम्। इत्यसकृदवोचाम। कठोपनिषदि द्वितीयवल्यां श्रूयते-

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।२/३/२।।

अत्र प्राणशब्दमधिश्रित्य विचारणात् किमयं प्राणः मुख्यो वायुः उताहो परमात्मा? इत्यत आह- कम्पनात्। अत्र श्रुतौ प्राण एजति इत्येनेन कम्पनं प्रयुक्तमस्ति। तच्च भयमूलकं भवति। भयञ्च सर्वशक्तिमतः परमात्मन एव जायते। तस्माद् एजति इत्यर्थकाद् हेतोः अजः प्राणः परमात्मैव न वा मुख्यो वायुः न वा जीवात्मा स उ प्राणस्य प्राणः इति श्रुतेः।

यथोक्तं भागवते श्रीकपिलेन-

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ।।

(भा० ३-२५-४२)

सर्वशक्तिमतस्तस्मात् सर्वे बिभ्यति चेश्वरात्।
कम्पनात् अत्र वै प्राणो रामो ब्रह्म सनातनम् ।।श्रीः।।
इत्थं प्राणाधिकरणं तृतीये प्रथमस्थिते।
श्री राघवकृपाभाष्ये रामभद्रेण भाषितम्।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ ज्योतिरधिकरणम्

ज्योतिर्दर्शनात् ।१/३/४०।।

छन्दोग्योपनिषदि प्रजापतिविद्यायां परं ज्योतिरूपसंपद्य इत्यत्र ज्योतिः श्रवणं वर्तते। अत्र किन्नाम ज्योतिः सूर्यादिज्योतिः दीपज्योतिः ब्रह्म ज्योतिर्वा? अत आह ज्योतिरत्र ब्रह्मैव। को हेतु? इत्यत आह "दर्शनात्"। अत्र उपक्रमवाक्ये एष आत्मापहतपाप्मा विंजरोविमृत्युर्विशोको" इत्यादौ ब्रह्मणः उपक्रमः

अन्यमपि हेतुं दर्शयति-

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।।३/३/१७।।

प्राणादिशब्दैरपि आत्मनोऽन्वययात् कथम् ब्रह्मण्यन्वयः? इति चेत? न अवधारणार्थं तत् यतो हि प्राणादिभिः सह आत्मनोऽन्वयः शाखाचन्द्रन्यायेन यद्वा स्वकीयव्याप्तिसूचनाय कृतः। पूर्वे विज्ञानमयान्ताः न परमेश्वरवाच्याः अनवधारणात्। "आनन्दंब्रह्मेतिव्यजानात् "इत्यवणवाक्यानुरोधेन अत्रैव समन्वितः आत्मशब्दः परमात्मवाची। यथा भागवते-

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ।।

(भा०१०-१०-४८)

अन्यैरन्वयतो नैव ह्यात्मशब्दस्तदर्थकः।
अवधारणहेतुश्च उत्तरे ब्रह्मवाचकः ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणमात्मचिन्तनचर्चितम्।
व्याख्यातं रामभद्रेण परमात्म प्रसादतः।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ कार्याख्यानाधिकरणम् ।।

एवं छान्दोग्यवाजसनेययोः प्राणेष्वयांबासः पुनश्च आचमनं द्वयोर्मध्ये कतरज्ज्यायः? इत्यत आह-

कार्याख्यानादपूर्वम् ।।३/३/१८।।

कार्यादेराख्यानात् आचममपूर्वम्। तद्यथा श्रुतिः- किं मेमेवासो भविष्यतीत्यापइतिहोचुः इत्यपां प्राणवासस्तवमभिधाय तस्मा द्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो भवति ।।छा० ५/२/२।।

पुनञ्च बृहदाण्यके- तस्मादेवं विदशिष्यन्ताआचाशित्वाचामन्त्य तमेव तमन्त्येमनग्नं कुरुते (वृ० ६/१/१४) इति आचमनादि कार्यविधानात् तदेवापूर्वम्। अपरस्मिन् व्याख्याने परमात्मनः चिदचितोः कार्यविधानात् ब्रह्म तत्वमपूर्वम्। तदेवोपास्यमिति। अत एव आत्मेत्येवमुपासीत। यथा भागवते-

युवमोरेव नैवायमत्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्माजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ।।

(भा० १०-४६-४२)

विधेयस्य समाख्यानात् आचमनं ह्यपूर्वकम्।
यथा चिदचितोर्मध्ये ब्रह्मतत्त्वमपूर्वकम् ।।श्रीः।।
अधिकरणम्मया चेदं ब्रह्मसूत्रेषु भाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्ये तृतीयस्य तृतीयके।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ समानधिकरणम् ।।

बृहदाण्यके शाण्डिल्यविद्यायां श्रूयते-

मनोमयोऽपं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्तिः यदिदं किंच ।। (बृ० ५/५/१।।) एवमग्निरहस्येऽपि- स आत्मान मुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम् (बा० अग्निरहस्यम्) तत्रायं संशयः। यद्यनयोर्विद्योर्भेद उताहो ऐक्यम्? इति सूत्रयति-

समान एवं चाभेदादिति ।।३/३/१९।।

द्वयोः मनोमयत्वादि सामान्यात् अभेदाद्धेतोः समाने। ननु समाने एवम् इति विग्रहे कथं समान एवमिति, न च अयादेशे शाकल्यलोपे गुणसंधिं प्रति तस्यासिद्धत्वात् इति वाच्यम्। समाने इति द्विवचनत्वेन ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ।। (पा० भ० १-१-११) इति प्रगृह्यसंज्ञालक्षणे प्रकृतिभावे समान एवमित्यनुपपन्नम्? इति चेत्? सत्यम्। बहुलं छन्दसि" इत्यने बाहुलकात् प्रगृह्यसंज्ञाया अभावो वक्ष्यते। यद्वा एवं विद्ययोः क्रमः समानः। समानः एवं इति विग्रहिष्यते। अय् निमित्रक यकारस्य शाकल्यलोपे। यथा भागवते-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत् सोऽस्म्यहम् ।।

(भा० २-९-३२)

मनोमयादि शब्दानामभेदादुभयोरपि।
विद्ययोश्च द्वयोरत्र सामान्यसंयुतक्रमः ।।श्रीः।।

इदं चाप्यधिकरणं विद्याभेदप्रदर्शकम्।
श्रीरामभद्राचार्योऽहं व्याचक्षे चक्षणो ननु।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ सम्बन्धाधिकरणम् ।।

अथ वाजसनेये आदित्यमण्डलपुरुषस्य संकीर्तनमभिधाय पुनश्चाग्रे रहस्यनाम्न्यौ द्वे उपनिषभिहिते तत्र किं पुरुषद्वयस्योपासनमुताहो एकस्य तद्यथा-

तदात्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽसन (।।बृ० ५/५/१।।) तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद (बृ० उ० ५-५-४)

इति पूर्वपक्षे, अभिधीयते-

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।।३/३/२०।।

द्वयोः परस्परं सम्बन्धाद्धेतोः अन्यत्रापि एक एव आदित्याख्यः पुरुषः। स चान्तर्यामिरूपः। अत एव शाण्डिल्यविद्यावत् अत्रापि गुणोपसंहारः।। यथोक्तं भागवते-

स्तव त्वकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर।
बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ।।

(भा० १०-८७-२८)

पृथक् गुणोपसंहारे ध्याने च विद्ययोः पृथक्।
किन्तु तयोर्गताभेदं शास्ति द्वैपायनो मुनिः ।।श्रीः।।

इदमेव श्रुतिर्दर्शयति-

दर्शयति च ।।३/३/२२।।

रुपातिदेशमेव श्रुतिर्दशयति। यदादित्यमण्डलस्य हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेशादिलक्षणरूपस्य अक्षिस्थपुरुषेऽतिदेशः क्रियते इत्येव गुणोपसंहारः।। यथोक्तं भागवते-

अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात्।
ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः।

(भा० २-८-१)

य आदित्यगतोदेवः सुवर्णश्मश्रुकुन्तलः
स एवाक्षिगते पुंसि व्यपदेश्यः श्रुतीरणात् ।।श्रीः।।
गुणोपसंहाराख्यमधिकरणम्मयोदितम्।
श्री राघवकृपाभाष्ये श्री राघवकृपाफले।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ सम्भृत्युधिकरम्।।

बृहदारण्यके गार्गी याज्ञवल्क्यं पृच्छति- याज्ञवल्क्य! कस्मिन् आकाशः ओतप्रोतः? अक्षरे, इत्यभिधाय तद्रूपञ्च वर्णयित्वा याज्ञवल्क्यः प्राह- एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि विधृतौ सूर्याचन्द्रमसौ तिष्ठतः एवं जगत्सम्भरणं द्युलोकपर्यन्तव्याप्तिश्च, अतः परमात्मन एव। अत आह-

सम्मृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।।३/३/२३।।

संभृतिः संभरणम्। संभरणं नाम जगद्धारणम्। द्योतते इति द्युः प्रकाशः तेन व्याप्तिः द्युव्याप्तिः संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारः इति संभृतिद्युत्याप्तिः इह ईशानो भूतभव्यस्य इति संभृतिः। तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति इति द्युव्याप्तिः। अतः परमात्मन एव परमात्मनि गुणोपसंहारः न विद्यान्तर्भावः। इति मम व्याख्यानम्। अथान्यथापि व्याख्यानम् तैत्तिरीसंहितायां श्रूयते- ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। ब्रह्म भूतानां प्रथमोऽत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं क इति।

इत्यत्र संभृतिः द्युलोक प्रकाशश्च इति द्वावपि गुणौ ब्रह्मोपासनानन्तरौमेव उपसंहरणीयौ। अथ चतुर्थमपि संभरणं जगद्धारणम्। धुव्याप्तिर्मोक्षाः। इदं द्वयमतः ब्रह्मणः एव। यथा भगवते-

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यःपार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।

चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिवसाम्यसदनादुरु कम्पयानाम्।
।। (भा.२-७-४०)

सम्भरणं घृतिःप्रोक्ता द्युव्याप्तिः स्वर्गरञ्जनम्।
ते विज्ञेये हि तस्माद्वै ब्रह्मणः पुरुषोत्तमात् ।।श्रीः।।
इदं चाप्याधिकरणं यथाशास्त्रं निरुपितम्।
श्री रामभद्रविदुषा पण्डितनन्दहेतुकम्।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ पुरुष विद्याधिकरणम्।।

पुरुषविद्या छान्दोग्ये तैतिरीये च श्रूयते तद्यथा - ठपुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि नामानि' चतुर्विंशति वर्षाणि (छा० ३/१६/१) तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिलोमानि बर्हिः (तै० वा० ५२) तत्र किं द्वयोः विद्ययोरैक्यम् उताहो पार्थक्यम्? यद्यपि उभयत्र पुरुषनाम श्रवणात् ऐम्यमेवेति पूर्वपक्षे प्राप्ते उच्यते-

पुरुष विद्यायामपि चेतरेषामनामानात् ।।३/ ३/ २४।।

उभयत्र गुणानामनाम्नानादेकत्वेन कथानाभावात् पृथगेव विद्ये । छान्दोग्ये पुरुषायुर्विभागो ब्रहदारण्यके रूपादिकल्पना, छान्दोग्ये रूपप्राप्तिर्बृहदारण्यके ब्रह्मप्राप्तिरिति फलवैलक्षण्यातदुभे पृथक्, अतस्तद्गुणानामुपसंहारो ब्रह्मणि। यथोक्तं भावगते-

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम्।
छन्दासि यस्य त्वचि बर्हिरोम- स्वाज्यं दृशित्वङ्घ्रिषु चातुर्होम्।
(भा.३-१३-३५)

नामसाम्येऽपि पुंसो वै पृथक्त्वेनोपदेशनात्।
छान्दोग्ये बृहदारण्ये विद्ययोर्भेद इष्यते।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं मया बुद् प्रभाषितम्।
श्रौतसिद्धान्त माश्रित्य रामभद्रांघ्रिसेविना।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ वेधाद्यधिकरणम् ।।

एवं ब्रह्मवेध प्रकरणं विचार्यते-

वेधाद्यर्थभेदोत् ।।३/३/२५।।

अर्थभेदात् अर्थानां वैलाक्षण्यात् वेधादिगुणोऽपि ब्रह्मण्यु प संहरणीयः। न तु कस्यांश्चित् विद्याथामकेन्तर्भावनीयः। यथा - तत्र मुण्डके-

धनुगृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।।

(मु० २/२/३)

प्रववो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमन्त्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।

(मु० २/२/४)

अत्र ब्रह्मरुपलक्ष्यभेदस्य आदिपदेन तन्मयीभवनस्य च विद्यासु नान्तर्भावः कर्तव्यः । अपितु ब्रह्मणि उपसंहारो विधेयः। इह केचन् उपनिषत्स प्राथम्येन पठितानां भिन्नभिन्न मन्त्रणां तात्पर्योपसंहारं ब्रह्मणि मन्यन्ते केचिच्च वेधशन्दस्य भक्त्यर्थं कृत्वा मुक्तिं ततो गरीयसी स्वीकृत्य भक्तिमुपदिशन्ति। अत्रैकं प्रकरणविरुद्धम्। द्वितीयं सिद्धान्तविरुद्धम्।

यथा भागवते-

एवं विधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्यतेः
भूरीणि भूरियशयो वर्णितानि महाभुजा ।।

(भा.११-४-२३)

अर्थनां भेदमाश्रित्य वेद्यप्रोक्तगुणो ननु।
उपसंहरणीयो हि रामे ब्रह्मणि शास्वते।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं परस्परविरोधिहृत्।
श्रीवैष्णवानुरागाय रामभद्रेण भाषितम्।।

श्री राघवः शंतनोतु

।। अथ हान्यधिकरणम्।।

ननु छान्दोग्ये- अश्वैव रोमाणिविधूय इति श्रुतौ प्रारव्ध हानिः पुनश्च

कौशीतके सुकृतिदुष्कृतीत्यादी प्रियादिहानिः श्रूयते। पुनः ब्रह्मलोकमभिसंभवामि इत्यत्र प्राप्तिर्बह्मलोकस्य। इत्यत्र संदेहः यत् कोऽपि विकल्पोऽत्र? इति जिज्ञासायाम् आह-

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ।।३/३/२६।।

हानौ श्रुतायां लाभस्यापि ग्रहणं कर्तव्यम्। कथम्? उपायनंशब्दशेषत्वात्। उपायनम् लाभः तस्य शब्दस्य वाक्य शेषत्वात् तस्यापि योजना करणीया। किमिव द्रष्टान्तमाह- कुशादित्यादि। यथा कुशाः वानस्पत्यास्थ अत्र जिज्ञासा भवतिः कस्य वनस्पतेः उपस्थिप्ताः? तत्र वाक्यशेषः औदुम्बर्यः। एवं देवासुरा छन्दोभिः अत्र के पूर्वम् स्तुतिं के निन्दाम् इत्यस्य वाक्यशेषः। देवाच्छन्दांसिपूर्वम् तथैवात्रापि। अत्र केचन व्याचक्षचे यद् हानौ उपस्थितायामुपायनशब्दस्य शेषत्वात् कुशा छन्दः स्तुतिगानयुक्तः भक्तविशेषः कर्तव्यः। इदम अप्रकरणत्वादुपेक्ष्यम्।

यथोक्तं भागवते-

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यने। ।।

(भा० ३-२९-१३)

कुशाच्छन्दशब्दे यथोदुम्बरो वै स्तुतौ चोपगाने यथा प्राक् सुरा स्युः।
तथैवात्र हानौ श्रुतायाञ्च लाभः बुधैर्वाक्यशेषात् ग्रहीतव्य एव ।।श्रीः।।

एतैच्चैवाधिकरणं श्रुतौ चिन्त्तापरायणम्।
श्रीरामभद्रा चार्येण व्याख्यातं मनसो मुदे।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ साम्यरायाधिकरण् ।।

साम्पराये शरीरोत्क्रमणे विप्रतिपद्यन्ते श्रुतयः, काश्चित् शरीरोत्क्रमणकाले ब्रह्मविदः शुभाशुभहानिं वर्णयन्ति। काश्चित् विरजासंतरणकाले तद्यथा- "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोः मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसंभवामि (छा० ८/१/१३)।। स आगच्छति विरजां नदीं ता मनसात्येतित त्सुकृतदुष्कृते धुवुते ।। (कौ० ५/३/४)।। इति विषमवादे आह

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।।३-३-२७

सम्यक् परायणं सम्परायः, सम्पाराय एव साम्परायः, तस्मिन् साम्पराये कृतब्रसाक्षात्कारस्य शरीरोत्क्रमणे मार्गे तर्तव्याभावात् तरणीयवस्तुनः अभावात्। तदारम्भककर्मानावश्यकत्वात् शरीरवियोगकाल एव सुकृतदुष्कृते समाप्येते। तथैव अन्येऽपि मन्त्रविशेषाः प्रतिपादयन्ति।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

(मु० २-२-८)

यथा भागवते-

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येषु भागवतोत्तमः।।

(भा० ५-६-६)

ब्रह्मसाक्षात्कृतः पुंसः तरणीय वियोगतः।
तत्काल एव नाशोऽस्ति तच्छुभाशुशकर्मणाम् ।।श्रीः।।

किं च कृतब्रह्मसाक्षात्कारस्य सर्वलोकेषु कामचारो भवति। इति श्रुतिवचनात् उभयश्रुत्योरविरोधः? अतः सूत्रयति-

छन्दत उभयाविरोधात् ।।३-३-२८।।

छन्दः इच्छा, छन्देन इति छन्दतः सार्वविभक्तिकस्तसिः। उभयोः श्रुत्योः अविरोधः इत्युभयाविरोधः। यथा भागवते-

ईश्वरे तद्धीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृतोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।

भा० ११-२-४५

कामचारश्च लोकेषु तस्य लोकेशदर्शिनः।
इति श्रौतगिरा चापि न विरोधो द्वयोरिह ।।श्रीः।।

अथ पूर्वपक्षमाह-

"गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ।।३-३-२९।।

देवयानं द्वेधा श्रूयते। मरणोत्तरकालं, विरजासन्तरणोत्तरकालं च। गमनं

शरीरमन्तरेण न सिद्ध्यति। शरीरं च सुकृतदुष्कृतमूलकप्रारब्धारम्भकं भवति। उभयथापि गतेः सुकृतदुष्कृतयोः अवशेष एवार्थवत्वम्। अन्यथा शरीराभावे गमनाभावात् उभयप्रतिपादश्रुतिविरोधः स्यात्। इति पूर्वपक्ष सूत्रम्। यथा भागवते-

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभि रेगोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्।

भा० १०-९-२०

गतेरेवार्थवत्तास्ति द्वयोश्चैवप्रकारयोः।
अन्यथायं विरोधोऽपि दुर्वार इति पृच्छति ।।श्रीः।।

शङ्कां परिहरति- .

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।।३-३-३०।।

कर्मशेषं विनापि देवयानो ब्रह्मविद उपपन्नः सिद्ध एव। कथं? लोकवद् हि तल्लक्षणार्थोपलब्धिः। यथा लोके महाराजसेवकानां कृते तत्प्रयत्नमन्तरेणापि सर्वे भोग्यपदार्थाः उपलभ्यन्ते। तथैवत्र तल्लक्षणार्थस्य ब्रह्मलोकगमनोपयोगि-सामग्रीसमूहस्य तत्संकल्पत एव प्राप्तिर्भवति। तथैव श्रुतिः श्रावयति-

"तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।।

(छा० उ० ७-२५-२)

यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ।। (छा० उ० २-२-१०)।। यथा भागवते-

न नाक पृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न र साधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाच्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः।।

(भा० १०-१६-३७)।।

तस्य संकल्पतः सर्वे कामास्तमुपसेवितुम्।
आगच्छतीति युक्तं वै गमनं कर्मणो विना ।।श्रीः।।

ननु शरीरोत्क्रमणकाल एव ब्रह्मविदां सुकृतदुष्कृतविनाश उक्तः **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे** इत्यादि श्रुतेः। कर्मप्रारब्धमन्तरेण क्षणमपि तदारब्धशरीरस्य स्थितिर्नि सम्भवा। तर्हि वसिष्ठादयो ब्रह्मवादिनः कथं तिष्ठन्ति? कथं च तेषां सुखदुःखाद्यनुभवः? इति जिज्ञासां समाधित्सुः सूत्रयति-

"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।।३-३-३१।।

ब्रह्मणा सृष्टिपालनाय तत्तदधिकारे नियुक्तानामधिकारिकाणां वसिष्ठादीनां ब्रह्मज्ञाने सत्यपि अधिकारं यावत् अवस्थितिः। ब्रह्म ज्ञाने सति शरीरं हीयतामेव इति न राजाज्ञा तेषां भगवदीयत्वात्। तथा चाह गीता-

नैव तस्यकृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।

(गीता ३-१-८)।।

यथोक्तं भागवते-

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते।
इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनः।

(भा० ८-१४-२)

अधिकार नियुक्तानां ब्रह्मज्ञानेऽपि वेधसा।
देहपातो न जायेत परमात्मप्रसादतः ।।श्रीः।।
अधिकरणं मया चैतत् साम्परायनिरूपकम्।
श्री वैष्णवकृपाप्राप्त्यै रामभद्रेण भाषितम्।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथानियमाधिकरणम्।।

एवं सम्परायनिरूपणे सति, विचिककित्सा भवति- यत् यत्र विद्यायां फलश्रुतौ अचिरमार्गद्वारा ब्रह्मलोकगमनं श्रुतम्। तद्विद्योपासका एव तेन गच्छन्ति उत आहो सर्वविद्योपासकाः? इति जिज्ञासमानं प्रत्याह-

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।।३-३-३२।।

सर्वेषां सर्वविद्यावतां अचिरमार्गेण ब्रह्मलोक प्राप्तिः। तद् विद्यावतामेव इत्यनियमः। नैष कश्चन नियमः। अस्मिन्पक्षे शब्दानुमानाभ्यां च अविरोधः। श्रुतिस्तावत् बृहदारण्यकछान्दोग्ययोः-

य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति ।। (बृ० उ० ६-२-१५)

"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति

।। (छा० उ० ५/१०/१) तथा स्मृतिः-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।

(गीता ८-२४)

यथा भागवते-

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपूरुषा।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले। ।।

(भा० ७-५-२३)

सर्वाषामपि विद्यानां ब्रह्मलोकमुपासकाः।
अर्चिमर्गेण गच्छन्ति न कश्चिन्नियमः श्रुतः ।।श्रीः।।
एतन्मयाधिकरणं ब्रह्मविद्गतिसूचकम्।
व्याख्यातं राघवप्रीत्यै रामभद्रेण धीमता।।

।।श्री राघवः शन्तोतु।।

।।अथ अक्षराद्यधिकरणम्।।

वाजसनेयशाखायाः काण्व माध्यान्दिनाँश्च पठन्ति। अक्षरविषये कृतं प्रश्नं गार्गीमुत्तरयन् अक्षरस्य अस्थूलत्वादि गुणं वर्णयति। एवमेव मुण्डके अथ यया तदक्षरमधिगम्यते इत्युपक्रम्य, ये अद्रेश्यत्वादि गुणा उक्ताः किं ते तत्तद् विद्यायामेव उपसंहरणीयाः अथवा सर्वेषु ब्रह्मप्रतिपादकप्रसंगेषु? इति जिज्ञासायामाह-

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्
भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ।।३-३-३३।।

अक्षरे धी येषां ते अक्षरधियः तेषामक्षरधियाम्, अक्षरत्वादीनां सामान्यात्। ब्रह्मणि सत्वाच्च। किमिव? अतआह- औपसदवत्। उपसदस्य भावः औपसदम्। यथा जामदग्न्यचतूरात्रमन्त्रस्य प्रधानानुगामित्वेन उपांशु समीपता भवति। तथैव। अतो जैमिनिना उक्तम्-

"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ।। (जै० द० सू०)।

यथोक्तं भागवते-

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् नस्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन् निषेधशेषो जयतादशेषः।

।। (भा० ८-३-२४)

अक्षरं वतदां चैव वाक्यानां सर्वसंग्रहः।
औपसद इवैतानि ब्रह्मण्येवान्वितानि वै ।।श्रीः।।

ननु यथा जामदग्न्यचातूरात्र्यमन्त्रस्य सर्वत्र ग्रहणं क्रियते तदनुरोधेन स्थूलत्वादयः गुणा अपि सर्वत्रानुसन्धेयाः। तथैवान्ये सर्वरसत्वसर्वकामत्वादयः गुणाः कथं न सर्वत्रोपसंहर्तव्याः? इत्यत आह-

इयदामननात् ।।३-३-३४।

इतयतामेव आमननम् इयदामननं तस्मात् इयदामननात्। यानन्तरेण परमात्मतः प्रत्यगात्मा न व्यावर्तेत तेषामेव। सर्वकर्मत्वादिकं तु प्रधानस्यासाधारणम्।। यथोक्तं भागवते-

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतदवस्तु रूप्यताम्।

।। (भा० १०-१४-५७)

ब्रह्म साधारणानां तु नान्यत्र गमनं श्रुतम्।
इयतामेव चान्यत्र गमनं श्रुतिरादिशत् ।।श्रीः।।
एतन्मयाधिकरणं ब्रह्म सामान्यसचकम्।
रामभद्रेण सुधिया व्याख्यातं कृपया हरेः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथान्तरत्वाधिकरणम्।।

अथ अक्षरविषये समाहितेऽपि पुनरत्रैव बृहदारण्यके विचार्यते। श्री जनकराजसभायां याज्ञवल्क्यमुषस्तः पप्रच्छ यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व ।। (बृ० उ० ३-४-१)

अनन्तरं याज्ञवलक्यः प्राह- यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः ।। (बृ० उ० ३-४-१,)

अनन्तरं कहोलोऽपि एवमेव पप्रच्छ- यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा

सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व ।। (बृ० उ० ३-५-२,)

अनन्तरं याज्ञवल्क्यः उत्तरयति- योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।। (बृ० उ० ३-५-१)

अत्र उभयोर्विद्ययोर्भेदः समानत्वं वा? इति जिज्ञासायामाह-

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ।।३-३-३५।।

भूतानां ग्रामः भूतग्रामः तेन तुल्यं भूतग्रामवत् स्वात्मनः ब्रह्मणः अन्तरा द्वयोर्ब्राह्मणयोर्मध्ये ऐक्यमेव वर्तते। अन्यथा इतरथा कथं भेदः स्यात्। अथ वारम्वारं कथमावृत्तिः? इति चेदाह "उपदेशवत्" यथा षष्ठे प्रपाठके छान्दोग्ये सद्विद्याया असकृदुपदेशः, तथेहापि ।।यथा भागवते-

नयस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्यां यन्मुखाम्बुरुहासवम्।।

(भा० २-४-२४)

भूत ग्रामेण तुल्यं ऐक्यं वै ब्राह्मणद्वये।
अन्यथा भेद एव स्यात् आवृत्तिरुपदेशवत् ।।श्रीः।।

अथ कथं असकृदुपदेशो यदि न विद्या भेदः? इत्यत आह-

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ।।३-३-३६।।

उषस्तकहोलयोर्बुद्ध्योः व्यतिहारवैषम्यंअत एव प्रतिवचनयोरन्तरम्। तत्र यः प्राणेन प्राणिति इतिसर्वाधारत्वं, कहोलप्रतिवचने च क्षुत्पिपासादिसर्वधर्मातिक्रान्तत्वम् इत्येव आचार्या विशिंषन्ति। यथा भागवते-

तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामः पीतकौशेयवाससः।।

(भा० १०-१३-४६)

व्यतिक्रमाद् द्वयोर्बुद्ध्योः विशिंषन्ति विपश्चितः।
इतरैरिव भावाढ्यैः ऐक्यं ब्राह्मणयोर्द्वयोः ।।श्रीः।।

तमेव पक्षं दृढयति-

सैव हि सत्यादयः ।।३-३-३७।।

हि यतो हि सैवसत्पद बोध्यादेवता, इह सत्यादि शब्देन व्यवह्रियते। यथा सोम्य मधु मधु कृतो निस्तिष्ठन्ति ।। (छा० उ० ६-६-२) यथोक्तं भागवते-

सत्यं शौचं दयाक्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमोदमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्।

(भा० १-१६-२६)

त्पथे ब्राह्मणे या वै देवता संप्रकीर्तिता।
सैव सत्यादि शब्दैस्तु अत्र श्रुत्या निरूपिता ।।श्रीः।।
इत्येवंचाधिकरणं ब्रह्मनित्यत्वबोधकम्।
मया वैष्णवभक्त्यर्थं व्याख्यातं शास्त्रयुक्तितः।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ कामाद्यधिकरणम्।।

अथ छान्दोग्ये आत्मविषये श्रूयते दहरविद्या प्रस्तावे-

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपूरे दहरम् पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्त-स्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।। (छा० ८-१-१) एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः ।। (छा० उ० ८-१-५), एवं बृहदारण्यकेऽपि- स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेसु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान ।। (बृ० उ० ४-४-२२),

अत्र सन्देहः। किमनयोर्विद्ययोर्भेदोऽअभेदो वा? अत आह-

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।।३-३-३८।।

न भेदः, स्वरूपतो ऐक्यात्। अत एव गुणानामुपसंहारः। कामादीनां छान्दोग्ये पठितानां, बृहदारण्यके तत्रत्यानां चात्रोपसंहारः यथा भागवते-

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां। वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।

(१०-४७-६१)

कामादीनां गुणानां तु छान्दोग्याक्षरसंयुषाम्।
बृहदारण्यके चैक्यात् उपसंहार इष्यस्ते ।।श्रीः।।

अथ मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।। (बृ० उ० ४-४-१९)

इति श्रुत्या नानात्वप्रतिषेधेन ब्रह्मण्यतिरिक्तानां सर्वेषां लोपे सत्यकामत्वादीनां सद्भाव एव न? इत्यत आह-

आदरादलोपः ।।३-३-३९।।

अत्यन्तमादरेण भगवत्या श्रुत्या सत्यकामत्वादयः भगवतः निरस्तसकलहेयप्रत्यनीकाः गुणाः विहिताः। अतस्तान् न लोपयिष्यति सा। नेह नानास्ति किञ्चन इत्यस्य ब्रह्मकार्यातिरिक्तप्रतिषेधे चारितार्थ्यम्। अतएव भागवते-

नामं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरते प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरूचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ।।

(भा० १०/४७/६०)

सत्यकामत्वमुख्यानां गुणानां न विलोपनम्।
करिष्यति श्रुतिः क्वापि तेषु सन्दर्शितादरा ।।श्रीः।।

ननु सगुणब्रह्मणो नोपासना कार्या, तेन पितृलोकप्राप्तेः। यथा स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ।। (छा० उ० ८-२-१),

इत्यत आह-

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।।३-३-४०।।

उपस्थिते ब्रह्मणि साक्षात्कृते, आविर्भूतगुणाष्टके जीवे सत्यसंकल्प इति वचनादेव पितृलोकप्राप्तिः तस्या भगवदीयत्वात् न कर्मबन्धनोत्पादकता। यथा श्रीमद्भागवते-

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।।

(भागवत १०-२२-२७)

साक्षात्कृते भगवति ह्यविर्भूतगुणाष्टके।
सेवितुं सकलाः कामाः जीवे स्वयमुपस्थिताः ।।श्रीः।।

इत्येतच्चाधिकरणं तृतीयस्य तृतीयके।
व्याख्यातं सुधियां प्रीत्यै राम भद्रेण धीमता।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम्।।

ननु निर्णीते जीवब्रह्मस्वरूपे प्रतिपादिते च सकलकल्याणगुणगणनिलये ब्रह्मणि, छान्दोग्ये ब्रह्मप्राप्तिसमकालं ये भोगाः विहिताः। ते अवश्यं ब्रह्मविद्भिर्भोक्तव्या न वेति? जिज्ञासायां प्राह-

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ।।३-३-४१।।

तत्र भोगानां निर्धारणे कोऽपि नियमो नहि, कथं? तद् दृष्टेः पृथक् अप्रतिबन्धः ब्रह्मदृष्टेः पृथग् भूतानां भोगाना अस्तित्वाभावात्। फलमपि अप्रतिबन्धः। ब्रह्मदृष्टे कोऽपि भोगः प्रतिबन्धको न भवति। यथाह गीतायां भगवान्-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न वद्यते ।।

(गीता ३-१७)

अपरमपि व्याख्यानम् छान्दोग्ये प्रथमे उद्गीथोपासनायाः वर्णनम्। ओमित्युद्गीथमुपासीत ।। (छा० उ० १-१-१) तत्र प्रश्नः किं नियमेनोपासितव्यं- न वा? तत्राह नितरां धारणं निर्धारणमुपासनं, तस्य निर्धारणं तन्निर्धारण्। तस्मिन् तन्निर्धारणे अनियमः नियमाभावः यतो हि तद्दृष्टेः तत्र केवलं ब्रह्म दृष्टेरुपदेशः। ततः पृथक् अप्रतिबन्धरूपं फलमप्युपदिष्टम्।। यथा भागवते-

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयमोऽन्यतः।

(भा० १०-४०-१०)

भोगनिर्धारणे नास्ति नियमो ब्रह्मदर्शिनः।
ब्रह्मदृष्टेः पृथग्भोग प्रतिबन्धकता न हि ।।श्रीः।।
अधिकरणं मया चैतत् भोगस्वाततन्त्रसूचकम्।
द्विधा व्याख्यातमेवात्र पण्डितानन्दवर्धनम्।।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

।।अथ प्रदानाधिकरण्।।

दहरविद्यायामाम्नायते तद्य इहात्मामनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान कामान् ।। (छा० उ० ८-१-६), तत्र अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकविशिष्टपरमात्मनो वर्णनम्। तत्त जिज्ञास्यते य एतद् गुणगणविशिष्टं ब्रह्म सकृदेव चिन्त्यते अथवा असकृत्? इत्यत आह-

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।।३-३-४२।।

प्रदानेन तुल्यं प्रदानवत्। यजुर्वेदे श्रूयते- इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत् ।। (यजु० २), इन्द्रायाधिराजाय इन्द्राय स्वराज्ञे (यजु० २), अत्र यथा तत्तद्गुणविशिष्टतया इन्द्रस्य त्रिः स्मरणं व्यधायि। तथैव तत्तद्गुणविशिष्टतया परमात्मनः असकृत् स्मरणं करणीयम्। प्रदानशब्दः इन्द्रहविः प्रदानमन्त्रपरकः। इदमेव अभिसन्धत्ते अभिनववाल्मीकिभगवान्तुलसीदासः- **सुमिरि सुमिरि गुन ग्राम राम के।**

उर अनुराग वढ़ाऊ तुलसीदास अनयास पद पाइहै प्रेमपसाऊ।। (विनय पत्रिका १००)

स्मारं स्मारं गुणगामं रामजस्य प्रेमवर्धय।
तुलसीशकृपासिद्धानायासमवाप्स्यसि।।

यथोक्तं भागवते-

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं घराणिमण्डनं ध्येयमापदि।।
चरणपङ्कज शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्परूाधिहन्।
(भा० १०/३१/१३)

असकृत स्मरणं कार्यं तस्य रामस्य भूभृतः।
सत् कल्याणगुणाम्भोधेः प्रदानवदिहादरात् ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं भगवत्स्मृतिवर्धकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण गिरागीतं स्वतुष्टये

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ लिंगभूयस्त्वाधिकरणम् ।।

ननु वाजसनेयेऽग्निरहस्य श्रूयते- मनश्चित्रतो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोचितः कर्मचितोग्निचितः इति। तत्र जिज्ञास्यते अयं कर्मांगभूतो विद्यांगभूतो वा? कर्मांगभूते इत्येव पूर्वपक्षिते प्राह-

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।।३/३/४३।।

लिंगानां भूयस्त्वं लिंगभूयस्त्वम् तस्मात् लिंग भूयस्त्वात्। तस्मात् विद्यांगभूतमेतत्। लिंगानि यथा- तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते इत्यादि। यथा भागवते-

अर्जुनः प्रेपसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः ।।

(भा० ११-३१-२१)

सर्वदा सर्वभूतानीत्यादि लिंगानुरोधतः।
तेषामिहातिभूयस्त्वात् विद्यांगं समभीप्सितम् ।।श्रीः।।

ननु प्रकरणात् पूर्वस्य विकल्पो भवतु? इत्यत आह-

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात्क्रियामानसवत् ।।३/३/४४।।

एवमिष्टिकाभिरग्निं चिनुते। इत्यस्य क्रियामयत्वमेव। कथम्? प्रकरणात्। प्रकरणम्भिधां नियमपति। यथा द्वादशारहस्य प्रकरणे- मानसग्रहा अपि कर्मांगाणि भवन्ति तथैव। यथा भागवते-

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद् भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ।।

(भा० ७-४-४०)

मानसस्य क्रियेवैषा क्रियापूर्वविकल्पिका।
प्रकरणाद् वेदगर्भस्य व्यासस्यात्रानुशासनम् ।।श्रीः।।

किञ्च अत्र मानसधर्मा अतिदिश्यन्ते।

अतिदेशाच्च ।।३/३/४५।।

यावान् मानसाग्निः तावत् एकैकस्य चिताग्न्यादौ अतिदेशोवर्तते। ततोऽपि

क्रियांगत्वम्। यथा भागवते-

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।

(भा० ९-४-६८)

मानसाग्निस्थितो यावान् तावतः सकलस्य वै।
एकैकस्यातिदेशः स्यात्तस्मात्तस्य क्रियांगता ।।श्रीः।।

अथ सिद्धान्तमाह-

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।।३/३/४६।।

तु शब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते। निर्धारणात्। श्रुतौदर्शनाच्च। इमे विद्यामयाः। तथाहि- ते हैते विद्याचित एव। अत्र इत्यनेन निश्चयाः। एव इत्यनेन कर्माव्यवच्छेदः। किञ्च मनस्पितादीनां विद्यांगत्वम् श्रुतौ स्पष्टं दृश्यते- मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त मनसैषु ग्रहा अग्रहयन्त मनसा स्तुवन्तो मनसा शंसन्।।

यथा भागवते-

विद्याविद्ये मम तन् विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।

(भा० ११-११-३)

निर्धारणाच्च वाक्यानां श्रुतीनां चैव दर्शनात्।
इमे विद्या मया सर्वे अग्नयो न क्रियामयाः ।।श्रीः।।

ननु प्रकरणात् एतेषां कर्माङ्गत्वम्? इत्यत आह-

श्रुत्यादि वलीयस्त्वाच्च न वाधः ।।३/३/४७।।

श्रुत्यादिप्रमाणैः साधितस्य विद्यांगत्वस्य प्रकरणेन न बाधः। तस्मात् एतेषां बलीयस्त्वात्।

यथा भागवते-

श्रुत्यादिभिर्वलीयः श्रुत्यादिवलीयः
तस्य भावः तस्मात्
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।

बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ।।

(भा० ११-११-४)

श्रुत्यादिभिर्बलीयस्त्वात् विद्यांगस्य प्रमाणतः
प्रकरणादिह विद्यांगे न बाधः श्रुतिसम्मतः ।।श्रीः।।

अनुवन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्।। ३/३/४८।।

एवमेव अनुबन्धादिभ्यः मनसैव गृहयन्त इति यागानुबन्धात् अत्र विद्यांगत्वमेव कल्पनीयम्। तथैव दृष्टोपेयः विधिः। यद्वा अनुबन्धादिभ्यः आग्रहादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्वेऽपि एकमेव ब्रह्मोपासनं दृष्टम्। तदुक्तमपि सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ।

यथा भागवते-

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ।।

(भा० ५-१२-१२)

प्रज्ञान्तरपृथक्त्वेऽपि अनुबन्धादिशब्दतः।
ब्रह्मोपासनमेकं हि तथादृष्टं श्रुतिष्वथ ।।श्रीः।।

अत्रापि व्याख्याद्वयम्-

न सामान्यादप्युलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।।३/३/४९।।

किञ्च नैव केवलमतिदेशेन मनश्चितादीनां कर्मसादृश्यं स एष मृत्युः इत्यत्र यथा सर्वसंहारित्वाति- देशेन पुरुषे नातिदेशः न वा तस्य लोकापत्तिः। अथवा ब्रह्मविद्यानां सामान्येऽपि उपलब्धेः ब्रह्मणि साक्षात्कृते सति मृत्युवत्, यथा जीवस्य मृत्यौ स्थूलशरीरविच्छेदः तथैव जीवात्मनो लोकविच्छेदः। स तु परमात्मानमेव प्राप्नुनोति। यथोक्तं भागवते-

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो
गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः।

(१०/८७/४०)

सामान्येऽपि च विद्यानां ब्रह्मणो दर्शने सति।
मृत्युवत्स्थूलदेहस्य जीवलोको विलुप्यति ।।श्रीः।।

स्वपक्षं दृढयन्नाह-

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्वनुबन्धः ।।३/३/५०।।

परेण ब्रह्मणा शब्दस्य विद्यानामाङ्क्त्विमुक्तम्। एवं श्रुतेरपि ताद्विध्यम्। तर्हि बृहदारण्यके अनुबन्धः कथम्? इत्यत आह- भयस्त्वात्। आधिक्यात्। यथोक्तं भागवते-

मयि निर्वन्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रिपः सत्पतिं यन्या।।

भा० ९/४/६६

विद्यानां सति सादृश्ये ब्रह्मणा दिव्यकर्मणा।
भूयस्त्वादथ वाक्यानां ह्यनुबन्धस्तथापि हि ।।श्रीः।।
एतत्च्चैवाधिकरणं व्याख्यायुगलमण्डितम्।
प्रोक्तं श्रीरामभद्रेण पंडितानाम्मुदावहम्।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथात्मनः शरीर भावाधिकरण् ।।

अथ आत्मनः शरीरधारणप्रक्रियां वर्णयति-

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।।३/३/५१।।

क उपास्यः। किं कर्मपरतन्त्रः जीवात्मा, उताहो स्वतंत्रो जीवात्मा, उताहो समस्तकर्मबन्धनविमुक्तः परमात्मा। इत्यत आह- आत्मनः शरीरे भावात् अस्तित्वात् हेतोः एक एव सः परमात्मा अन्तर्यामी उपासनीयः। तथा च श्रुतिः- एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। (श्वेत० ६/११) यथोक्तं भागवते-

त्वप्यम्बुजाक्षाखिलसत्वधाम्नि समाधिनाऽऽवेशित चेतसैके।
त्वदपादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्।

(१०/२/३०)

एक एव सदाराध्यः सर्वदेहनिवासकृत्।
परमात्मा विशुद्धोऽयं निरस्तदुर्गुणो हरिः ।।श्रीः।।

सिद्धान्तमाह-

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ।।३/३/५२।।

संसारिणः व्यतिरिक्तः परमात्मोपासनीयः। न तु कर्तृत्वादिविशिष्टः। कथम् तद्भावभावित्वात्। तथा सति उपास्यभावेन भावितो भवन् संसारी स्यात्।

यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति। तथेतः प्रेत्य भवति (छा० ३/१४/१) एवं गीताऽपि- यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। (गीता २/६)

अतएव उपलब्धिवत् यथा शास्त्रेषूपलभ्यते। तथैवाराधनीयः यथोक्तं-

मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ।।
(१०/४३/१७)

संसारधर्मरहितः परिसेवनीयः
स ब्रह्मभूतरघुनन्दनरामचन्द्रः।
नैवान्यथा तदनुभावनिरस्तचित्तो शास्त्रे
यथा स उपलभ्यत ईड्यकीर्तिः ।।श्रीः।।
इत्येवञ्चाधिकरणं शरीरात्मव्यवस्थितौ।
विदुषा रामभद्रेण प्रोक्तमात्मवतां मुदे।।

ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीत इत्यत्र सन्निहिते किंः स्वस्वशाखासु उपासनाः प्रतिबद्धाः उताहो सर्वशाखासु? इत्यत आह-

अङ्गाववद्धास्तु न शाखा हि प्रतिवेदम् ।।३/३/५३।।

अंगानि स्वराः तैः अवद्धा अंगाववद्धाः शाखासु भिन्नभिन्नशाखासु अंगाववद्धाः स्वरादिबद्धाः उपासनाः न, प्रत्युत प्रतिवेदम्। इह शाखामात्राध्यायिनां न नियमः। वेदे वेदे प्रतिवेदम् सकलवेदशाखाध्यायिनः उपासनास्वधिकृताः। यथोक्तं भागवते-

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव बलिमुद्वहन्ति

समदन्त्यजयानिमिषाः। वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो, विदधति

यत्र ये त्वधिकृता भवतपश्चकिताः।। (१०/८७/२८)

शाखासु च स्वराबद्धाः नैवैताः समुपासनाः।
बद्धश्रद्धास्तु वेदेषु एतास्वधिकृताः ननु ।।श्रीः।।

अपरमपिपक्षमाह-

मन्त्रादि वद्वाविरोधः ।।३/३/५४।।

यथा तत् तत् शाखासु पठिताः मन्त्राः सर्वेषु वेदेषु क्रतुष्वा नीयन्ते। तथैव इमा उपासना अपि प्रतिवेदम् विधीयन्ते। यथोक्तं भागवते-

अहं पुरा भरतो नाम राजा विमुक्त दृष्टश्रुतसङ्गबन्धः।
आराधनं भगवत ईहमानो मृगोऽभवं मृगसङ्गद्धतार्थाः ।।
५/१२/१४

शाखासु पठिताः मन्त्रा यथा यज्ञेषु चाहृताः।
प्रतिवेदं विधीयन्ते तथा सर्वा उपासनाः ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिकरण मुपासयत्तहेतुकम्।
श्रीरामभद्रविदुषा व्याख्यातं प्रीतये सताम्।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ भूमज्जायस्त्वाधिकरणम्।।

अथ वैश्वानरोपासनायां संदिह्यते- किं व्यस्तानामाकाशादीनां वैश्वानररूपेणोपासना कर्तव्या। उताहो समस्तस्य? इत्यत आह-

भूम्नः क्रतुवज्ज्यास्त्वं तथा हि दर्शयति ।।३/३/५५।।

मूर्धा ते व्यपतिष्यत यन्माम् नागमिष्यः इत्यत्र व्यस्तोपासनाया निन्दितत्वात् समस्तो पासनैव ज्यायसी भूषिता। क्रतुवत्। यथा प्रयागादीन् तिरस्कृत्य दर्शपौर्णमासः ज्यायस्त्वेन सेव्यते।। यथोक्तं भागवते-

मप्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः।
यदासीत् तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः।।
समस्तोपासना श्रेष्ठा न व्यस्तोपासना क्वचित्।
प्रयागादीन् तिरस्कृत्य यथा दर्शादि सेव्यते ।।श्रीः।।

अदश्चैवाधिकरणं वैश्वानरविवेचनम्।
व्याख्यातं राभ्रदेण रामवैश्वानराप्तये।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ शब्दादिभेदाधिकरणम्।।

ननु उपासीत विद्यात इति नानाक्रियानुरोधेन विद्याष्वैक्यमित्यत आह-

नाना शब्दादिभेदात् ।।३/३/५६।।

शब्दाभेदात् भिन्न-भिन्न शब्दानां भेदात् विद्या अपि नानाः सन्ति। अत एव तासां नानात्वे रूचि वैचिज्र्यात् उपास्येऽपि सरसतानुभूयते।। यथोक्तम्-

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते।

(११/५/२०)

शब्दाब्दीनां प्रभेदाच्च नाना विद्याः प्रकीर्तिताः।
रूचिवैचित्र्यपूर्त्यैरू भक्तेः स्वारस्यहेतवे ।।श्रीः।।
इत्थं शब्दाधिकरणं विद्याननात्ववृंहितम्।
व्याख्यातं रामभ्रदेण रामभद्रप्रसादतः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ विकल्पाधिकरण्।।

सत्सु नानासु विद्यासु उपासनानां तासां समुच्चयो विकल्पो वा इत्यत आह-

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।।३/३/५७।।

अविशिष्टानि फलानि येषां तेषां भावस्तत्त्वम् तस्मात्। विद्यानां फलानि भिन्नानि-भिन्नानि सन्ति अतः फलविकल्पे कर्मविकल्पः इति नियमात् विकल्पः उपासनायां न तु समुच्चयः। यथोक्त भागवते-

नारायण परा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।।

(भाग० २/५/१५)

विद्यानां सति नानात्वे विकल्पो विद्यतेऽत्र हि।
सर्वासामेकफलतामाश्रित्य न समुच्चयः ।।श्रीः।।

किञ्च काम्यानां का व्यवस्था? अत आह-

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ।।३/३/५८।।

किञ्च काम्याः ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्ताः विद्याः यथाकामं काममनुसृत्य समुच्चीयेरन् न विकल्पेरन्। कथम्? पूर्वहेत्वभावात्। तासांना विशिष्टं फलम्। प्रतिकामं कृते विशिष्टफलत्वात् पूर्वस्य पूर्वसूत्रोक्तस्य अविशिष्टफलरूपस्य हेतोः अभावात्। यथोक्तं भागवते-

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।।

(भाग० २/३/१०)

इदंविकल्पाधिकरणं यथाशास्त्रमभाष्यत।
रामभद्रेण विदुषा रामभद्रानुयायिना।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ यथाश्रयभावाधिकरणम् ।।

एवमुद्गीथोपासनायामंगानां कृते को नियमः इत्यत आह-

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।।३/३/५९।।

यथाश्रयाणामुपासनानां ब्रह्मणि तात्पर्यम् तथैव उद्गीथाद्यंगेष्वपि ब्रह्मणि तात्पर्यं विभावनीयम्।

यथोक्तं भागवते-

विधाय कार्त्स्न्यें च तद्यदाह सवनीयपशोः शिरः
संधीयमाने शिरसि दक्षो रुनद्राभिवीक्षितः

।। ४/८/८।।

आश्रयामुपासानां तात्पर्यं ब्रह्मणि ह्यो।
यथा तथैव चाङ्गेष ब्रह्मतात्पर्यनिर्णयः ।।श्रीः।।

स्वपक्षं दृढयति-

शिष्टेश्च ।।३/३/६०।।

शिष्टिः शासनम् तस्याः शिष्टेः। हेतौ पंचमी। श्रुतिरपि शास्ति। ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। अतोऽपि यथाश्रयभावः।। श्रुतिः प्रणवस्य उद्गीथस्य अन्यासा मुपासनानां ब्रह्मणि समाहारं वदति यथा- होतृषदनाद्धैवापि दुरूद्गीथमनुसमाहरति (छा० १/५/५)

समाहारात् ।।३/३/६१

यथोक्तं भागवते-

एवं तदैवभगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः तस्मिन्ययौ य परमहंसमहामुनीनान्वे चेषणीयचरणौ चलयन सहश्रीः।।

(३/१५/३७)

श्रुतेश्च शासनं शिष्टिस्तस्याश्चाप्यनुरोधतः।
यथाश्रयाणां तद्बद्धि उद्गीथेषु व्यवस्थितिः ।।श्रीः।।

इत्यत्र समासां उपासनानां ब्रह्मणि समातरात् तदेव ध्येयम्

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च- ।।३/३/६२।।

पुनरपि पक्षं दृढयति। गुणसाधारणबोधकश्रुतेरपि सर्वत्र प्रणवस्थोपादानं ब्रह्मणि यथा ओम् प्रणवम्नुलक्ष्य श्रुतिः प्राह- तेनेयं त्रयी विद्यावर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति (छा० १(२/९) गुणानां साधारण्य गुणसाधारण्य तस्य श्रुतिः श्रवणम्-इति गुणसाधारण्य श्रुतिः तस्याः गुणसाधारण्य श्रुतो।

यथा भागवते सुनीतिर्ध्रुवं प्रति-

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं मुमुक्षुर्भिमृग्पपदाब्जपद्धतिम्।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते मनस्यवस्थाप्य भजस्वपूरूषम्

(४/८/२२)

साधारण्यं गुणानाञ्च श्रुतिः श्रावयते सदा।
तस्माद्धेतोस्ततं ब्रह्म ध्येयं गेयं च वैष्णवेः ।।श्रीः।।

अथ सिद्धान्तयति-

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।।३/३/६३।।

अंगाश्रितानामुपासनानामुद्गीथे समुच्चयो नास्ति। कथम्? समुच्चये श्रुतीनां सहभावो भवति। यथा ग्रहं गृहीत्वा चमसं उन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति।। एवमत्रापि नास्ति सहभावः।। तथाहि सद्भवनं सहभावः। तासां सहभावस्तत्सहभावः। श्रवणं श्रुतिः। न श्रुतिः अश्रुतिः तस्या अश्रुतेः अश्रवणात्। न वा अंगाश्रितानां विकल्पं न। यथोक्तं भागवते-

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विव किंचन।

(१०/१४/५६)

साहचर्यवियोगगस्य श्रुतीनाम श्रुतेर्ननु।
अंगाश्रितानां नैवेष्टो विकल्पः श्रुतिसम्मतः ।।श्रीः।।

दर्शनाच्च ।।३/३/६४।।

श्रुतिः स्पष्टं दर्शयति। एवं ब्रह्मा यज्ञं यजमानम् सर्वाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति (छा० ४/१७/१०) श्रीः यंथा भागवते रुक्मिणी सन्देशः-

श्रुत्वागुणान् भुवनसुन्दर श्रृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं, त्वय्यच्युताविशति चित्रमपत्रपं च।।
अस्मिन्पक्षे भगवती श्रुतिः श्रावयते मुदा।
तस्मात्त्यक्त्वा विकल्पं हि ध्येयो ज्ञेयः परात्परः। श्रीः।
इत्येवं चाधिकरणं श्रौतसिद्धान्तदर्पणम्।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं रामतुष्टये।।
तृतीतोऽयं मया पादस्तृतीयाध्याय गोचरः।
श्री राघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।

इति श्रीतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गरूरामानन्दाचार्यस्वामिराम-भद्राचार्यकृतौब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभाष्ये साधनाख्ये तृतीयाध्याये तृतीयः पादः सम्पूर्णः।

श्री राघवः शंतनोतु।

।। अथ चतुर्थपादः।।

चतुर्थे चिन्तये नित्यं कौसल्यानन्दवर्धनम्।
रामं चतुर्थमासेव्यं यथा जह्यां चतुर्थकम्।।

।।अथ पुरुषार्थाधिकरणम्।।

एवं त्रिभिः पादैः जीवब्रह्मस्वरूपं निर्धार्य विरोधिस्वरूपं च वर्णयित्वा यथाक्रमं प्रथमे जीवस्य गर्भवासयातनाः निरूप्य, द्वितीये चिदचितोर्भगवद् विशेषणत्वम्। चितश्च भगवदधीनकर्तृत्वमभिधाय अंशत्वं च भगवदीयं सिद्धान्तयित्वा, पुनस्तृतीये ब्रह्मण एव सर्वशेषित्वं जगत्कार्यत्वं सगुणत्वेऽपि निर्दोषत्वं, श्रुतीनां च विद्याङ्गत्वं साधयित्वा समेषां वेदान्तानां तत्रैव तात्पर्यं निर्णीय, साम्प्रतं तुरीये पादे ब्रह्मविद्यात एव पुरुषार्थावाप्तिनिर्णिनीषुः श्रीमत् पाराशर्यो भगवान् बादरायणः पुरुषार्थाधिकरणं विंशत्या विवेचयितुं दशशीर्षविंशति मस्तकानि छेत्तुकामः राम इव विंशति शरान् विंशतिसूत्राणि जगाद। तत्र सिद्धान्तभूतं स्वमतमेव प्रथमं प्रतिजानीते।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।।३/४/१।।

शब्दात् श्रुतेरेव स्वतः प्रमाणाद्धेतोः, अतः एतस्या ब्रह्मविद्यातः पुरुषार्थः प्राप्तुं शक्यते। इति भगवान् बादरायणो मन्यते। तत्र का श्रुतिः? इत्यत उच्यते तैत्तिरीये द्वितीये "ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।। (तै० उ० २-१) ब्रह्म वेत्तीति ब्रह्मविद्, परं परमात्मनमाप्नोति, परमेश्वरप्राप्तिरेव पुरुषार्थः। अत एवं ब्रह्म विद्यातः प्राप्तये इति भगवान व्यासः प्राह- पुरुषो जीवात्मा तेन अर्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः, परब्रह्मैव। न च धर्मार्थकामा अपि पुरुषार्था इति वाच्यम्! तेषां गौणत्वात्। क्वापि श्रुतिषु पुरुषार्थत्वेनागणितत्वाच्च लौकिकवचनविषयत्वेनादीषात्। अत एव आह मधुसूदनसरस्वत्यपि श्रीभगद्भक्तिरसायने। "धर्मार्थकाममोक्षाः पुरुषार्थाः" इति वचनं तु "लाङ्गलं मम जीवितम्" इति वदौपचारिकम्। वस्तुतस्तु मोक्षरूपः परमात्मैव पुरुषार्थः। स एव पुरुषेणार्थनीयः। अर्थधातुर्हि याचनार्थः। "अर्थ उपयाञ्चायाम" (पा० धा० पा० १९०५) इति हि पाणिनेरनुशासनात्। अतएव विश्वामित्रः चक्रवर्तिनं श्रीरामर्थयित्वा श्रीरामं परब्रह्मैव वेदवेदान्तवेद्यं पुरुषार्थं निश्चिकाय। यथा,

स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम्।
काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठ मे दातुमर्हसि ।।

(वा० रा० १-१९-२)

हुलसीहर्षवर्धनस्तु धात्वर्थानुरूपांयाञ्चामाह, अर्थ उपयाच्ञायाम् इति हि तत्र पाणिनीयास्मृतिः उपयाच्ञानाम उप समीपं गत्वा याचनम्। अतएव विश्वामिपेत्य राजानं श्रीरामं ययाचे। यथा-

असुरसमूह सतावहिं मोही। मैं आयउँ जाचन नृप तोही।
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर वध मैं होउ सनाथा।

(मानस १/२०७/९-१०)

रुपान्तरम्ः-

असुराणां समूहास्तु नितरां शातयन्ति माम्।
अतोऽहभागमं ह्यत्र त्वामेव याचितुं नृप।।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रघुनाथं प्रदेहि मे। हतेषु राक्षसेष्वाभ्यां सनाथो भवितास्म्यहम्। किञ्च कालेयकविकुलगुरुः कविताकामिनिविलासः कालिदासः इममेव धात्वर्थमत्र सुस्पष्टं संगयन्नाह **कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये काकपक्ष धरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।** (रघु० महा० ११-१)

अत एव स पुरुषार्थः अतः अस्या एव ब्रह्मविद्यातः सिद्ध्यतीति भगवान् बादरायणः प्राह, तस्मात् गोस्वामिचरणअपि सुन्दरकाण्ड आमनन्ति-

ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यंविभुम् (मानस ५ मंगलाचरण १) न च ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यम् इत्यशुद्धः प्रयोगः इति वाच्यम् समासे कृते नकारलोपे नान्तोपधाभावात् दीर्घाभावे। ब्रह्मशम्भुफणीन्द्रसेव्यम् इत्येव योग्याम्। अस्मिंश्च छन्दोभंगः इत्युभयथा पाशारज्जुः। तत्रानङ्स्वीकारेणादोषात्। न च वैदिकदेतप्रकरण एव अनङ् विधानमितिवाच्यम्? शम्भुशब्दस्यापि वैदिकत्वात्। यद्वा अकारः विष्णुः, ब्रह्मा च अश्च शम्भुश्च फणीन्द्रश्च इति ब्रह्माशम्भुफणीन्द्राः तेषां सेव्यम्। यद्वा अन्येषामपि दृश्यते (६/३/३५) इति दीर्घः। वस्तुतस्तु श्रीरामः परब्रह्म पुरुषार्थः तत् प्रेम च परं पुरुषार्थ इति। यथोक्तं श्रीमान् मानसे- सखा परम परमारथ एहू। मनक्रमवचन राम पदनेहू रामब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।। मानस २/९२/६ ।। अयमेव परमस्तावत् परमार्थः सखे श्रृणु मनोवाक्कर्मभिः राम पादयोः स्नेहं उत्वणः।। राम एव परब्रह्म परमार्थ स्वरूपवान्। अलक्षो विगतोऽनादिः सर्वौपम्यविवर्जितः।। तस्मान् मधुसूदनसरस्वती पादोऽपि भक्तियोगमेव परमं पुमर्थमम्यधात्- तथाहि- नवरसमिलितंवा केवलं वा पुमर्थम्। परममिह मुकुन्दे भक्ति योगं वदन्ति।

(भगवद्भक्ति रसायन १-१) एवंभूतः पुरुषार्थरूपो भगवान् ब्रह्मविद्यापरपर्यायवेदान्तत एव लब्धुं शक्यः। तस्मान्मुमुक्षुभिः परमेश्वरं प्राप्तुकामैः वेदान्तदर्शनमेव श्रवण मनन निधिध्यासनविषयीकर्तव्यम्। तत्रापि विशिष्टद्वैतवादानुसारमेव ब्रह्म चिन्त्यम्। विशिष्टाद्वैतवाद एवं भेदाभेदतिपादकश्रुतीनां प्रामाण्यम् ।। यथोक्तं भागवते-

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।

(२/३/१०)

श्रुतीनामनुरोधाच्च शब्दतश्चानुशासनात्।
पुमर्थो ब्रह्मविद्याया इत्याह बादरायणः ।।श्रीः।।

अथ जैमिनि मतमुपन्यस्यते-

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।।३/४/२।।

आचार्यजैमिनिः पूर्वमीमांसारचयिता कर्मकाण्डपक्षधरः प्राह-यत् वाग्यशेषत्वात्। पुरुषार्थस्य कर्मांगत्वमेव यथान्येषु पर्णमयीं यजमानस्य इत्यादिषु कर्मांगत्वम्। तथैव पुरुषार्थस्यापि इति जैमिनिराचार्यः प्राह। यथोक्तं भागवते-

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणिनिधत्ते ह्यगदं यथा।

(भाग० ११/३/४४)

कर्माङ्गेष्विव चान्येषु वाक्यशेषानुरोधतः।
पुमर्थवादः कर्माङ्गमित्युवाचात्र जैमिनिः ।।श्रीः।।

लोकाचारमप्याह-

आचारदर्शनात् ।।३/४/३।।

लोकचारस्य श्रुतिषु दर्शनात् पुरुषार्थः कर्मांगम्। जनको हि पुरूषार्थवादी मुमुक्षुः। सोऽपि बहुदक्षणान् यज्ञानययष्ट। तथा च बृहदारण्यकछान्दोग्ययोः-जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे ।।वृ० ३/१/१) यक्षमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि (छा० ५/११/५) एवं यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तुदनुवर्तते। (गीता ३/२१।।) इति स्मृतेश्च। जनकाचार्यप्रामाण्यानुरोधेन कर्मांगत्वमेव पुरुषार्थस्य न विद्यांगत्वम्। यथोक्तं भागवते-

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्ययसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णेभक्तिर्हि साध्यते।

(१०/४७/२४)

जनकादिमहाभागलोकाचारावलोकनात्।
कर्माङ्गत्त्वं पुमर्थस्य नैव विद्यांगता क्वचित् ।।श्रीः।।

श्रुति प्रमाणमप्याह-

तच्छुतेश्च ।।३/४/४।।

अस्मिन् श्रुति रपि प्रमाणम्- यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति (छा० १/१/१०)

अत्र श्रुतौ करोतीति कर्मनिर्देशं क्रियापदं विद्यया श्रद्धया उपनिषदा इति त्रिस्तृतीयप्रयोगः। सा च करणे। क्रियाया उपकारकत्वात् तत्कारकं सदप्यत्र साधनम्। अतोऽस्याः श्रुतेरनुरोधेनापि पुरुषार्थस्य कर्मांगत्वम् न तु विद्यागत्वमम्। यथा भागवते-

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निः सङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धि रोचनार्था फलश्रुति।।

(भाग० ११/३/४६)

अस्मिन्पक्षे श्रुतिरपि विद्ययेत्यादि त्रिर्जगौ।
कर्मांगत्वं पुमर्थस्य नात्र कार्या विचारणा ।।श्रीः।।

किञ्च अपरेणापि पक्षेण विद्यायाः कर्माङ्गत्त्वम्? तथाहि सूत्रम्-

समन्वारम्भणात् ।।३/४/५।।

समन्वारम्भणं नाम सामानाधिकरण्येना रम्भणम्। द्वयोर्यौगपद्येनारम्भः। विद्यां कर्म च श्रुतिर्युगपत् आरभते यथा- तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते ।।बृ०/ ४/४/२) अतोऽति विद्यायाः कर्मांगत्वं यद्येवं नस्यात् तर्हि तयोर्युगपत् आरम्भणं न स्यात्। यथोक्तं भागवते-

विद्याविदेमम तनू विद्धयुद्भव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।

(भा० ११-११-३)

विद्यायाः कर्मणश्चैव सामान्याधिकरणतः।

समन्वारम्भणाच्चैव कर्मांगं हि पुमर्थकः ।।श्रीः।।

अपरमपि हेतुमाह-

तद्वतो विधानात् ।।३/४/६।।

तत् पदेन कर्म प्रारम्यते। तद्युक्तस्यैव ब्रह्मविधानात् विद्यायाः स्वातन्त्र्येण न फलजनकता। यथा छान्दोग्ये-

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मतिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौदेशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकाग्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिसन्त्स-र्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेष वर्तपन्यावदायुषं ब्रह्म लोकमभिसं पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।।छा० १५/१)

इत्यत्र स्वाध्यायमधीयानः धार्मिकान् विद्धत् एवं वर्त्मनि यावदायुषं वर्तयन् इत्येतैर्वाक्यैः साधकस्य वेदविहित कर्मानुष्ठानफलकमेव ब्रह्मलोकासादनं निगद्यते। अतो नैव विद्यास्वातन्त्र्येणफलजननी। पक्षान्तरमुपस्थापयति-

नियमाच्च ।।३/४/७।।

किञ्च श्रुत्या यावज्जीवं कर्मानुष्ठान विधा स्यैव नियमः। स च पाक्षिके भवति। पक्षिकत्वं यावद् गृहस्थाश्रमे कर्मांगानुष्ठानत्वम्। अत्र कुर्वन्नेवेह कर्माण जिजीविषेच्छतं समाः (ई० २) कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समाः जिजीविषेत अन्यथा न जिजीविषेत इति यावज्जीवं कर्मकरणस्य श्रुत्यैव नियम्यत्वात् विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेव।

यथोक्तं भागवते-

कर्मणः जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयंक्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ।।
(भा० १०-२४-१३)

पाक्षिके च समाप्राप्ते नियमं प्राह वै श्रुतिः।
कर्मांगत्वं पुमर्थस्य ततो नूनं विधीयते ।।श्रीः।।

एवं षडभिः सूत्रैः महापूर्वपक्षिते भगवान् बादरायणो वेदव्यासः स्वमतं नामग्राहं प्रस्तौति-

अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैव तद्दर्शनात् ।।३/४/८।।

तु शब्दः पूर्वपक्षनिवर्तकः। आचार्यजैमिनेर्मतं न समीचीनम्। बादरायणस्य आचार्यस्य मतेन कर्मकर्तुरपेक्षया ब्रह्मणः अधिकोपदेशात् अधिक्येनोपदेशात् एवमनेनैव प्रकारेण श्रुतौ तस्य दर्शनात्। यथा श्रुतिः संहिता भाग एव यजुर्वेद एकस्मिन् मन्त्रे जीवापेक्षया ब्रह्मोपदिश्य समधिगतया तद्वेदनपूर्वकमेव मृत्युतररूपं पुरुषार्थोलम्भव प्राह- यथा- "वेदाहमेतम्पुरुषमहान्तं मादित्यवर्णः तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेयनाय।। इह तमेव विदित्वेति वचनेन जीवाभिन्नः कश्चन तं ज्ञात्वैव जीवः अतिमृत्युमेति। विदित्वा इत्यत्र पूर्वकालिकेक्त्वा समानकर्तृयोः पूर्वकाले। (पा० अ० ३/४/२१)

पूर्वं बेदनं ततोऽतिमृत्योरपन बेदनमिहोपासनभित्वेय वेदनान्तरब्रह्मप्राप्ति दर्शनात् ब्रह्मविद्यायाः स्वातत्रयेण फलजनकत्वम्। इति भगवान् वादरायणो मन्यते।। यथा भागवते-

न याव देतां तनुभन्नरेन्द्र विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्।

(।।भा० ५-११-१५)

बादरायण सिद्धान्ते कर्मणोऽपेक्षया हरेः।।
उपदेशस्य चाधिक्यात् विद्यांगत्वं पुमर्थके ।।श्रीः।।

किञ्च जैमिनेर्द्वितीयं मतं खण्डयति- तुल्यन्तु दर्शनम् ।।३/२/९।।

यदपि जैमिनिमा प्रोक्तम्-

आचार दर्शनात् ।।३/४/९।।

तदपि न समीचीनम्। गृहासक्तानां कर्मणां यथाचारदर्शनम् कर्मानुष्ठानलक्षणम्। तथैव निर्विद्यमानानां कर्मत्यागलक्षणम्। आचारदर्शनं तुल्यम्। तद्यथा श्रुतिः "एतद्धस्म वैतद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्धाव्यमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे।। तस्मात् कर्मानुष्ठानम् कर्मयगा तुल्य दर्शनत्वात् चकारेण तस्य प्रावल्याच्च विद्यायाः न कर्मांगत्वम्। जनकादयः लोकसंग्रहार्थं कर्म कुर्वन्ति यथा-

कर्मणैव सांसद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ।।

(गीता ३-२०)

यथा भागवते-

देहस्थोपिन देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृगयथा।

(भा० ११-११-८)

गृहासक्तस्य कर्मत्वं विरक्तोपरतिस्तथा।
लोके दृष्टं द्वयं तस्मात् पुमर्थो ब्रह्मविद्यया ।।श्रीः।।

तृतीयमपि गतं जैमिनेः खण्डयति

असार्वत्रिकी ।।३/४/१०।।

यद्भवता कर्माङ्गत्वे विद्यायाः श्रुतिरेव प्रमाणतया समुपन्यस्ता यद्यद्विद्या श्रद्धयोपनिषदा करोति इत्यादिः सा श्रुतिः सार्वत्रिकी नास्ति। साचोद्गीथविषया। ततस्तस्याः विद्याकर्मांगत्वेन न प्रामाणयम्।

यथोक्तं भागवते-

मर्त्यो यदात्यक्त समस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मपाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ।।

(भा० ११-२९-३४)

उद्गीथ विषयत्वाच्च सा न सार्वत्रिकी श्रुतिः।
तत् प्रामाण्यानुरोधेन कर्मांगं न पुमर्थकः ।।श्रीः।।

चतुर्थमपि पक्षं खण्डयति जैमिनेः-

विभागः शतवत् ।।३/४/११।।

समन्वारम्भणमपि विद्याकर्मणोः प्रमाणं नास्ति, विद्यायाः कर्मांगत्वे। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते। इति मन्त्रे सामान्येनारम्भणे द्योतिते विद्यायाः कर्मणश्च परस्परं विभागः। यथा शतमाभ्यां दीयताम् इति वाक्यकथने शतसंख्या परिमितधनस्य विभागो भवति। तथैवात्रापि अशुद्धान्तः करणानां कर्म भगवत्प्रपत्येकरसानां जिज्ञासूनां विद्योपदेशः। यथोक्तं भागवते-

निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धवान्धवाः।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद् दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ।।

(भा० १०-४०-२७)

समन्वारम्भणं पुमर्थे मानमिष्यते।
कर्मांगत्वस्य शतवद् विभाग तत्र लक्षितः ।।श्रीः।।

पुनः पञ्चमं पक्षं खण्डयति-

अध्ययनमात्रवतः ।।३/४/१२।।

यदप्याचार्यजैमिनिना प्रोक्तं तद्वतो विधानात् तदपि न समीचीनतामञ्चति। अध्यनमेव अध्ययवमात्रम्। मयूरव्यंसकादयश्च ।। (पा० अ० २-२-७२) इत्यनेन समासः अस्वपद विग्रहोऽयम्। अध्ययनमात्रमस्त्यस्मिन् इति अध्ययनमात्रवान् तस्य अध्ययनमात्रवतः। तत्र हि अध्ययनमेव केवलं कृतवतः कर्माधिकारोवर्णितः यथाचार्यकुलात् वेदमधीत्य (घा० ८/१५/१) इत्यत्र वेदाध्ययनस्यैव चर्चा। किञ्च स्वाध्यायधीमयानो धार्मिकान् विदधत्" अत्रापि शतृशानजन्तद्वयम्। अधीयनः विदधत च किन्तु अधीयान इत्यस्य पूर्वोक्तेः अध्ययनानन्तरमेव कर्म विधानमुक्तम्। यथाभागवते-

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्।।

।।(भा० १-५-३३)

स्वाध्यायमात्रनिष्ठस्य कर्मकतृविधानतः।
विद्यांगत्वं पुमार्थस्य ततो निशीचयते मया ।।श्रीः।।

अथ षष्ठपक्षं खण्डयति-

नाविशेषात् ।।३/४/१३।।

अविशेषात् न नियमः।। अविशेषः सामान्यम्। नियमः पाक्षिके भवति। पाक्षिकत्वञ्च विशेषे। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः इति सामान्यं वर्तते। न तु साधक विशेषाय। तत्रापि कुर्वन्निति परस्मैपदप्रयोगः। क्रियाफलस्य परमात्मगामित्वाभिप्रायेण। तस्मात् विशेषाभावान्नात्र नियमः। यथा भागवते-

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः।
सद्यः पुनन्त्यपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ।।

(भा० १-२-१५)

सामान्यमविशेषः स्यान्नियमः पाक्षिके सति।
कुर्वन्निति सामान्यात् नियमो नो विभाव्यते ।।श्रीः।।

पुनः स्वपक्षं द्रढयितुं स्वोत्तरतः स्वयमतुष्यन्नह-

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।।३/४/१४।।

वस्तुतः कुर्वन्नेवेह कर्माणीति ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये कर्मानुमतिः अर्थात् परस्मै परमात्मनं कर्माणि कुर्वन् शतं वर्षाणि जीवेत्। एवं यथोक्तप्रकारेण कर्म कुर्वति नरे न रमते इति नरः तस्मिन् नरे कर्मभोगात् विरज्यमाने कर्मबन्धनानि न बन्धाय भवन्ति न वा लेपाय। अतो न कर्म लिप्यति नरे इतः अन्यः पन्थाः नास्ति। इति ब्रह्मज्ञातवतः निष्कामसकाम कर्मकुर्वतोऽपि न लेपो भविष्यतीति ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिः।।

यथोक्तं भागवते-

रूपं स जगृहे मात्स्यंचाक्षुषोदधिसम्प्लवे।
नाव्यारोप्य महीमप्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्

।।(भा० ३-२८-३७)

कुर्वन्नेवेह चेत्येषा या श्रुतिः प्रस्तुता त्वया।
स्तुतये ब्रह्मविद्यायास्तस्यास्त्वनुमतिः किल ।।श्रीः।।

किञ्च अपरमपि पक्षं ददाति-

कामकारेण चैके ।।३/४/१५।।

एके शाखाध्यापिनः ब्रह्मविदः कामचारेण लिङ्गेन नैवविद्यांगत्वं स्वीकुर्वन्ति यथोक्तं भागवते-

तिष्ठन्तमासीन मुत व्रजन्तं शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम्।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान् मात्मानमात्मस्थमतिर्नवेद।

।।(भा० ११-२८-३१)

शाखाध्यायिनश्चैके कर्मणां कामकारतः।
न लिंग तस्य वैद्याङ्गे एवमाहुर्मनीषिणः ।।श्रीः।।

अथान्यदपि-

उपमर्दञ्च ।।३/४/१६।।

उपमर्दः विनाशः। ब्रह्मविद्यावत एव कर्मणां श्रुतिरुपमर्दं शास्ति। भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (मु० २/२/८) इति श्रुतिः ब्रह्मविद्यैव कर्मणामुउपमर्दं विनाशमुपवर्णयति। अतोऽपि न विद्यायाः कर्मांगत्वम्।। यथोक्तं भागवते-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे। ।।

(भा० १-२-२१)

ब्रह्मविद्यावतो नूनमुपमर्दं श्रुतिर्जगौ।
कर्मणां नास्ति वैद्याङ्गं ततो वै कर्मणः किल ।।श्रीः।।

अपरमपि पक्षमाह-

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।।३/४/१७।।

किञ्च ऊर्ध्वं संयतं रेतः शुक्रः प्रजोत्पत्तिव्यापारकारणं येषु ते ऊर्ध्वरेतसः तेषु ऊर्ध्वरेतःसु आश्रमेषु इत्यन्यपदार्थः। येषु आश्रमेषु संतानोत्पत्तेः रेतो न च्याव्यते तेषु च अग्निहोत्रानुष्ठानानधिकारात् ब्रह्मविद्याधिरच्च न विद्यायाः कर्मांगत्वम्। नच ऊर्ध्वरेतसः आश्रमाधिकारिणो न सन्ति। इति चेत्? उच्यते। शब्दे। अत्र पञ्चम्यर्थे सप्तमी। तथा च श्रुतिः त्रयो धर्मस्कन्धाः (छा० ५/१०/१) तपः श्रद्धे ह्युपवसन्त्यरण्ये (मु० १/२/११) एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति (वृ० ४/४/२२) एवं त्रयो धर्मस्कन्धाः ब्रह्मचर्यवानप्रस्थसन्यासाख्याः अत एव यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् (जा० ४) इति वचनमपि संगच्छते। एवं ब्रह्मचर्यवानप्रस्थसन्यासेषु ब्रह्मविद्योपदेशस्य विधानम्। अथ यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहुयात् इति श्रुतेः का गतिः? अज्ञानिनामेषा। ये जीवनपर्यन्तं गृहस्थाश्रममेव न त्यजन्ति। यथा भागवते-

मनसा वचसा दृष्ट्यागृह्यातेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदितिवुध्यध्वमञ्जसा।

।।(भा० ११-१३-२४)

प्रथमे च तृतीये वै तुरीये चोपदेशनात्।
श्रुतिसु ब्रह्मविद्यायाः तस्याः कर्मांगता न हि ।।श्रीः।।

अथ जैमिनिराचार्यः पूर्वपक्षयति-

परामर्शं जैमिनिरचोदना च्चापवदतिहि ।।३/४/१८।।

अचोदनात् अप्रेरणात् त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यनेन त्रयाणामाश्रमाणां ब्रह्मसंस्थस्य संस्तुत्यर्थं विधानं श्रुतिः करोति। यतो हि एतद् विरुद्धमपि श्रुतिरपवदति- वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयेत (यजु० १/५/२) एवं जीवनपर्यन्तमग्निहोत्रादिक कर्तव्यम्। ततसंजातवैराग्यः ब्रह्म प्राप्नोति। ततो विद्यायाः कर्मांगत्वमेव।। यथोक्तं भागवते-

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।

(भा० ११-५-४१)

त्रयाणां स्तुतये चैषा तद् विरुद्धं वदत्यसौ।
ततो वै ब्रह्मविद्यायाः कर्मांगत्वं सुनिश्चितम् ।।श्रीः।।

अथोत्तरयति भगवान् बादरायणः-

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।।३/४/१९।।

बादरायणाचार्यः प्राह- आश्रामन्तरमनुष्ठेयम्। कथम्? साम्यश्रुतेः। समानत्व श्रवणात्। उभयत्र समानत्वंश्रूयते। तत्रापि ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। इति तुरीयाश्रमस्य स्तुतिः। यज्ञो दानं तपः गृहस्थे समानाः ब्रह्मचारी अपि स्वाध्याययज्ञं गुरुभ्यः सेवादानं शारीरञ्च तपः करोति। वानप्रस्थेऽपि स्वाध्याययज्ञं सात्विकं दानं वाङ्मय शारीरञ्च तपः करोति। सन्यासी ज्ञान यज्ञम् ज्ञानदानं मानसञ्च तपः करोति एवं एषु समानेषु अपि सत्स्वपि सन्यासिनो ब्रह्म संस्थत्वमधिकम्। अतः **आश्रमादाश्रमं गच्छेत्** इति धर्मः सनातनः। इति स्मृतिरपि संगच्छते। यथोक्तं भागवते-

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः केनाप्यसौ चोदित आनिपतात्।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या।

।। (भा० ११-२८-३०)

चतूर्णामिह सामान्यादाश्रमाणां श्रुतेरपि।
आश्रमान्तरमास्थेयमित्याह बादरायणः ।।श्रीः।।

स्वपक्षं सिद्धान्तयन्नत्राधिकरणमुपसंहरति-

विधिर्वा धारणात् ।।३/४/२०।।

वा शब्दः स्वार्थः। मीमांसायां यथा श्रूयते- अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति। इह यथा धारणं विधित्वेनोपदिष्टम् तथैवात्र ब्रह्म संस्थत्वं विधित्वेनोपदिश्यते। तस्मात् ब्रह्मरूपः पुरुषार्थः ब्रह्मविद्यातः प्राप्यते इत्यधिकरणसारांशः। अत एव श्रीमद्भागवते-

एवं विधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।

गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ।।
भागवत १०/१४/२४)

धारणस्यानुरोधेन विधिरत्र विवक्षितः।
तस्माद् वै ब्रह्मविद्यातः पुरुषार्थोऽधिगम्यते ।।श्रीः।।

यथोक्तं भागवते-

न यस्य स्वः पर इति वित्तेस्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ।।

(भा० ११-२-५२)

स्तुतिमात्रमुपादानं न वाच्यमिति कर्हिचित्।
अज्ञात ज्ञापकत्वाच्च शास्त्रमत्रविधिं जगौ ।।श्रीः।।
प्रथमञ्चाधिकरणं तृतीयपस्य चतुर्थके।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं विदुषां मुदे।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

ननुछान्दोग्ये उदेगीथविद्याप्रकरणे श्रूयते- स एष रसानां रसतमेः परमः पराध्योऽष्टमो यदुद्गीथः (छा० १/१/३) अत्र रसतम शब्दे संशयः किमिदं कर्माङ्गस्य स्तुतिमात्रपरम्। यद्वा विधेयत्वपरमिति। इत्यत आह-

स्तुति मात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।।३/४/२१।।

स्तुतिरेव इति स्तुतिभमात्रम्। इह रसतम शब्दस्योपादानं कर्मणः स्तुतिमात्रमेव इति चेन्न वाच्यम्। अपूर्वत्वात्। अपूर्वं हि विधीयते। अज्ञातज्ञापकत्वाच्छास्त्रस्य। अत्र उद्गीथोपासनापूर्वतास्ति।। तदेव समर्थयति- यथा भागवते-

शौचमचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यन्याहं लीलयेश्वरः।।

।। (भा० ११-१८-३६)

विधिव्यापारशब्दस्य कीर्तनाच्छ्रुतिसु स्वयम्।
न स्तुतिश्चात्र मन्तव्या विधिरेव विनिश्चितः ।।श्रीः।।

भावशब्दाच्च ।।३/४/२२।।

भावः विधिव्यापारः। तस्य शब्दः संकीर्तनमिति भावशब्दः। तस्मात्

भावशब्दात्। ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। सामोपासीत। इत्यादि भाव बोधकशब्दात् विधिलिङ् प्रयोगाच्च अत्र विधिरेव न स्तुतिः।।

इदञ्चैवाधिकरणमपूर्वत्व प्रयोजनम्।
श्रीराम भद्राचार्येण व्याख्यातं बुधतुष्टये।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ पारिप्लावार्थाधिकरणम् ।।

ननु ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भर्ये बभूवतुः (वृ० ४/५/१) एवं जनकोह वे वैदेहो बहुदक्षिणानि यज्ञानि यजे इत्यादीनि कठे नाचिकेतोपाख्यानम् छान्दोग्ये रैक्वजानश्रुत्युपाख्यानम् एवं विधाः औपनिषतकथाः किं परिप्लवार्थाः सन्ति? प्लावो नाम अश्वमेधकारिणं राजानं कर्मविरामे रात्रौ तिष्ठन्तमध्वयुर्बह्वीः कथाः श्रावयति भिन्नभिन्नधार्मिकेतिहासपूर्णाः। अध्वर्योस्तत्कर्मैव पारिप्लव इति कथ्यते। तर्हि किमिमाः कथास्तस्य कर्मणोऽङ्गभूता? इति जिज्ञासायामाहपरिप्लवार्था इति

चेन्न विशेषितत्वात् ।।३।४।२३।।

परिप्लवोऽश्वमेधकृतसमक्षमध्वर्युणा श्राव्यमाणकथाप्रसङ्गविशेषोऽर्थ प्रयोजनमासां ताः। नैवंभूता इमाः कथा विशेषितत्वाद् इमास्तत्तविद्याङ्गत्वेन विशेषिताः। यद्वा परिप्लवेसु मनुर्वैवश्वतो राजा इत्यदयः काश्चनैव कथाः विशेषिताः, तासु कतमापि नात्रोपनिषत्सु निगदिताः। तस्माद् विद्यायां रुचिवर्धनार्थं ब्रह्मविद्यास्तुतये च यथा भागवते–

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ।।

(११/२१/४२)

विशेषितत्वाद् वै तासां विधारुविववृद्धये ।
परिप्लवकृतेनैताः ब्रह्मविद्यार्थमेव वै ।। श्रीः ।।

तमेव विषयं स्पष्टयति–

चैकवाक्यतोपबन्धात् ।। ३/४/२४ ।।

तथा च तत्र तोपनिषत्सु तत्तद्विधिभिः सहासामेकवाक्यताया उपबन्धोऽपि। यथा नचिकेतसः कथा नाभविष्यत्तदा मृत्युना नचिकेत इति सम्बोध्यमानं समागमिष्यत्।

एवं यदि मैत्रेयीयाज्ञवल्क्यसंवादकथा नाभविष्यत्तदा आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादौ सम्बोध्यमात्रमैत्रेयीपदार्थस्य कथं सङ्गतिरभविष्यत्। अतो ब्रह्मविद्यास्तुतये तत्र रुचिसंवर्धनाय चौपनिषद्यः कथाः। कथयन्तु नाम पण्डितंमन्याः केचन नास्तिका आसु कपोलकल्पितत्वम्, तत्रेदमेव यदुलूकानां सूर्याभावकथनेन नैव सूर्यास्तित्व हानिः।

यथा भागवते–

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मांभिदाम् ।
मायामत्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ।।

(११/२१/४३)

तत्र तत्र प्रसङ्गेषु विधिवाक्यैश्च सङ्गतेः ।
कथानामेकवाक्यत्वात्तासु विद्याङ्गता श्रुता ।।
मयाधिकरञ्चैतदुपनिषदर्थबोधनम्।
अस्तिकानां प्रबोधाय रामभद्रेण भाषितम् ।। श्रीः ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथाग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ।।

एवमेतावता ग्रन्थेन ब्रह्मविद्यावधिकपुरुषार्थत्व विधाय प्राप्तविचारान् विचार्य साम्प्रतं फलांशो विचार्यते। तमेत ब्रह्मणा विविदिषन्ति वेदानुवचनेन यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन इति श्रुत्या वेदानुवचनादीनां यज्ञादीनाञ्चापेक्षा द्योत्यते। –इति पूर्वपक्षित आह–

चाग्नीन्धनाद्य नपेक्षा ।।३/४/२५/

अत एव ब्रह्मविद्याया स्वातन्त्र्यादेव, अग्नीन्धनानि आदौ येषां ते अग्नीन्धनादायः,ते च ते यज्ञाश्च इति अग्निन्धनादियज्ञाः तेषामनपेक्षा अपेक्षाया अभावः इति अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा। शाकपार्थिवत्वाद्यज्ञशब्दस्य लोपः। आग्नीन्धनादि बहुलानां द्रव्ययज्ञानां ब्रह्मविद्यायामपेक्षायाः अभावः। तेषां विविदिषायामेव हेतुत्वात्। अत एव श्रीगीतासु-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा ज्ञानयज्ञास्तथपरे।
स्वाध्याज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।

(४/२८)

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।

(४/३३)

यथा भागवते-

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।।

((७/७/५२)

अग्नीन्धनादि यज्ञानां नापेक्षा क्रियते बुधैः।
ब्रह्मविद्याविचारे हि जिज्ञासाहेतवो हि ते।।
इदञ्चैवाधिकरणं रामभद्रेणभाषितम्।
श्रीरामघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु सादरम्।।श्रीः।।

।। अथ सर्वापेक्षाधिकरणम्।।

ननु यथा ब्रह्मविद्यायां यज्ञानामपेक्षाभावस्तथैव किं तदुत्पत्तावपीत्यत आह-

सर्वपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।।३/४/२६।।

यज्ञादिश्रुतेः हेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वेषां वर्णाश्रमकर्मणामपेक्षा। तत्र श्रुतिः तमेतं विविदिषन्ति इत्यादि। अत्र वर्तमानप्रयोगेऽपि विविदिषन्तीति विधिः। एवमश्वो यथा स्वयोग्यता बलाद् रथऊचार एव नियुज्जयते न हलकर्षणादौ तथैवेमानि ब्रह्मविविदिषोत्पत्युपयोगिस्वात्तःकरण- शुद्धावुपयुज्यते। अत एव गीतायामपि भगवान्-

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम ।।

(१८/५)

यथोक्तं भागवते-

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ।।

११/२१/२३)

हयो रथे नियुज्येत योग्यता बलतो यथा।
कर्माणि विनियुज्यन्ते तथा ब्रह्म विवित्सिते ।।

श्रीरामभद्रविदुषा श्रीराघवकृपाभिधे।
भाष्येऽभाषि यथाशस्त्रमधिकरणमनूत्तमम् ।।श्रीः)

।। अथ शमदमाद्यधिकरणम् ।।

अथ जिज्ञास्यते- शमादयो ब्रह्मोजिज्ञानानुष्ठेयाः न वा? अत्यत आ–

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।।३/४/२७।।

यद्यपि ब्रह्मविदो नास्तीतरकर्मापेक्षा, तथापि ब्रह्मवेत्ता शमदमाद्युपेतः स्यादेव। तु हेत्वनुवादकः। यतो हि तद्विधेः शमदमादिविधेस्तदङ्गतया, तेषां शमदमादीनामवश्यानुष्ठेयत्वम् । तस्मादिमान्य- नुष्ठेयान्येव । तथा च श्रुतिः- **तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्रितितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानम।** (बृ०उ०४/४/२३) । एवं ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरमपि, अहं ब्रह्मास्मीति मिथ्यैवात्मानं ब्रह्मज्ञं मन्यमानेन श्रुतिप्रणोदितानि शमादीन्यन्तरङ्गस्राधानानि कदापि न त्याज्यानीत्येवास्य सूत्रस्य हार्दम् । इदमेव समर्थितं गर्भस्तुतौ श्रीमद्भागवते-

येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिस्तय्यस्तभावादविशुद्धा बुद्धयः
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्वयि बद्धा सौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ।।
(भा०१०/२/३२-३३)

इदमेव निगदितं श्रीरामचरितमानसे वेदस्तुतौ सप्तमे–

जे ग्यान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी ।
ते पाई सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ।।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होई रहे ।
जपि नाम तव बिनु भ्रम तरहि भव नाथ सो समरामहे ।।
(मा०७/१३/३)

उत्पत्तौ ब्रह्मविद्याया अन्तरङ्गतया किल ।
शमादीनि विधेयानि गिरो ब्रह्मविदो श्रुतेः।।
इदञ्चाप्यधिकरणं शमादीनां विधेयकृत ।
व्याख्यातं रामभद्रेण साधकानां सुखावहम्।।श्रीः।।

।। अथ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ।।

अथ चतुर्भिः सूत्रैः सर्वान्नानुमत्यधिकरणं विधीयते । बृहदारण्यके फलश्रुतौ श्रूयते- न हवास्यान्नं जग्धं भवति।(६/१/१४) । तत्र जिज्ञास्यतेप्राणोपासकेन कदा सर्वान्नीनेन भवितव्यम्? इत्यत आह शास्त्रीव्यवस्थाम्-

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।।३/४/२८।।

प्राणानामत्यये विनाशे सम्भाविते सत्येव सर्वान्नानुमतिः। सर्वेषामन्नस्य भक्षषस्यानुमतिः अनुज्ञा, तथैव चाक्रायणोपाख्याने दर्शनात् । चाक्रायणो ब्रह्मविद्वरिष्ठः सभार्यः बुभुक्षाप्रेरितः आसन्नमरणः हस्तिपकोच्छिष्टभन्नं भक्षितवान् । अनन्तरं तेनोच्छिष्टे जले दत्ते न्यषेधत् । त्वत्पीतानि जलानि पीत्वोच्छिष्टपायी स्याम् । पुनस्तेन पृष्टश्चाक्रायणः विषयं स्पष्टयामांसयेन विना शरीरयात्रासम्भवा तदन्नस्य भक्षणेऽनुमतिः। तथा हि छान्दोग्ये-हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीत नँ स्यादिति होवाच । न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्याभिमानखादन्निति । होवाच कामो म उदकपानमिति । (छा०११/१०/३-४)

यथोक्तं भागवते-

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह श्रीन्स्वप्नान् धुनुते मुनिः।।

७/१५/६२।।

प्राणानाञ्चविनाशो हि सम्प्राप्ते भोजनं विना ।
सर्वान्नानुमतिः प्रोक्वा तथा चाक्रायणश्रुतिः।।श्रीः।।

पुररिमं पक्षं द्रढयति- अबाधाच्च।।३/४/२९।।

एवमनापदि ब्रह्मविदः सर्वान्नीनत्वे श्रुत्यनुमतौ नावसरः। निषेधप्रतिप्रसवे बाधाभावश्च, यथा छान्दोग्ये-आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धै ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (छा० ७/२६/२) इत्यनापदि असर्वान्नीनत्वे श्रुतेरबाधः। अथवा अबाधाच्चेति सूत्रस्येतरथा व्याख्यानम् । अन्यश्रुतिभिः सर्वान्नीनानुमतिनिषेध श्रुतिनामबाधात् । आपद्येव सर्वान्नभक्षणानुमतिर्नान्यस्मिन् काले ।

यथोक्तं भागवते-

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैतवन्त्रितम् ।। (११/३)

आपत्काले समायाते सर्वान्नीनो भवेद् बुधः।
अनापदि तु नैवाज्ञा बाधभावाच्छ्रुतेर्गिराम् ।।श्रीः।।

अपि च स्मर्य ते।।३/४/३०।।

एवं मनुस्मृतावपि प्राणसङ्कटमापन्नस्य सर्वान्नभक्षणमुक्तम्।

यथा–

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ।।

(मनु० १०/१०४)

यथोक्तं भागवते–

क्वाचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्व स्वादु वा ।
क्वचिद् भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचितं।।

७/१३/३७।।

सर्वान्नीनानुमतिः मनुस्मृत्यादिषु स्फुटां ।
प्राणसङ्कटमपन्नः सर्वान्नीनो भवेदिति।।श्रीः।।

एवमकामकारे स्वेच्छाचारे श्रुतिरपि तदेव सूत्रयति–

शब्दश्चातोऽकामकारे।।३/४/३१।।

अकामकारे इति विषयसप्तमी, स्वेच्छाचाराभाव इत्यर्थः। अत एव प्राणसङ्कटं विहाय अन्यत्राकामकारे स्वेच्छचाराभावे विधिवरूपश्रुतिरपि । यथा–स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति । (छा० ५/१०/९)। यथोक्तं भागवत–

प्रायः स्वभाविहितो नृणां धर्मो युगे युगे ।
वेददृग्भिः स्तुतो राजन्प्रेत्य चेह च कर्मकृत् ।।

(७/११/३१)

प्राणपदस्तथान्यत्र स्वेच्छाचारनिषेधकृत् ।
विधिरूपाश्रुतिह्येषा पञ्चपातक शंसिनी ।।
एतच्चैवाधिकरणं सर्वान्नीनव्यवस्थितौ ।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम् ।।श्रीः।।

।। अथ विहितत्वाधिकरणम् ।।

एवं सर्वान्नीनत्वमुक्त्वात्राश्रमकर्महेतुर्विचार्यते विहितत्वादिति–

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।।३/४/३२।।

श्रुत्या यथाश्रमं विहितत्वादन्यदृष्ट्या अशुभकर्मापि करणीयम् । मुमुक्षुणाममुक्षुणापि विहितत्वाद्धतोराश्रमकर्मापि करणीयम् । अमुमुक्षुणा मुमुक्षोत्पत्तये मुमुक्षा च तद्द्रढीकरणाय । अत एव भगवान् प्राह-

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।

(गी०१८/५)

यथोक्तं भागवते–

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः।।

(११/११/१४)

अन्यदृष्ट्याशुभमपि मत्वा स्वस्याश्रमे शुभम् ।
विहितत्वात्सदा कार्यं कर्म स्वाश्रमसम्मतम् ।।श्रीः।।

नन्विदममुमुक्षुणा न कर्त्तव्यम्? इत्यत आह–

सहकारित्वेन च ।।३/४/३३।।

इमानि सहकारीष्यतोऽधिकारिपृथक्त्वेऽपि विनियोगपृथक्त्वात् त्यागात्यागे न दोषाभावः। अविशुद्धान्तःकरणामन्तःकरणविशुद्ध्यर्थानि, मुमुक्षूणां ब्रह्मविविदिषा हेतुभूतानि । अतस्तयोःकरणे न दोषः। यथोक्तं भागवते–

दानव्रततपोमोहजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।।

(१०/४७/२४)

मलच्छिदेऽमुमुक्षूणां मुमुक्षूणां भवच्छिदे ।
स्वसम्पदे च कर्तव्यं सहकारि यतो हितत्।।श्रीः

पुनस्तमेव पक्षं द्रढयति–

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ।।३/४/३४

सर्वथा सर्वप्रकारेण, त एव यज्ञादय एव करणीया उभयलिङ्गात् । केवलाश्रमिणां मुमुक्षूणाञ्च लिङ्गात् प्रमाणात् । यथा-स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमं जुहुयात् अति केवलमाश्रमिणाम्, **तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन तपसा इति मुमुक्षूणाम्** । यथाक्तं भागवते-

श्रृणवन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।।

(१/८/३६)

बुभुक्षूणां मुमुक्षूणां श्रौतमानानुरोधतः।
यज्ञादयः प्रकर्तव्याः शुद्धये ब्रह्मबुद्धो ।।श्री।।

किञ्च श्रुतिर्यज्ञादिभिर्ब्रह्मविद्याया अनभिभवमभिभवाभावं दर्शयति-

अनभिभवं च दर्शयति।।३/४/३५।।

धर्मेण पापमपनुदति। किञ्चात्रैव विविदिष श्रुतौ । विविदिषा ब्रह्मविद्यायामन्तरङ्गसाधनम् । तत्र विविदिषारूपायाः क्रियायाः शुद्धौ प्रकृष्टोपकारककरणकारकतया तृतीयान्ते समुपदिष्टानां यज्ञादीनां ब्रह्मविद्याप्रकाशे प्रकृष्टसाधनत्वमभ्यधायि । यथोक्तं भागवते-

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।

१०/२०/३२।

यज्ञदानतपःकर्म यच्छ्रुत्या विहितं किल ।
तद्ब्रह्मविद्याभिभवं न करोति कदाचन ।।श्रीः।।

।। अथ विधुराधिकरणम् ।।

ननु ब्रह्मविद्यायां वेदानुवचनेन यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन इति यज्ञादिकर्मणां सहायकत्वमुक्तम् । अथ वर्णाश्रमधर्मपालनेऽसमर्थानां ब्रह्मप्राप्तिर्न वेति विचार्यते-

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।।३/४/३६।।

अत्रान्तराशब्दस्य विनार्थता । असामर्थ्यात् वर्णाश्रमधर्मपालनं विनापि ब्रह्मप्राप्तिर्भवति, कथम्? तद्दृष्टेः, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। (कठ०१/२/२३)

इति श्रुत्यनुरोधात् । अत एवासामर्थ्याददनुष्ठितवर्णाश्रममर्यादानां निषादशबरीजटायुभीष्मगोपिकाविदुरादीनां ब्रह्मसाक्षात्कारप्रसङ्गः सङ्गच्छते यथोक्तं भागवते–

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।

(११/२/३५)

देहाक्षमत्वे यदि कोऽपि भक्तो वर्णश्रमीयं कुरुते न धर्मम् ।
तथापि रामान्घ्रिसरोजयुग्म मधुव्रतः स्यादिति वेददृष्टम् ।

स्मार्तमपि प्रमाणमाह–

अपि च समर्यते।।३/४/३७।।

गीतादिषु स्मृष्वपि वर्णाश्रमविधुराणामपि केवलोपासनाबलेन ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पत्तिः स्मर्यते।· यथा गीतायाः नवमे–

अपि चेत्सुदुदाचारो भजते मामनन्यमक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वश्च्छान्तिं च गच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।

मां हि पार्थ !

व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तोऽपि यान्ति परां गतिम् ।

(गी०९/३०-३१-३२)

यथा च भगवतेऽपि-

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।
वर्णाश्रम मर्यादा विधुराणां कुयोगतः।
ब्रह्मसाक्षात्कृततिर्भक्त्या स्मृतिष्वेतत्प्रकीर्तितम् ।।श्रीः।।

किञ्च वर्णाश्रमविधुराणामुपरि परमात्मनो विशेषानुग्रहोऽपि भवति

विशेषानुग्रश्च ।।३/४/३८।।

विशिष्टं स्थूलचिदचिद्विशिष्टं जगदात्मकं शेषः कार्यं यस्य तद्विशेषं परब्रह्म तस्यानुग्रहो विशेषानुग्रहः। चकारत् साधकदैञ्च। द्वावप्यनुग्रकौ । यथापूर्वसूत्रव्याख्यानोक्तो भागवतश्लोकः किरातेत्यादिः। अन्यदपि-

व्याधस्याचरण ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ।
कुब्जायाः किमतीव रूपमतुलं किं वा सुदाम्नो धनम् ।।
को वंशो विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं ।
भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।

यद्वा वर्णाश्रमविधुरत्वेऽपि भक्तानामुपरि भगवतो विशेषोऽनुग्रहः। अथवा विशिष्टाः शेषाः सेवका इति विशेषाः। तेषु विशेषेषु विशिष्टभक्तेषु शबरीप्रभृतिषु भगवतोऽनुग्रहः।

ये वै विशिष्टाः किल शेषसंज्ञाः श्रीवैष्णवा ब्रह्मविदो विसङ्गः ।
सदा विशेषेषु च तेषु नूनं चकास्ति भूम्नः समनुग्रहोऽयम् ।।श्रीः।।

ननु द्वयोमध्ये कतरज्ज्याय उपासनं भगवदनुग्राहकं ज्ञानं वा? इत्यत आह-

अस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च।।३/४/३९।।

तुशब्द इतरपक्षपोषकः, लिङ्गात् **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।** (कठ०२/२३)

इति लिङ्गाद्, धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः। (कठ०२/२०)

इत्यनुरोधादेवम्-

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्य ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मना ।।

(कठ०३/२५)

इति प्रामाण्याच्च । भगवद्भक्तिवत्मैव ज्यायः। तत्राश्रमिणामनाश्रमिणाऽच गतेः। इदमेव श्रीरामानन्दाचार्याणां सम्प्रदायवैशिष्ट्यम् । यदत्र भगवदनुग्रहगंगातरलतरङ्गे रैदासकबीरदासादयोऽपि वर्णाश्रमबाह्याः पावितान्तःकरणाः जाताः। अतएव स्वयमाह सुशीलाहर्षवर्धनः पुण्यसदनशर्मसुकृतमूर्तविग्रहः प्रयागे गृहीतजन्मा श्रीमद्रामावतारो जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यो भगवान्-

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः शक्ता अशक्ताः पदयो जगत्पतेः ।
अपेक्षते तत्र बलं कुलञ्च नो न चापि कालो न विशुद्धतापि वा ।।

यथोक्तं भागवतेऽपि-

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि।।

(११/३६/३०)

भगवद्भक्तिवर्त्मैव ज्यायो विज्ञानवर्त्मनः।
कृपाकादम्बिनी यत्र सुधां वर्षति वै हरेः।।
विधुरत्वाधिकरणं प्रपत्तिरसविग्रहम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण प्रोक्तं वैष्णवतुष्टये।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ तद्भूताधिकरणम् ।।

एवं विधुराधिकरणेऽनाश्रमिणां भगवदनुग्रहमूलकं ब्रह्मदर्शनमुक्तम् । अथारूढपतितानां ब्रह्मविद्याविषय विचार्यते-

तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।।३/४/४०।।

तद्भूतस्य नैष्ठिकत्वमुपेयुषः। अतद्भावः तत् तदाश्रमात् प्रच्युतिः न श्रेयसे । जैमिनेः पूर्वमीमांसा रचयितुः मद्विधेयस्यापि, अपिना ममापि च बादरायणस्यापि मतेन, तद्रूपाभावेभ्य आरूढपतितभूतेभ्यो, नियमात् श्रुतिनिषेधात् । अत्र शास्त्रे निषेधो वर्तते । तथाहि नियमाश्चतुर्ण्णां तत्र ब्रह्मचारिणः- **ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादायन्** (छां०२/२३/१)

पुनश्च वानप्रस्थ- **अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्** । अथ सन्यासिनाम्- सन्यस्याग्निं न न पुनरावर्तयेत् (यजु०)। अत एवाश्रमच्युतानां न ब्रह्मविद्यायामधिकारः। यथोक्तं भागवते-

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ।।

(७/१५/३५)

आरूढपतितानान्तु प्रच्युतिः श्रेयसे नहि ।
ब्रह्मविद्याधिकरोऽपि न तेषामिति नौ मतम् ।।श्रीः।।

अथ प्रमादादाश्रमच्युतस्य पुनः प्रायश्चित्तेनविशुद्धकल्मषस्य ब्रह्मविद्यायाम-

धिकारोऽस्ति न वा? इत्यत आह–

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्।।३/४/४१।।

अधिकारे भवमाधिकारिकमाधिकारिकमपि प्रायाश्चित्तमत्रनास्ति । यथा मधु भुक्त्वा ब्रह्मणस्य प्रायश्चित्तमस्ति, किन्त्वाश्रमभ्रंशस्य प्रायाश्चित्तं नास्ति । कथम्? पतनानुमानात् । पतनप्रामाण्यात्। अतस्त्तदयोगात्तस्मिन् प्रयश्चितस्य योगाभावात्।

यथा स्मृतिः –

आरुणे नौष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः।
प्रायाश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा ।।

इति यथोक्तं भागवते–

न पारमेष्ठ्यं न महेद्रंधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ।।

(११/१४/१४)

आरूढपतितस्येह प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
आधिकारिकमप्यस्य पतनानुमितेः किल ।।श्रीः।।

अथ मतान्तरमाह–

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवन्तदुक्तम् ।।३/४/४२।।

एक आचार्याः, उपपूर्वं यत्पातकं तस्योपपातकस्य भावं प्रायश्चितसभावमाहुः। यथा मध्वशनस्योपकुर्वाणनैष्ठिकयोः प्रायाश्चित्तं तथैव । आरूढपतितत्वेऽपि। यथोक्तं भागवते–

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्द समुद्रमग्नाः।।

(८/३/२०)

प्रायश्चित्तञ्च मध्वाशे गृहिनौष्ठिकयोर्यथा।
प्रायश्चिञ्च तथैवाहुरूपपताकिनोऽपि च ।।श्रीः।।

सिद्धान्तं दर्शयति–

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च।।३/४/४३।।

तु शब्दः पूर्वपक्षं निवर्तयति । वस्तुत आरूढपतित उभयथा लोकेन वेदेन च लोकात्परलोकाच्च बहिः बाह्यः। न तस्य कर्मण्यधिकारः न वा ब्रह्मविद्यायाम् । स्मृतेः प्रायाश्चित्तं न पश्यामि इत्यादि स्मृतेः। आचाराच्च शिष्टाचारादपि । चकारादेवं विधनान्तु भगवच्छरणागतिरेव परायणम्। श्रीरामनामस्मरणादनेके पतिताः परमां गतिमापुः। अतः स्मरति–

रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन्।
नरो न लिप्यते पावैर्भुक्तिं मुक्तिञ्च विन्दति ।।

यथोक्तं भागवते–

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुब्राजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।।

(११/१४/१६)

आरूढपतितो बाह्यो लोकाद् वेदाच्च सर्वशः।
स सर्वथा नाधिकृतो ब्रह्मविद्यासु कर्मसु ।।
इदञ्चाप्यधिकरणं पतितोद्धारहेतुकम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं वैष्णवानुम्।।श्रीः।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अथ स्वाम्यधिकरणम् ।।

अथ यज्ञाङ्गनामुपासने केषामधिकारो यजमानस्य ऋत्विजो वा?

इत्यत आह–

स्वामिनः फलश्रुत्रेरित्यात्रेयः ।।३/४/४४।।

आत्रेयस्याचार्यस्य मतेन स्वामिनो यजमानस्यैवानुष्ठेयाधिकारः। यः कर्ता स एव फलभोक्तेति फलश्रुतेः। यथोक्तं भगवते–

नैषाति दुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ।।

(१०/१/१३)

आत्रेयस्य मतेनात्र यजमानः फलाश्रयः।
स एव फलभुक्कर्ता इति वेदानुशासनम्।।श्रीः।।

अथापरमपि पक्षमाह– यजमानेन ऋत्विक् परिक्रीतो भवति, दक्षिणया वृतत्वात्। ऋत्विगधिकृतस्यैव यज्ञस्य फलवत्ता भवति, अ तो ऋत्विजानुष्ठेयानि, इत्यौडुलोमेराचार्यस्य मतमत आह–

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते।।३/४/४५।।

ऋत्विजां कर्मार्त्विज्यम् । ब्राह्मणादित्वात् कर्मणि ष्यञ । हि यतो हि ऋत्विग् यजमानेन तस्मै परिक्रीयते प्रतिनिधित्वेन विधीयते । यथोक्तं भागवते–

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ।।

(११/४/१५)

औडुलोमिमतेनैव आर्त्विज्यं यज्ञकर्म तत् ।
ऋत्विग् दक्षिणया तस्मै क्रीतो भवति यज्वने ।।

श्रुतिप्रमाणेन स्वसम्मति निर्दिशति–

श्रुतेश्च।।३/४/४६।।

श्रुतेः श्रुतिप्रमाणेन, च औडुलोमिमतस्यैवौचित्य सिदध्यति । इदञ्चैवाधिकरणं यजमानार्त्विगाश्रयम्। श्रीरामभद्रविदुषा प्रोक्तं विद्वद्विनोदकृत्।।श्रीः।।

।।श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अथ सहकार्यान्तरविध्यधिकरणम्।।

सहकार्यान्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्।।३/४/४७।।

इदं मौनम्, सहकारिणेः बाल्यपाण्डित्ययोः, अन्तरविधिः। अतो यथा श्रवणमननवतोर्यथा निदिध्यासनं तथैवेदं मौनमपि, अविहितमपि विधेयमिवानुष्ठेयम् । यथा यज्ञविध्यादावनुक्तमपि सहकार्यन्तरं विधीयते । यथोक्तं भागवते–

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः।।

(११/२/५०)

बाल्यपाण्डित्ययोरन्तर्विधित्वान्मौनमुत्तमम्।

अनुक्तं प्रोक्तमेव स्याद् यज्ञे च सहकारिवत् ।।श्रीः।।

अथ गृहस्था अपि प्राप्नुयुर्नवेत्यत आह-

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः।।३/४/४८।।

कृत्स्नस्य सम्पूर्णस्य भावात् गृहिणा गृहस्थधर्मेण, उपसंहारः। ब्रह्मविद्यायां गृहस्थानामधिकारो वर्तते। यथा जनकादयो गृहस्थाः सन्तोऽपि कृतभगवत्साक्षात्कारा अवर्तन्त।

यथोक्तं भागवते-

एतेरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः।।

(७/१५/६७)

गृहस्थोऽपि च सामग्र्यादुपसंहृत्य चेतसि।
ब्रह्मविद्याधिकारी स्यात् कर्माणीति व्यवस्थितिः।।श्रीः।।

अधिकरणमुपसंहरन्नाह-

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।।३/४/४९।।

यथा त्रयो धर्मस्कन्धाः, तत्र नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रथमः, तप एवं द्वितीयः, परिव्राजकस्तृतीयः। एवं पुत्रैषणायाः वित्तैषणायाः लोकैषणायाश्चाभ्युत्त्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति, इति कहोलब्राह्मणं प्रति याज्ञवल्क्यस्योपदेशे परिव्राजकधर्मो वर्णितः। तत्रैव बाल्यपण्डित्य मौनानां क्रमेण निर्वेदनमप्युक्तम्। तत्र यथा अविहितमपि मौनं सहकारित्वेनान्तर्विधेयत्वे, तथैव परिव्राजकधर्मेऽपीतरेषामप्युपदेशो मन्तव्यः। परिव्राजकत्वे विकल्पः। **आश्रमादाश्रमे गच्छेदेषधर्मः सनातनः** इतिनिंग स्मृत्यनुरोधाद् ब्रह्मचर्याद् गृही, ततो वानप्रस्थः ततः सन्यासीति सामान्य नियमः। विशेषतस्तु **यदहरेव विरज्येत् तदहरेव प्रव्रजेत्** (जा०उ०१/४) इति यदाप्युत्पवैराग्यं तदैव परिव्रज्या। अत एव भगवान्मनुः -

वाग्दण्डश्च मनोदण्डः कायदण्ड स्तथैव च।
यस्यैते नियता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते।।

(म० स्मृ०१२/१०)

एवं वाङ्मनःकायदण्डानां नैयत्यं न कालमपेक्षते।

यथोक्तं भागवते–

मौनानीहानिलायाम दण्डा वाग्देहचतेसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः।।

(११/१८/१७)

मौनं ह्यनुक्तमप्येतद् बालपाण्डित्ययोर्यथा ।
परिव्रज्योपदेशो हि तथान्येषां गतार्थता।।
इदञ्चैवाधिकरणमुपसंहारलक्षणम् ।
रामभद्रेण विदुषा व्याख्यातं रामतुष्टये।।श्रीः

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।। अथानाविष्काराधिकरणम्।।

अथ बृहदारण्यके कहोलप्रश्नमुत्तरयता महर्षिणा तस्ताद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन निष्ठासेत् इतिश्रूयते । अत्र सन्धीयते– किं बालकस्य समग्रान् गुणानाविष्कुर्याद् विद्वान्, उताहो यान् काञ्चित्? इति जिज्ञासायामा–

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।।३/४/५०।।

बाल इव ब्रह्मविद्यानुपयोगिगुणान् चाञ्चल्याशैचाचारकामादीननाविष्कुर्वन् अप्रकटयन् ब्रह्मविद्यायामन्वयात् समन्वयात् । हेतोरूपलक्षितान् निर्दोषत्वपावनत्वनिर्वैरत्वकोमलत्वनिर्वासनात्वादि ब्रह्मविद्योपयोगिनो गुणान् आविष्कुर्वन् तिष्ठ्ासेत्। किञ्च भगवतोऽपि सगुणसाकारस्य ब्रह्मणो मायानवच्छिन्नत्वेऽपि गृहीत्वबालरूपत्वप्रसिद्धः तदनुगुणत्वेन शीघ्रं बालरूपस्य राघवस्य कृपास्फुरणम् । इत्यनेन भगवतो बाल रूपोपासनायाः वैदिकत्वं प्रमाणितम् । यथोक्तं भागवते–

न मे मानावतानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ।।

(११/९/३)

आविष्कुर्वन् गुणांस्तिष्ठेद् ब्रह्मविद्योपयोगिनः।
तथा नावश्यकान् धीरो तिरस्कुर्वन् विवेकतः।।
इदञ्चैवाधिकरणं विद्वद्बाल्यैक्यलक्षणम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं बुधतुष्टये ।।श्रीः।।

।। अथैहिकाधिकरणम् ।।

एवं ब्रह्मविद्यायाः सर्व उपयोगिनो विषयाः विचारिताः। साम्प्रतं तस्य प्राप्तिसमयो मीमांस्यते । किमियं ब्रह्मविद्यास्मिन्नेव जन्मनि प्रादुर्भवति जन्मान्तरे वा? इत्यत आह–

ऐप्किमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।।३/४/५१।।

प्रस्तुतानां विद्याविरोधिकर्मणां प्रतिबन्धाभावेऽस्मिन्नेव जन्मनि विद्याविर्भवति। प्रतिबन्धे सति जन्मातरे । इत्थमेव तद्दर्शनात् । वामदेवादेर्जन्मान्तरे विद्यास्फुरणं किन्तु जनकादरिहैव जन्मनि। सूत्राक्षरार्थस्तु प्रस्तुतःप्रतिबन्धः, प्रस्तुतःप्रतिबन्धः, न प्रस्तुतप्रतिबन्धः, तस्मिन्नप्रस्तुतप्रतिबन्धे । यथोक्तं भागवते–

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्बिना महत्पादरजोऽभिषेकम् ।।

(५/१२/१२)

अभावे किल विघ्नानां ब्रह्मविद्येह जन्मनि।
प्राचुर्ये चैव विघ्नानां सा तु जन्मान्तरे किल ।।
इदञ्चैवाधिकरणमामुष्मिकगतिप्रदम् ।
आचार्यरामभद्रेण भाषितं प्रीतये हरेः।।श्रीः।।

।। अथ मुक्तिफलाधिकरणम् ।।

अथ मुक्तिफलं वर्णयित्वा साधनाध्यायमुपसंहरति–

मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।।३/४/५२।।

एवं मुक्तिफलेऽप्यनियमः। कथम्? तदवस्थायारवधृतेः। सा अवस्था– **आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।** (छा०उ०७/२/६२) इत्ययाः अवस्थायाः, अवधृतिर्धारणं यदैव भवति तदैव मुक्ति खाप्यते । यद्वा मुक्तेः फलं मुक्तिफलं तस्यानियमः। मुक्तिफलमत्र भक्तिस्तस्यां नास्ति नियमः। कथम्? तदवस्थायाः अवधृतेः, तस्याः अवस्थायाः अवधारणात् । यदापि भगवन्नामजपादिकं जायते तदैव साधकाय भक्तिर्मिलति । एवं सर्वेषां साधनानां फलं भक्तिरेव। सा च भगवत्कृपामूलिकेति राद्धान्तः। यथोक्तं भागवते–

नैवोयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिन्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।।
(११/२९/६)

चित्ते विशुद्धेऽप्यधुनैव मुक्तिः चित्ते ह्यशुद्धे शतजन्मतः स्यात् ।
दैन्यप्रसादे ह्यधुनैव भक्तिः तद्दूरतायां सुचिरं प्रतीक्षा ।।

इत्येवञ्चाधिकरणं लसन्मुक्तिफलं मया ।
श्रीरामभद्राचार्येण भाषितं रामभक्तये।।
चतुर्थमया पादः तृतीयाध्याय गोचरः
चतुर्थश्च ध्यायता प्रेम्णा चतुर्थे प्रतिभाषितः।।

श्रीराघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु वै मया ।
व्याख्यातः साधनाख्योऽयं तृतीयोऽध्याय आदरात् ।।श्रीः।।

इति श्री चित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामिश्रीरामभद्राचार्यकृतौ श्रीबादरायणवेदव्यासविरचिते ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभाष्ये साधनाख्यस्तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

।।श्रीमद्राघवो विजयतेतराम्।।

।।श्री रामानन्दाचार्याय नमः।।

अथ चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमपादः

।। मंगलाचरणम् ।।

वशिष्ठाद्यैर्विप्रैर्विशदमभिविक्तः सररैवर्नुतो
ध्यातो भक्तैरनुजमहितो वानर भटैः।
परीतः श्रीसीता मुखजलजरोलम्ब नयनो हृदा
रामे रामारमण इह रामेऽभि रमतु।।१।।

मैथिली वन्दितो मन्दस्मितशोभिमुखाम्बुजः ।
रामाभिरामः श्रीरामो राघवः शन्तनोतु नः।।२।।

मन्दाकिनी पुण्यतटे विहारी सीता हृदम्भोनिधिमोदकारी ।
भग्नत्रिकूटः श्रितचित्रकूटः श्रीराघवो मङ्गलमातनोतु।।३।।

खेलन्नीलतमालाभो भक्तभावनुगो हरिः।
बालको बालकैर्बालो राघवो राजतां हृदि।।४।।

आनन्दसिन्धुमानन्दकन्दमानन्दविग्रहम् ।
राघवं तमहं नौमि वशिष्ठानन्दवर्धनम्।।५।।

बदरायणपादाब्जपरागरसमाश्रये ।
यत्प्रणीतो विजयते ब्रह्मसूत्रमणिर्भुवि।।६।।

वीतरागं महाभागं सुशीलानन्दवर्धनम् ।
रामानन्दमहं नौमि स्वाचार्यं जगतां गुरूम्।।७।।

अथ फलाध्यायः प्रारभ्यते। गतेषु त्रिष्वायायेषु प्राप्यप्राप्तिस्वरूपस्वस्वरूप-विरोधिस्वरूपाणां सोपपत्तिवर्णनमकारि । अथ भगवत्प्राप्तिवर्णनं निरूप्यते । तमेदं प्रथममधिकरणमावृत्ताख्यं, तस्येदं प्रथमं सूत्रम्–

अथावृत्यधिकरणम्

शान्त उपासीत तत्र सर्वं खलु-इदं ब्रह्म तज्जलाविति (छा०३/१४/९), आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः (वृ०२/३/५) इत्यादी यन्निदिध्यासनं दर्शनं वेदनं वा विवादितं ध्यानलक्षणम् तज्जयोतिष्टोमादिवत् सकृत् कर्तव्यम्, उताहो बारंवारम्। सकृदेव कर्तव्यमिति पूर्वः पक्षः। अत्राह–

सू. आवृत्ति रसकृदुपदेशात् ।।४/१/१।।

असकृत् आवृत्तिः कर्तव्या इति शेषः। किमर्थम्?उपदेशात् हेतोः। भगवतो ध्यानस्थ निरन्तरमसकृदावृत्तिः कर्तवयेति श्रुतिपयदेशः। याज्ञवल्क्यो मैत्रेयी प्रति उपदिशति–आत्मा द्रष्टव्यः न केवलं द्रष्टव्यः। श्रोतव्यः। अथ मन्तयः। अनन्तरं निदिध्यासितव्यः। निदिध्यासनं ध्यानम् । यथा श्रीमद्भगवद् गीता–

मच्चित्त मदगतप्राणाः बेधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्चे मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

(गीता१०/९)

अथवा असकृच्छब्दस्योपदेशेऽन्वयः। श्रुतिभिरसकृदुपदेशादावृत्तिः। आत्मेत्येवोपासीत इत्यवं वारंवार श्रुतिषूपदेशात् परमात्माध्यानम्य वारवारमावृतिः करणीया ।

यथोक्तं भागवत–

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं, कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुग- तप्रपञ्चं, स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ।।

३/२५/३३

असकृत् श्रुतिवाक्येषु ब्रह्मध्यानोपदेशनात्।
तस्यावृत्तिर्विधातन्या स्वान्ते शान्ते पुनः पुनः।।श्री।।

सू. लिंगाच्च ।।४/१/२।।

सततध्यानस्य उपलभ्यते श्रुति स्मृतिषु-

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

(गीता८/१४)

पौराणिका अप्यामनन्ति स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न कर्हिचित् । सर्वे विधिविषेधः तस्मान्निरन्तरं अवध्यैन मक्सा भगवतो ध्यानं करणीयम्। स्युरेतयोरेव किंकराः तमेकं जानथ आत्मानम्। (मु०२/२/५)

यथोक्तं भागवते–

यत्तत्सत्वगुणंस्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ।

(३/२७/२१)

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु इतिहासद्वयेऽपिच ।
आम्नातं भगवद्ध्यानं सर्वे वैदिक वाङ्मये ।।श्रीः।।
प्रथमं प्रथमेपादे चतुर्थाध्याय गोचरे ।
भाषितञ्चाधिकरणं रामभद्रार्यसंगिना ।।

।। श्रीराघवः शंतनोतु ।।

अथात्मत्वोपासनाधिकरणम्

ननु आत्मा वा अरे दृष्टव्यः (वृ०२/३/५) आत्मा वा इदमेक एवाक आसीत् (ऐ०उ०१/२) तमेवक जानथ आत्मानं (मु०२/२/५) इत्यादिषु आत्मोपासनायाः य उपदेशः कृतः तत्रायं संदेहः। यत् केन रूपेणायं उपासनीयः। अधिकन्तु भेदनिर्देशात। नेतरोन्नुपपत्तेः। द्वासुपर्णा सयुजा सरकया इति भूयोभिः निर्देशेः स्वभिन्नतया उपासनीयः इति पूर्वपक्षे प्राप्ते आह–

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।।४/१/३।।

आत्मा इत्येव । स्वस्य परमात्म शरीर भूतस्य आत्मा यथा शरीरस्य जीवात्मा परम ममताभाक् तथैव शरीरिणेऽपि परमात्मशरीरभूतस्य परमममताभावत्वेन उपासनीयः।। अथ नेदं निष्प्रमाणकम् । पूर्वेपि इत्थमेव–मुपगच्छन्ति । अन्यानपि सर्वाधिक प्रेमभाजनतया ग्राह्यन्ति च । यथा श्रीमद्भागवते–तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामत्पि देहिनाम् । तदर्थमेव सकलं जगदेत चराचरम् ।। कृष्णमेवमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।। (भागवत१०/१४/५४-५५)।।

यद्वा आत्मशब्दः परमात्मपरः। न तु जीवात्मपरः। उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति इति कर्तृव्य निर्देशात् उपासको जीवात्मा उपासकः परमात्म । तथा हि आत्मा व्यापकः।

शरीरान्तरात्मेव परमममता भाजनं इति मत्वा तमुपगच्छन्ति सामीप्येनोपासते ग्राहयन्ति च इत्यमेवान्यानुपदिशन्ति स्वयमपि रमन्ते ।

शरीरममताभूत आत्मेत्येवं विभावयन् ।
उपासीत तथैवान्ये जानन्तो बोधयन्ति च ।।श्रीः।।
द्वितीयचधिकणं आत्मोपासन लक्षणम् ।
स्वान्तः सुखाय व्याख्यातं राभद्रेणधीमता ।।

।।श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ प्रतीकाधिकरणम् ।।

ननु मनोब्रह्म अन्नं वै ब्रह्म वाग्वै ब्रह्म इत्यादिश्रूयतो। तत्र जिज्ञासतेकिं मन आदि प्रतीकरूपेण उपासना कार्या । यद्वन शुद्ध वरूपस्य तस्य ।

अत आह–

न प्रतीके वहि सः।।४/१/४।।

प्रतीकं नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धिः।

ब्रह्मणः प्रतीकेषु ब्रह्मोपासना न कार्या । कथम्? न हि सः। यतो हि प्रतीके उपास्यः आत्मा न तिष्ठति । अथ किमर्थं तत् समानाधिकण्यम्? ब्रह्म दृष्ट्ण्र्थम्। यतः सर्वत्र ब्रह्म दृष्टिः स्यात्। यथोक्तं भागवते–

क्षेत्रज्ञ आत्मा परुषः पुराणः साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः
नारायणो भगवान् वासुदेवः स्वभाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः।।

(भाग०५/११/१३)

नवु सामानाधिकरण्यात् इदं न निश्चीयते यत् क्व कस्य दृष्टिः?

इत्यत आह–

ब्राह्म दृष्टि रुत्कर्षात्।।४/१/५।।

उत्कृष्टस्य निकृष्टे दृष्टि र्भवति निष्कृष्टस्य न भवति उत्कृष्टे दृष्टिः। सेवके राजदृष्टिर्भवति न तु राजनि सेबक दृष्टिः। अतो मन आद्यै निकृष्टे ब्रह्मदृष्टिःकरणीया । न तु ब्रह्मणि मन आदि दृष्टिः। सिंधौ बिन्दुदृष्टि र्न भवति विन्दौ सिन्धु दृष्टिः कतु शक्यते ।

यथोक्तं भागवते–

द्रव्यं कर्म च कालञ्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्वत्ः।

(२/५/१४)

उत्कृष्टस्य निकृष्टे हि दृष्टिः सर्वत्र वै भवेत।
न निकृष्टे तथोत्कर्षात् प्रतीके ब्रह्मदृष्टयः।।श्रीः।।
तृतीयञ्चाधिकरणं प्रतीकाख्यं मयेरितम् ।
रामभद्रेण कृतिनां रामभद्रप्रसादतः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथादित्यादिमत्यधिकरणम्

अथ य एवासौ तपति तमुद्गीथेमुपासीत (छा०१/३/१) इत्यत्र अयं संदेहः। यत्कर्माङ्गे उद्गीथे आदित्यादि बुद्धि कर्तव्या किं वसा आदित्यादौ उद्गथे दृष्टिः। इत्यत आह–

आदित्यादिभत यश्चाङ्ग उपपत्तेः।।४/१/६।।

अंशे कर्मांशे उद्शीथे आदित्यादि देवता मतयः कर्तव्याः। कस्माद्धतोः। उपपत्तेः। एवयेवोपपत्तिः। यथा प्रोक्षणेम संस्कृतं सुखाय भवति तथैव आदि त्यादि देवताभिः संस्कृतं कर्म फलवत्तरं सम्पद्यते ।

यथोक्तंभागवते–

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ।।

(३/६/१५)।।

उद्गीथे चैव कर्माङ्गे कर्तव्या श्रुतिशासनात्।
सूर्यादिदेवमतयः कर्मस्यात्फलवत्तरम ।।श्रीः।।
चतुर्थञ्चाधिकरणं आदित्यादि मतीस्थम्।
मया श्रीरामभद्रेण व्याख्यातं कर्म सिद्धये ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथासीनाधिकरणम्

अथ ब्रह्मोपासना कथं कर्तव्या । शयानने तिष्ठतधावतावा इत्यत आह–

आसीनः सम्भवात्।।४/१/७।।

आसीनः ब्रह्मोपासीत्। कथम्? सम्भवात् । अन्यक्रियासु शरीरधारण व्यासक्तत्वात् शयन क्रियायां निद्रायाः आगमनभीतेः आसीन एवोपासीत् । अत एव स्मृति युक्त आसीत मत्परः।।(गीता२/६/१)।।

यथोक्तं भागवते-

सम आसन आसीनः समकायो यथाकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधायस्वनासाग्रकृतेक्षणः।।

(११/१४/३२)

अन्यक्रियासु व्यासक्त मानसत्वाद सम्भवात् ।
आसीनोऽनन्यमनसा ब्रह्मोपासीत शान्तधीः।।श्रीः।।

ध्यानाच्च ।।४/१/८।।

किञ्च ध्यानात् ब्रह्मोपासनाभवति । निदिध्यासितव्यः।। (बृ०४/५/६)।। ततस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः ।। (मु०२/३/८)। इति श्रुतेः।

तद् ध्यानम् आसीनेनैव कर्तुं शक्यते । न तु शयानेन न वा तत्तत् क्रिया व्यासक्तेन ।

यथोक्तं भागवते–

प्राणायामेनत्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम्

(४/८/४४)

एकाग्रेणैव मनसा प्रशान्तात्मा प्रशान्तधीः।
ध्यायेत्तं निष्फलं ज्योतिरासीनो ब्रह्म तत्परः।।श्रीः।।

अचलत्वं चापेस्य ।।४/१/९।।

किञ्च ध्यायतीव पृथिवी ध्याकियति वान्तरिक्षं इत्यादि श्रुतौयेषु पृथिव्यन्तरिक्ष जलपर्वतादिषु ध्यानमारोपितम ते सर्वेण्य चलाः तस्मात् ध्याने अचल त्वमपेक्षते ।

तच्चासीवे नैव कर्तुं शक्यतेः यथोक्तं-

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्धया सारन्यिना धीरः प्रणमेन्मयि सर्वतः।

(११/१४/४२)

ध्यायतीवेत्यादिश्रुति ब्रह्मध्यानं समादिशत् ।
तैच्चासीनेन कर्तुं हि शक्यं नान्यक्रियाजुषा।।श्रीः।।

किञ्च गीतायां भगवच्छ्रकृष्ण पादाः स्मरन्ति-

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् । (गीता ६/११) तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यसने दुञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। (गीत ६/१२) अतः सूत्रयति ।

स्मरन्ति च।४/१/१०।

स्मरन्तींति आदरार्थे बहुवचनम् यथोक्तं भागवते-

तत्रलब्धपदं चित्तमाकृष्यव्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वमदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

(११/१४/४४)

गीतायां भगवान्कृष्णः षष्ठेऽध्यांये धनञ्जयम् ।
ध्यानयोगमुपादेक्ष्यन् श्लोक द्वयमथास्मरत् ।।श्रीः।।

अथ क्व ध्यनं कर्तव्यम्? इति आह-

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४/१/११।

अत्र एकाग्रतापेक्ष्यते । यत्रा प्येकाग्रता स्यात् । तत्रैवास्थेयम् । अविशेषात् । देशस्य कालस्य च नास्ति कश्चन विधि विशेषः।। यथोक्तं भागवते-

ध्यानेनेत्यं सुतीव्रेणयुञ्जतोयोगिनोमनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः।

(११/१४/४६)

यत्रस्थाने भवेल्लब्धा मन एकाग्रता ध्रुवा ।
तत्रस्थित्वा परं ध्यायेद् विशेषो नास्ति कश्चन ।।श्रीः।।

इदञ्चैवाधिकरणं ब्रह्मोपासन लक्षणम् ।
विदुषा रामभद्रेण व्याख्यातं राम भक्तये ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथाप्रायणाधिकरणम्

ननु इदं ध्यान लक्षणमुपासनं कियत्कालं कर्तव्यम्? इत्यत आह-

आप्रायणत्तत्रापि हि दृष्टम्।।४/१/१२।।

इदं प्रायणम् ब्रह्मलोकगमनमभिव्याप्य विधेयम्। तस्मिन् प्रयाण कालेऽपि ब्रह्मोपासनं दृष्टम् यथा-स खल्वेयं वर्तय न्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ।(छा०८/१५/१) अपिना स्मृतमपि ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रणाति त्यजन् देहं सयाति परमां गतिम् । (गीता८/१३) तथा च भागवते श्री भीष्मः -

इतिमति रूप कल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुंगवेविभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वाचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः
(भागवत १/९/३३)

ब्रह्मलोकायनं यावद्ध्यानं कुर्वित यत्नतः।
प्रायणं समभिव्याप्य यतिर्मोक्षरायणः।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं भगवद्भजन लक्षणम् ।
आचार्य रामभद्रेण मनः प्रीत्यै समीरितम् ।।

श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथ तदधिगमनाधिकरणम्।।

ननु ब्रह्मविद्याधिगमे जीवस्य अतीत पाप विनाशः आगामी पापा स्पर्शी भवति वा इत्यत आह-

तदधिगम उत्तर पूर्वायवोश्लेष विनाशौ त
तद्व्यपदेशात् ।।४/१/१३।।

तस्याः ब्रह्मविद्याया अधिगामे प्रापणे उत्तरपूर्वयो रघयोः अश्लेष विनाशौ भवतः। उत्तरस्य वागमनम्। पूर्वस्य च न स्थानम् । कथम? तथैव श्रुति भिर्व्यपदेशात् ।

तथैवात्र यथाक्रमउदाहरणे । यथा पुष्कर पलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म व श्लिष्यते (छा० ४/१४/३) तथा च अथ पूर्वपाप विनाशो यथा– तद्यथेषी कातूलभग्नौ प्रोतं प्रोद्यै तैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रद्यन्ते ।(छा०५/२४/३)।

यथोक्तं भागवते–

ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरिक्षणकल्पितोरनमानाः।
यथोक्तं भागवतेकृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।

(भाग०१/९/४०)

ब्रह्मविद्याधिगमने अतीताधविनाशनम् ।
उत्तरस्य तथा स्पर्शो वेद इत्थं ब्रवीत्यसौ।श्रीः।।
मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तः
सदसि युधिष्ठिरराजसूयएषाम् ।
इदञ्चैवाधिकरणं पाप विध्वं सहेतुकम् ।
रामभद्रेणसुधिया व्याख्यातं तुष्टये सताम् ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथेतराधिकरणम्।

एवं पूर्वपुण्यस्य विनाशः आगत पुण्यस्य च श्लेषाभावः इत्यत आह–

इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ।।४/१/१४।।

शरीरपाते इतरस्य पापादन्यस्य पुण्यस्य अश्लेष विनाशौ स्पर्शाभावक्षयौ भवतः। तदा विद्वान् पुण्यपपि विधूय निरञ्जनं परं साम्य मुपैति (मु०२/१/३) यथोक्तं

मणिगणनृपवर्यसंकुलेन्तःसदसियुधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा।

(भाग०१/९/४१)

देहे पाते समापन्ने वर्तमानस्य कर्मणः।
क्रियमाणस्य ना श्लेषो मनाग्, ब्रह्मविदो भवेत्।।श्रीः।।

इञ्चैवाधिकरणं रामभद्रमनीषिणा ।
सतां प्रीप्यै समाख्यातं भाष्ये श्री राघवाभिधे।।

श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथानाब्ध कार्याधिकरणम्

किम् च स कर्मविनाशः आराब्धस्य अथवा अनारब्धस्य ।इत्यंत आह–

अनारब्ध कार्यो एव तु पूर्वे तदवधेः।।४/१/१५।।

अनारब्धं कार्यं शरीरं याभ्यां ते अनारब्ध कार्ये पूर्वे प्राक्तने सृकृते दुष्कृते शरीरकारम्भक कर्मभिन्ने विनष्टे भवतः विद्यया याभ्यां शरीरब्धं तन्न नश्यति । कथम? तदवधेः तावदेव चिरम् यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये (छा०६/१/२२)

यथोक्तं भागवते–

तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयाचक्र उद्धर्षो रब्ध सर्वमनोरस्यः।

(१०/८/४०)।

शरीरानु पर्यागित्वान्नाशो नारब्ध कर्मणाम्।
आरम्भकालं तेषा देहस्य नाशो नैवोपद्यते।।
इञ्चैवाधिकरणं शरीरारम्भहेतुकम् ।
व्याख्यातं राम द्रेण तुष्टये जानकीपतेः ।।

श्री राघवः शंतनोतु।।

अथाग्निहोत्राधिकरणम्

अथा अग्निहोत्रादिकर्म विद्यया नाश्यतेन व अत आह–

अग्नि होत्रादि तु तत्कार्या यैव नद्दर्शवात् ।।४/१/१६।।

अग्निहोत्रादि न कश्यते । इदं तु विद्या प्राप्यते एवं प्रभवति । अतो कृतज्ञा विद्या सोद्भवसहायकं अग्निहोत्रादि न नाशयति ।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।

आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेमृतम् ।

(७/१५/४७)

अग्निहोत्रादिकं कर्म विद्या नो नाशयत्युत ।
तस्यां तदुपयोगाद् वै कर्तव्यं तत्प्रयत्नः ।।श्रीः।।

उपपत्तिमाह–

अतोऽन्यापिह्येकेषामुभयोः।।४/१/१७।।

उभयोरपि ज्ञानिकर्मिणोः अस्मादन्यत्रापि काचित्क्रिया वर्तते। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत शतः समाः। (ईशा०२) सा अनया विद्यया व विनाश्यते । श्रतोव दोषः।। यथा भागवते–

यथोग्निः सुसामृद्धर्चिः करोत्मेधांसिभस्मसात् ।
तथा मद्विपया भक्तिरुद्धवैनांसिकृत्स्नशः ।

(भा०११/१४/१९००)

अग्निहोत्रादथान्यत्र कर्म वै ज्ञानिकर्मिणोः।
विद्या नाश्यते नैव ततः कर्तव्यमेव तत् ।।श्रीः।।

यदेव विद्ययेति हि ।(४/१/१८)

एवमपर मपि हेतुमाहयदेवेति । छान्दोग्ये श्रूयते–"यदेव विद्यया करोति श्रद्धायोप विषदा तदेव वीर्य वत्तरं भवति न। (छा०१/१/१८) इत्यपया श्रुत्याषि कर्मनाशस्य निषेधात् न नाश्यते अग्निहोत्रादिकम् । यथोक्तं भागवते–

यदिस्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं नानुमानेन विरुद्धमान्यत
न मन्यते वस्तुतया मनीषी स्वाप्नं यन्योन्याय तिरोदधानम् ।

(भा०११/२८/३२)

यदेव विद्ययेत्यादि छान्दोग्य श्रुतिवाक्यतः।
श्रुति प्रणोदितं विद्यया न विनाश्यते।। श्रीः।।

इत्येवञ्चाधिकरणं कर्म नित्यत्वहेतुकम् ।

श्री राघवः शंतनोतु ।।

अथेतर क्षपणाधिकरणम्

ननु शरीरानारम्भके तु पुण्यपापे पूर्व कृते नाश्येते । परन्तु याभ्यां शरीरमाब्धं तयोःऽन्कार गतिः? इत्यत आह–

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ।।४/१/१९।।

इतरे शरीरावारभ्कि भिन्ने शरीरारम्भके पुष्पपापे भोरोनैव क्षपयित्वा नाशयित्वा शुभाशुभैः फलैः मुक्तः परमात्मनि सम्पद्यते । यथोक्तवान् भगवन् नृसिंहः प्रह्लाद प्रति-

भोगेन पुण्यकुशलेन पापं कलेवरं काल जवेन हित्वा ।
कीर्तिं विशुद्धां सुर लोकगीतां विताय मापेष्यसि मुक्तबन्धः।

(भागवत १७/१०/१३) ।

शरीरारम्भके पुण्यपापे भोगेन भूरिशः।
क्षपयित्वा नरो याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिरणं कर्मभोगैकलक्षणम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं रामभक्तये ।।
प्रथमोऽयं मयापादः चतुर्थाध्यायगोचरः।
श्री राघव कृपा भाष्ये व्याख्यातो भक्तये हरेः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

इति श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामिश्रीरामभद्राचार्यकृतौ ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभाष्यम्चतुर्थाध्याये प्रथमःपादः सम्पूर्णः।।

द्वितीयः पादः ।।

कन्दावदातं जनपारिजातं राजीवनेत्रं मृदुकञ्जगात्रम् ।
दिव्यप्रतापं धृतचाण्ड चापं सीताद्वितीयं प्रमणामि रामम्।।

।। अथ वागधिकरणम्।।

एवं "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" इति श्रुत्यनुरोधेन पुण्यपापभोगेन शरीरक्षय उक्तः पूर्वपादे । इदानीं उत्क्रमण प्रकारं चिन्तयति । तत्र छान्दोग्ये श्रूयते–"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां

देवतायाम्।(उ० छा०३/६-८-६), तत्र इत्थं सन्देहः। किंवृत्तिमती वामनसि लीयते, अथवा वाचोवृत्तिरेव? अतः – आहः सूत्रकारः –

"वाङ्मनसिदशेनाच्छष्दाच्च।।४-२-१।।

वागेव मनसि लीयते, न तु वाचो वृत्तिः। कथं? दर्शनात्, दृश्यते चापि लोके वाच्युपरतायामपि मनोव्यापारप्रवृत्तिः। इदं वृत्त्यामपि संभवम् । अत आह "शब्दात्" शब्दप्रमाणमपि एवमेवाह "वामनसीति" न वयं श्रुतिशासनं लङ्ङि्तुमर्हाः। यथा भावगते–

वाचं जुहावमनसि तत्प्राण तइतरेचाम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वेह्यजोहवीत्।

(भा० १-१५-४१)

प्रलयावस्थितिं प्राप्ते वाङ्मनस्येव तत्र लीयते ।
वाण्यानुपरतायां तु तद्वृत्तेः श्रुतिशासनात् ।।श्रीः।।

उपसंहरति–

"अत एव सर्वाण्यन।।४-२-२।।

सम्पत्तिरिह संयोगः, अतः अस्मादेव हेतोः अनु वाक् सम्पत्तिमनु सर्वाणि इन्द्रियाणि मनस्येव संयुज्यन्ते ।। यथोक्तं भागवते–

अस्माच्च कारणात् सर्व हृषिकाणि च तान्यनु ।
वाचं मनसि युज्यन्ते दैवतन्त्र नियोगतः।।श्रीः।।

१-१५-४१

प्रथमं चैवाधिकरणं वागाण्यं प्रतिभाषितम् ।
चतुर्थे रामभद्रेण द्वितीये स्मरता हरिम्।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ मनोऽधिकरणम्।।

अथ मनसः अन्नमयत्वात् "अन्नं सोम्य मनः" इत्याद्यनुरोधेन प्राणस्य च अम्मयत्वात् अत्रेत्थं शङ्क्यते । यन्मनसः अन्नविकारस्य प्राणप्रकृतिभूतासु अप्सु लयः? इत्यत आह–

"तन्मनः प्राण उत्तरात् ।।४-२-३।।

उत्तरवाक्यानुरोधेन मनः प्राणेएवं लीयते । न तु तद्विकारे जले ।

तन्मनो लीयते प्राणे दैवतन्त्र प्रणोदितम्।
तद्विकारेषु नैवाप्सु श्रुतिरेवानुशासनात् ।।श्रीः।।
द्वितीयं चाधिकरणं मनः प्राणाप्ययात्मकम् ।।
श्रीरामभद्रविदुषा व्याख्यांत सत् प्रमोदकृत्।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथाध्यक्षाधिकरणम् ।।

ननु "प्राणस्तेजसि" इति श्रुत्यनुरोधेन प्राणस्य तेजसि लयः प्राप्तः? अत आह–

"सोऽयक्षे तदुपगमादिभ्यः।।४-२-४।।

सः प्राणः अध्यक्षे जीवात्मन्येव लीयते । तस्य उपगमादिभ्यः वाक्येभ्यः उपगमवाक्यं यथा–"एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति ।(बृ०उ०४-३-३८),

आदि पदेन "तमुत्क्रामन्तं" इत्यादीनां संग्रहः-

वाक्ये नोपगमेनह स्वाध्यक्षे प्रत्यगात्मनि ।
प्राणो विलीयते नैव तेजसीति श्रुतिः स्थिति ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिरणं प्राणोत्क्रमणलक्षणम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यात प्रीतये प्रभोः ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ भूताधिकरणम् ।।

पूर्वस्मिन् सूत्रे तेजोमाध्यमेन प्राणस्य जीवसंयोगः। तत्रेदं विचार्यते । किमेकस्मिन् तेजसि उताहो सर्वेषु भूतेषु? अत आह–

"भूतेषु तच्छ्रुतेः।।४-२-५।।

सम्पूर्णेषु भूतेषु तेजोमयो प्राणो विलीयते। प्रमाणं च श्रुतिः" पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः।। ब्र० उ०४-४-५।। यथा भागवते–

पुरारथैहेमपरिष्कृतैश्चरन् मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः।
स एवं कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः।
(भा० १०-५१-५१)

सम्पूर्णेषु च भूतेषु प्राण एव विलीयते।
पृथ्वीमयेत्यादि श्रुतेरेवमेवानुशासनम् ।।श्रीः।।

ननु येषु भूतेषु क्रमेण संयोगः? वा एककालम्? अत आह-

"नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।।४-२-६।।

एकस्मिन् न हि सर्वेषु । किं प्रमाणं? दर्शयतः द्वे श्रुती प्रमाणं दर्शयतः। यथा छान्दोग्ये-"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि ।। तासां त्रिवृतं त्रिवृतकैकस्य करवाणि ।(छा०उ० ६-३२,३)

इत्थं स्मृति रपि यथा तत्रैव विष्णुपुराणे-

"नाना वीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहति विना ।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः।।
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः।
महदाद्याविशेषान्तां ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ।
(वि०पु०१-२-६२,६३)

यथा भागवते-

त्रित्ये हुत्वाय पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमत्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ।
(भा०१-१५-४२)

एकस्मिन्नैवकाले तु प्राणो भूतेषु लीयते ।
तथैव तत्प्रमाणे ते श्रुतिद्वय निदर्शने ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिकरणं भूताप्यय निदशेनम् ।
व्याख्यातं रामभद्रेण श्रौतसिद्धान्त पूर्वकम् ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथासृत्युपक्रमाधिकरणम् ।।

ननु अब्रह्मविदामिव किं ब्रह्मविदामपि उत्क्रामणं भवति, न वा? इत्यत आह-

"समाना चासृत्युपक्रमादमृ वतत्वं चानुपोष्य ।।४-२-७।।

आसृत्य उपक्रमात् नाडीप्रवेशनाद्धतोः द्वयोरपि उत्क्रान्तिः समानो । तद्यथा नाडी प्रवेशनं कठोपनिषदि-"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।(क०उ० २-३-१६), अत्र "तयोर्ध्वमायन् अमृतत्वमेति" इति निर्देशेन उत्क्रमणात् पूर्वं अमृतत्व प्राप्तिः। अथ अमृतत्वोत्क्रमणे विरुद्धधमाणि कथमुपपद्यते? इति चेच्छ्रूयताम् ! अमृतत्वं नाम भयरहितत्वम् । इति प्राञ्चः। नव्यास्तु "मृङ् प्राणवियोगे" इति धातोः भाव क्तं प्रत्ययान्त नञ घटितोऽयंशब्दः, प्राणवियोगराहित्ये पर्यवस्यति । जीवात्मनश्च प्राणो भगवानेव, "अत एव च प्राण" (ब्र० सू० १-१-२४), "प्राणास्तथानुगमात्" (ब्र० सू० १-१-२८), "स उ प्राणस्य प्राणः" केन०१-२, इति सूत्र श्रुति प्रमाणात्। "अथ मर्त्योऽमृतो भवति" (कठ० २-३-१४) इत्यत्रापि स एवार्थः।

यथा "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।(कठ०२-३-१४) कामानां प्रमोकादेव मर्त्यस्यामृतत्व प्राप्तिः। अमृतत्व प्राप्तौ शरीरं नापेक्षत अति भावः। अत आह "अमृतत्वं चानुपोष्यं" आनुकूल्येन अमृतत्वं परब्रह्म भावं स्वीकृत्य ।। उपक्रमानुरोधेन समाना चासृतिर्द्वयोः। अमृतत्वं चानुपोष्य द्वावितो गच्छतो ध्रुवम्।।श्रीः।।

सपक्षं दृढयाति-

"तदापीतेः संसारण्यपदेशात्।।४-२-८।।

एवं अमृतत्वं शरीरसम्बन्धापेक्षी तष्य अपीतिं मर्यादीकृत्यैव, संसारस्य व्यपदेशः "आङ्मर्यादावचने" इतिसूत्रेण आङ्योगे पञ्चमी मर्यादार्थकत्वादङो ङित्वेन न प्रगृह्यसंज्ञा अतो न प्रकृतिभावः। नन्वपीतिं मर्यादीकृत्य संसारण्यपदेशेगे किं मानं? ब्रूमः। श्रुतिमेव-"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।। (छा० उ० ८-१४-२।)

अत एवं अपीतेरनन्तरं संसाराभावात् संसारदशायामेव च तदमृतत्वोपपत्तेः उत्क्रान्तेः पूर्वमेव अमृतानुपोषणं युक्त्। यथा भागवते-

तदा नाहं हरेर्दासोलेकेत्वां न प्रर्वतये।

त्वदन्विताश्च ये जीवा भाविष्यन्ति कलाविह

(।।भा० १-२-९४)

यावच्चामृतपानं वै तावदेव जगत्क्रमः।
संसारभाव विक्षेदो ह्यमृतापोषणदनु।।श्रीः।।

ननु शरींर मन्तरेण ब्रह्म लोक गमनं कथमुपपद्येत? अतो ब्रह्मलोकगमक शरीरं वाच्यम्? पूर्वसूत्रे च अपीतिं मर्यादा कृत्यैव संसाण्यपदेशोक्तः इत्युभयतः पाशारण्धु? इत्यत आह

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।।४/२/९।।

सूक्ष्मं शरीरं तु भवत्येव कथं? उपलब्धेः। उपलभ्यते ननु साकल्पनाभवेत्? अत आह प्रमाणतः। न हि कल्पनामात्रम् श्रौतं प्रमाणमपि कौशीतिकि ब्रह्मणि चन्द्रमसा सह ब्रह्मलोक गामिनः संवादः उक्तः। स शरीरमन्तरेण कथं घटेत? यथोक्तं भागवते-

जीवोह्यस्यानुगो देहोभूतेन्द्रियमनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः।।

(भा०३-३१-४४)

उपलब्धे श्रुतेश्चैव प्रमाणस्यानुरोधतः।
कौशीतिक्या शरीरं तत् सूक्ष्मं ब्रह्मायनं विदुः।।श्रीः।।

विषयं स्पष्टयति-

नोपमर्देनातः।।४/२/१०।।

अतः अस्माद्धेतोः यदासर्वे प्रमुच्यन्ते। इति श्रुतिः अस्य सूक्ष्मशरीरं नोपमृदनाति। तथा केवलं हृदिस्थाःकामाः एवं उपमृद्यन्ते तथाहि यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाऽयेष्य हृदिश्रिताः।। अथ मृर्त्योऽमृतोभवत्यत्र कामानां सद्‌भावेन ब्रह्म शमश्नुते। (का०२/३/४) कामनां सद्भावेन ब्रह्मरूम्पत्तिः। अत एव प्राह जगद्‌गुरू श्री मदाद्य रामामानन्दाचार्य प्रशिष्यः श्रीमतुलसीदास महाराजः--

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम तहँ राम।

तुलसी नहिं दोक रहे, रवि रजनी इक ठाम। यत्रास्ति कामो नहि तत्र रामो यत्रास्ति रामो नहि तत्र कामः। नह्येक काले भवतः कदाचित् दिवाकरश्चापि तथैव रात्रिः।।

यथोक्तं भागवते--

नमोनमः कारण विग्रहाय स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्गनिगूढनित्यानुभवायतुभ्यम् ।।

(भा० ५-१२-१)

अस्मादेव प्रमाणात्तु सूक्ष्मदेहस्य न क्षतिः।
हृत्स्थनामेव कामानां उपमर्दः प्रजायते ।।श्रीः।।

अथोपपत्तिमाह--

अस्यैव चोपपत्तेरुष्मा।।४/२/११।।

अस्यैव सूक्ष्मशरीरस्योपपत्तेः शरीरे उष्मोपोलभ्यते। यदि एतया श्रुत्या कामोपमर्दिन सूक्ष्म शरीरस्यापि उपमर्दः स्यात् तदोष्मा नोपलभ्ये ।

यदि श्रुत्या तया सूक्ष्मशरीरमुपमृद्यताम् ।
तदूष्मा ह्युपलभ्येत कथं देहे शरीरिणः।।श्रीः।।

ननु बृहदारण्यके ब्रह्मविदः उत्क्रान्तिनिर्षिध्यते इह च भवता कथं तस्योत्क्रमणं विरुदं प्रतिपाद्यते? तद्यता-तस्माल्लोकत्युनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति तु कामंयमान (छा०४/४/६)

अन्या च ब्रह्मविदः कृतेअथाकामयमानो योऽकामोवष्काम आप्रकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्मात्येत्ति।। (बृ०४/४/६) इत्यत आह-

प्रतिषेधादिति चेत्र शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्।।४/२/१२।।

प्रतिषेधात् न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इति निषेधाद्धेतोः न ब्रह्मविदः शरीरोत्क्रान्तिः इतिचोत् तत्र। शारीरात् प्राणोत्क्रान्ति प्रतिषेधः। यत्तदोर्नित्यसापेक्षत्वात् योऽकामयमानः इत्यंनेव संगृहीतः जीवात्मैव तच्छन्देन परामृश्यन्त। एवञ्च तत्र षष्ठ्यपादाने तस्मादित्यर्थे यन्तु केचिन्नटस्य गाथा श्रृणोति इतिवदत्र षष्ठी इत्युदाजह्रुः। तदसंगतम् । तत्र तु आख्यातोपयोगे इत्यज उपयोगे किं नटस्य गाथां श्रृणोति? इति प्रत्युदाहरण तत्र वस्तुतो नापादाता। नटसम्बन्धिनीं गाथां श्रृषोति इह नापायावधिभूतत्वं नरे तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इत्यंत्र तु विश्लेषायरपरपर्यायः अयः सुष्यष्ठ एव । अतः "विवक्षाधीनानि कारकाणि भवक्ति" इति नियपमादेवात्र सम्बन्ध विवक्षाने। मातुः स्मरति इत्यादिवत् । अतएव माध्यान्दिनः मत तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्ति । इत्येव पठन्ति । तत् पदेन च शरीरमेव परामृशन्ति अयमेव समयः माध्यन्दिननां एकेषां स्पष्टः।।

जीवात्मनस्तु प्राणानामुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते।
इत्येव तत्र सुस्पष्टं एकेषा पाठकस्तथां ।।श्रीः।।

स्मृतिमपि समुदाहरति--

स्मर्यते च ।।४/२/१३।।

तथा चाह भगवान् याज्ञवल्क्यः--

उर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमितिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ।। (याज्ञ वल्क्य अ० प्र० १६७) इत्थं स्मृत्यनुरोधात्। स सूक्ष्मशरीरस्य जीवात्मनः ब्रह्मलोक गमनम् । यथोक्तं भागवते--

पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणंहृदुरःकण्ठमूर्धसु ।
आरोप्यब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्मनीत्वोतसृजेत्तनुम् ।।

(भा०११-१५-२४)

याज्ञवल्क्यादयश्चान्ये स्मृतिकाराः स्मरन्त्युत ।
सूक्ष्मदेहेन जीवात्मा ब्रह्मलोकं प्रगच्छति ।।श्रीः।।
अधिकरणम्मयाचैतत् जीव ब्रह्मगति प्रति ।
रामभद्रेण च प्रोक्तं रामभद्राघ्रिं भक्तये।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ परसम्पत्यधिकरणम्

ननु जीवात्मभूतसूक्ष्माणि किं फलभोगाय तत् तत् स्थानेषु भवन्ति । उताहो ब्रह्मणि लीयन्ते? अत आह-

तानि परे तथा ह्याह।।४/२/१४।।

तानि स जीवभूतसूक्ष्माणि परे परस्मित् ब्रह्मण्येव लीयन्ते । तथैव श्रुतिरप्याह - गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवातसु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्येय सर्व एकीभवन्ति।। (मु१३/२/७) एवं श्रुत्यनुरोधेन स जीवात्मानिभूतानि सर्वाणि परस्मित् ईश्वरे लीनानिभवन्ति ।।

जीवात्मना च भूतानि सूक्ष्मदेहे युतान्यनु।
परब्रह्मणि लीयन्ते एकीभूतानि चाऽव्यये।।श्रीः।।

इदञ्चैवाधिकरणं जीवभूताप्ययात्कम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण प्रोक्तं प्रीत्यै जगत्पतेः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथाविभागा धिकरणम्

किमियं सम्पत्तिः विभागरूपाः अविभागरूपा वा? अत आह--

अविभागो वचनात् ।।४/२/१५।।

अविभागः विभागावर्हता । अस्पष्ट विभागो वा,कथम्?वचनात् । "न च पुनरवर्तते न च पुनरावर्तते" इति वचनात् यद्गत्वान निवर्तन्ते तद्धाम परमं" मम ।। (गीता १५/६) इति स्मृतेश्च इयमेव सायुज्यमुक्तिः। यथा भागवते -

अन्यापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।
अयं हि परमोलाभो नृणां साधुसमागमः ।।

(२-१०-७)

प्रविश्य ब्रह्म जीवात्मा नामरूपे च लौकिके ।
विमुच्य नार्हति ह्येष विवेक्तुं श्रुतिशासनात्।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं ब्रह्मसायुज्य बोधकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण बुधप्रीत्यै प्रभाषितम्।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ तदोकोधिकरणम।।

ब्रह्मसूत्रेषु द्राघिष्ठसूत्रमेतत् । विदुषोऽविदुषश्च समावायामुत्क्रान्तौ कश्चत विशेषो नाडीण्क न वा तथा च श्रुतौ - शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका । तयोर्ध्वमयन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्य्या उत्क्रमणे भवन्ति । (कठ०२/३/१६) इति श्रुतौ । अन्वयानुसारं अस्य जीवस्य हृदये शतं एका च नाड्यः भवन्ति । तासां नाडीनां मध्ये एका मूर्धानं अभिनिःसृता । सैव सुषुम्ना तया सुषुम्नया ऊर्ध्वं आयन् ब्रह्मलोकं गच्छन् विद्वान् अमृतत्वमेति । अतो हेतोः ज्ञतृ प्रत्ययः। अविदुषस्तु उत्क्रमणे विष्वङ्व्या भवन्ति । अति श्रुत्यर्था । इत्येनन ब्रह्मविदः कृते सुषुम्ना मूर्धन्या नाडी। अन्येषां या काचिदपि । तत्र जिज्ञास्यते । ब्रह्मविद् कथं अवगच्छति? इत्यत आह -

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्या सामर्थ्यात्तच्छेष-गत्यानुस्मृतियोगाच्च हार्दानुग्रहीतः शताधिकया ।।४/२/१६।।

अंग्रेज्वलनंयस्य। तदग्रज्वलनम् । एवं भूतो भवति तस्य ब्रह्मविदः ओकः हृदयस्थानम् । एवं हार्दानुगृहीतः ह्राद अयं हार्दः। हृदि दृष्टः हार्दः। हृदयस्थः परमात्मा अन्तर्यामी । तेन हार्देन अन्तर्यामिणा भगवता अनुगृहीतः कृपा पात्रतां नीतः सन् विद्यासामर्थ्यात् ब्रह्मविद्यायाः अनुस्मृतियोगाच्च सामर्थ्यगम् तच्छेषस्य भगपत्सेवकस्यगतेः अपस्थायाः यद्वा गतिः मोक्षः। अनुस्मृतिः भक्तिः । तच्छेषस्य भगवत्किंकरस्य गत्यनुस्मृतिभ्यां योगात् तत्प्रकाशितद्वारः त एव ब्रह्म विद्यया प्रकाशितं सुषुम्ना नाडी द्वारं यस्य येन वा एवम्भूता शताधिकया । शतत् अधिका शताधिका तथा शताधिकया । यद्वा कं शिरः अध्यारूढा इति अधिगा । शतस्यापि अधिका शताधिका । त एव गच्छति । इह तच्छेष शन्द एव जीव ब्रह्मणोः शेषशेषि भावं ज्ञापयति । यथा भागवते -

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपापार्यै ।
परिभ्रमंस्तग न विन्दतेऽर्थान् मायामये वासनया शयानः।।

(भा०२-२-२४)

लब्ध्वा दिव्यमनुग्रहं भगवतो ह्योकः प्रकाशोन्मुखम् ।
ज्ञात्वा श्री रघुनाथ सेवकवरो विद्याक्षमत्वादिह।।
द्वारण्येव विभाषितानि च तया भक्त्या च मुक्त्यान्वितः।
गच्छत्येव सुषुम्नया प्रमुदिस्तद् ब्रह्मलोकं परम् ।।श्रीः।।
इञ्चैवाधिकरणं सुषुम्नानाडिकाश्रितम् ।
विद्वानहं रामभद्रः समाख्यं स्वान्तः तुष्टये।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ रश्म्यनुसाराधिकरणम्

ननु सुषुम्ना नाड्या जीवः केन सूर्यं नीयते? इत्यत आह-

रश्म्यनुसारी।।४/२/१७।।

रश्मयः सूर्य किरणः। तान् अनुसरति तच्छीलः इति रश्म्यनुसारी । सुषुम्नया वाड्योर्ध्वं गच्छन् सूर्यस्य एतैरेव रश्मिभिः सूर्यमभिनीते । जीवः तन्मण्डलं भित्वाकेन चिदमानवेन वैष्णवपार्षदेन हनुमता श्रीरामरूपं ब्रह्म प्राप्यते। तथा चाह श्रुतिः -

अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रमत्य एतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते।। (छा०८/६/५)।।

नीयामानः स किरणैर्द्योतमानैर्विवश्वतः।
आदित्यमण्डलं भित्वा ब्रह्मलोकं स नीयते।।श्रीः।।

अथ दिने एव मृतः ब्रह्मवित् सूर्यरश्मिभिः सूर्यं प्रतिनीयेत, रात्रौ सूर्यरश्मीनांभवात् कथं नीयेत? इमां शंका परिहरति-रश्मिसंबंधस्य यावद् ब्रह्मप्राप्ति-उपयोगि शरीरं सद्भावात् इदमेव सूत्रयति -

निशिनेति चेत्र सम्बन्धस्य यावद्देहभाविद्दर्शयति च ।।४/२/१८।।

अज श्रुतिरपि प्रमाणम् अमुष्मादादित्यप्रतायान्नेता आसु वाडीसु सृप्ता आम्योनाडीम्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः । (छा० ८/६/२)

रश्मिभावात्तथा रात्रौ नेतव्यं नोपपद्यते ।
नेत्थं यावच्छरीरं हि रश्मिसद्भाव दर्शनात् ।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणं सूर्य रश्मि प्रसंग्रहम् ।
गीतं श्री ब्रह्मसूत्रेषु रामभद्रेण वाग्मिना ।।

अथ दक्षिणायनाधिकरम

ननु दक्षिणायने यो म्रियते तस्य न ब्रह्मवाप्तिः? अत एव भीष्मादीनां उत्तरायण प्रतीक्षापि संगच्छते । तथा च श्रुतिः - अथो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चंद्रमसस्यायुज्यं गच्छति (तै० ब्रा० ५/२१) इत्यत आह-

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।।४/२/१९।।

सम्बन्धस्य भावदेहभावेदयादेय दक्षिणायने म्रियमाणेऽपि ब्रह्म प्राप्नोत्येच।।

दक्षिणेमियूमाणेऽपि यावद्देह निबन्धनम
ब्रह्मलोकमवाप्नोति विद्यावैशिष्ट्यभोगतः ।।श्रीः ।।

ननुतर्हि गीता वचन विरोधः। इह सूत्रे मुमूर्षूणां कालाभावो वर्ण्यते स्मृतौ च दक्षिणायने मृतानां पुनरावृत्तिः । उत्तरायणे मृतानामपुरावृत्तिः? तथाहि - अगिन्र्ज्योतिरहः 'शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् तत्र प्रयाता गच्छत्ति' ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।। धूमें रात्रिस्तथा तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राय

निवर्तते शुक्लकृष्णेतीह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्रि मन्यया वर्त तेपुनः।। नैते सृती पार्थ जानन् योगी महोयंति कश्चन । तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। (गीता ८/२४-२५-२६-२७।।) इति पूर्वपक्षे उपस्थिते आह

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते।।४।२।२०।।

चकारः विषयभेदनिर्देशार्थः । उभयत्र विषय भेदः । द्वाभ्यां मार्गाभ्यां ब्रह्मलोक प्राप्तिः ज्ञानणर्नोण योगमार्गेण च। गीतासुयोगमार्गस्य काल विर्देशः। श्रुतिषु ज्ञान मार्ग भावना निर्देशः कालः परिच्छिेन्नों भवति। भावस्य परिच्छिन्नः। नवु कथमिदमगम्यते?यत्तत्र विषयभेदः उपक्रमोपसंहाराम्याम् ।। उपक्रमें त्रयोविंशे योगि सम्बन्धिकालस्य स्मरण्म् । न तु ज्ञान सम्बान्धि कालस्य। यथा- "यत्र काले त्वनावृत्ति मावृर्ति चैव योगिनः प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।। (गीता ८।२७) उपसंहारे च नैते सुतीपार्थजानन योगी मुह्यतिकश्चन (गीता ८/२७) तस्मान् एते स्मार्ते स्मतिप्रोक्ते वचने योगिनः प्रति योगिनां कृते काल निर्देशाय भगवता स्मर्येते। यथा भागवते-

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः।

(।।भा.१-९-२९)

अयने च स्मृते द्वे वै कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
योगिनः प्रति कालाढ्ये नैव ते ज्ञानिनां क्वचित् ।।श्री।।
इदञ्चैवाधिकरणं योगिकाल विनिर्णयम् ।
धीमता रामभद्रेण भक्तिं भगवद्धिया ।।
द्वितीयस्तु मया पादश्वतुर्थाध्याय गोचरः।।
श्री राघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

इति श्रीमज्जागद्गुरुरामानन्दन्नाचार्यस्वमिरामभद्राचार्यकृतौ ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभा ब्रतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः।।

तृतीयः पादः

पादाम्बुज नख ज्योत्सना भग्न भक्त तृतीयकम् ।
सीतातृतीयं तमहं तृतीये राममाश्रये।।

एवं द्वितीयं पादे जीवोत्क्रान्तिं निरूप्य अथ तृतीय अर्चिरादिमार्गो व्याख्यायते। मूर्धानं नाड़ीमतिक्रम्प रशिभिर्नीयमानस्य ब्रह्मविदः अर्चिसदिमार्गः। तत्र च श्रुतयोऽपि पञ्चषैः मार्गभेदपक्षौ सह विप्रतिपद्यन्ते । यथा छान्दोग्ये - तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः (छा०५/१०/१) जावालोपनिषदि - अथैतैरेव रश्मिरूर्ध्वमाक्रमते (धा०८/६/५/) तथा च वृहदारंण्यके" यदा वै पुरुषोऽस्थालोकात्प्रैति स वायुमागच्छति । (५/१०/१) "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याम्निलोकमागच्छति स वायु लोकं सवरुण लोकं स आदित्य लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स व्रह्मलकम (कौ०१/३) एवमेव मुण्डके" सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति (मु./१/२/११/) एवं विप्रति पन्नासु श्रुतिषु निर्णीयते-

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।।४/३/१।।

अर्चिशदिमार्गेनैव ब्रह्मविद् ब्रह्मलोक गच्छति । हेतुमाह - तत्प्रथितेः । तंस्यैव मार्गस्यानिकासु श्रुतिषु प्रथितेः उक्तेः। प्रथितैः प्रसिद्धेर्वा । अन्याषामपि भिन्नत्वेन भासमानानां अर्चिर्मार्ग एवोपसंहारो बोध्यः।।

ब्रह्मलोकं प्रयात्येवमर्चिर्मार्गेण ब्रह्मवित् ।
तथा भूत प्रसिद्धेश्च श्रुतीनां तत् समन्वयात् ।।श्रीः।।
प्रथमञ्चाधिकरणं तृतीयेऽस्मिन् चतुर्थके ।
मतिमान् रामभद्रोऽसौ व्याख्याद् विद्वत्प्रमोद कृत।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ वरुणाधिकरणम्

इदानीं अर्चिरादिमार्गे श्रुतिषु भासमानं क्रमभेदमाश्रित्य पूर्वपक्षः । यथा छान्दोम्ये - मासेम्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम् (छा० ४/१५/५) मासेभ्योदेवलोकं देवलोकादित्यम् (वृ० ०/६/१५) अत उत्तरयति-

यदापै पुरुषास्याल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति (पृ०५/१०/१)

वायुमब्दाद विशेष विशेषाभ्याम् ।।४/३/२।।

निवर्तते शुक्लकृष्णेतीह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्रि मन्यया वर्त तेपुनः।। नैते सृती पार्थ जानन् योगी महोयति कश्चन । तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। (गीता ८/२४-२५-२६-२७।।) इति पूर्वपक्षे उपस्थिते आह

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते।।४।२।२०।।

चकारः विषयभेदनिर्देशार्थः । उभयत्र विषय भेदः । द्वाभ्यां मार्गाभ्यां ब्रह्मलोक प्रापिः ज्ञानणर्नोण योगमार्गेण च। गीतासुयोगमार्गस्य काल विर्देशः। श्रुतिषु ज्ञान मार्ग भावना निर्देशः कालः परिच्छिेन्नों भवति। भावस्य परिच्छिन्नः। नवु कथमिदमगम्यते?यत्तत्र विषयभेदः उपक्रमोपसंहाराम्याम् ।। उपक्रमें त्रयोविंशे योगि सम्बन्धिकालस्य स्मरणम् । न तु ज्ञान सम्बान्धि कालस्य। यथा- "यत्र काले त्वनावृत्ति मावृर्तिं चैव योगिनः प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।। (गीता ८।२७) उपसंहारे च नैते सुतीपार्थजानन योगी मुह्यतिकश्चन (गीता ८/२७) तस्मान् एते स्मार्ते स्मतिप्रोक्ते वचने योगिनः प्रति योगिनां कृते काल निर्देशाय भगवता स्मर्येते। यथा भागवते-

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः।

(।।भा.१-९-२९)

अयने च स्मृते द्वे वै कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
योगिनः प्रति कालाढ्ये नैव ते ज्ञानिनां क्वचित् ।।श्री।।
इदञ्चैवाधिकरणं योगिकाल विनिर्णयम् ।
धीमता रामभद्रेण भक्तिं भगवद्धिया ।।
द्वितीयस्तु मया पादश्वतुर्थाध्याय गोचरः।।
श्री राघवकृपाभाष्ये ब्रह्मसूत्रेषु भाषितः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

इति श्रीमज्जागद्गुरुरामानन्दन्नाचार्यस्वमिरामभद्राचार्यकृतौ ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपाभा ब्रतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः।।

तृतीयः पादः

पादाम्बुज नख ज्योत्सना भग्न भक्त तृतीयकम् ।
सीतातृतीयं तमहं तृतीये राममाश्रये।।

एवं द्वितीयं पादे जीवोत्क्रान्तिं निरूप्य अथ तृतीय अर्चिरादिमार्गो व्याख्यायते। मूर्धानं नाड़ीमतिक्रम्प रशिभिर्नीयमानस्य ब्रह्मविदः अर्चिसदिमार्गः। तत्र च श्रुतयोऽपि पञ्चषैः मार्गभेदपक्षौ सह विप्रतिपद्यन्ते । यथा छान्दोग्ये - तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः (छा०५/१०/१) जावालोपनिषदि - अथैतैरेव रश्मिरूर्ध्वमाक्रमते (धा०८/६/५/) तथा च वृहदारंण्यके" यदा वै पुरुषोऽस्थालोकात्प्रैति स वायुमागच्छति । (५/१०/१) "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याम्निलोकमागच्छति स वायु लोकं सवरुण लोकं स आदित्य लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स व्रह्मलकम (कौ०१/३) एवमेव मुण्डके" सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति (मु./१/२/११/) एवं विप्रति पन्नासु श्रुतिषु निर्णीयते-

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।।४/३/१।।

अर्चिशदिमार्गेनैव ब्रह्मविद् ब्रह्मलोक गच्छति । हेतुमाह - तत्प्रथितेः । तंस्यैव मार्गस्यानिकासु श्रुतिषु प्रथितेः उक्तेः। प्रथितैः प्रसिद्धेर्वा । अन्याषामपि भिन्नत्वेन भासमानानां अर्चिर्मार्ग एवोपसंहारो बोध्यः।।

ब्रह्मलोकं प्रयात्येवमर्चिर्मर्गेण ब्रह्मवित् ।
तथा भूत प्रसिद्धेश्च श्रुतीनां तत् समन्वयात् ।।श्रीः।।
प्रथमञ्चाधिकरणं तृतीयेऽस्मिन् चतुर्थके ।
मतिमान् रामभद्रोऽसौ व्याख्याद् विद्वत्प्रमोद कृत।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ वरुणाधिकरणम्

इदानीं अर्चिरादिमार्गे श्रुतिषु भासमानं क्रमभेदमाश्रित्य पूर्वपक्षः । यथा छान्दोम्ये - मासेम्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम् (छा० ४/१५/५) मासेभ्योदेवलोकं देवलोकादित्यम् (वृ० ०/६/१५) अत उत्तरयति-

यदापै पुरुषास्याल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति (पृ०५/१०/१)

वायुमब्दाद विशेष विशेषाभ्याम् ।।४/३/२।।

संवत्सरपरमः न तु मेघपरकः। अविशेष विशेषाभ्याम् ।

छान्दोग्ये देवलोके नाविशेषात् , वृहदारण्यके वायुममिगच्छति इति विशेषाच्च। निर्णीयतेः यदब्दात्। संवत्सराद्ध्र्व वायुमेव गच्छति । अतः तत्र देवलोक शब्दस्य देवस्य वायोर्लोकः देवलोका इत्यर्थः करणीयः।

अविशेष विशेषाभ्यां सम्वत्सरमतित्यजन् ।
ब्रह्मलोकं ब्रजन् ज्ञानी वायुमेवाभिगच्छति ।।श्रीः।।
इदम्यैवाधिकरणं वायोर्गमन सूचकनसामर्थ्यगम् ।
श्रीराम भद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये श्रुतेः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ वरुणाधिकरणम्

अर्चिरादिमार्गे श्रूयते कौशीतकि ब्राह्मणे - स एवं देवयानं पन्थानमापधामिन लोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् (को षी०. १/३) तत्र जिज्ञास्यते यद् वरुणस्य क्व निवेशः -

वायो रनन्तरं तडितोऽनन्तरेवा । यद्यपि तडितोऽनन्तर मेव अमानवः पुरुषः एवान् ब्रह्मलोकं गमयति श्रूयेत? इति विचिकित्सायां आह–

तडितोऽधि वरुणः सम्वन्धात् ।।४/३/३।।

विद्युता सह वरुणस्य जल वृष्टि दृष्ट्या धार्य़धारक भाव सम्बन्धात् नियम्यनीयामकभाव सम्बन्धाच्च तत्र तडिदनन्तर मेव वरुणस्य पाठः। एवं तडितोऽधिवरुणं प्राप्य ब्रह्मवित् तत्रागतेन नामानवेन पुरुषेण ब्रह्मलोक गम्यते ।।

धार्य धारकभावस्य तडितो वरुणेच च ।
सम्बन्धस्यात्र क्लृप्तत्वात् वरुणो तडितामधि।।श्रीः।।
वरुणच्चाधिकरणं व्याख्यातं भक्तितोमया ।
श्रीरामभद्राचार्येण ब्रह्मलोक जिगीषका ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथतिवाहिकाधिकरणम्

किमेतेऽर्चिरादयः मार्ग भेदविशेषाः लोकिक निर्देशात् अथवा देवता भूता इमे अग्नि लोकादिश्रवणात् अथवा आतिवाहिक? इत्यत आह–

अतिवाहिकास्तल्लिंगात् ।।४/३/४।।

अति वहनमति कहः प्रापणम्। स एव प्रयोजन मेषां य्यतिवाहिकाः। इमे वावादयः अतिकहिला देवता एव भगवत् परिकर विशेषः। कथम् ?तल्लिंगात्। स एवान् ब्रह्मलोकं गमयति इति गमयितृत्वस्य पूर्वेषूपसंहरणात् गमयितृत्वञ्च आतिवाहिकेष्वेव न देवतासु न वा पथिसु ।

आतिवाहिकनामानो वायुप्रभृतयः सुराः।
भगवत् किङ्कराः सर्वे ब्रह्मलोक सह्मयकः।।श्रीः।।

इमे ब्रह्मयावद् गमयन्ति उताहो मध्ये त्यजन्ति ? इत्यत आह–

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।।४/३/५।।

इमे वरुणादयः अतिवाहिकाः निर्धारित सीमानं प्रापयन्ति । अनन्तरममानवः पुरुषः हनुमानास्य जीवं असीमं पन्थानं अतिक्रम्य ब्रह्मलोकं साकेताख्यं गमयति– तच्छ्रुतेः। स कुत आगच्छति । इत्यत आह– वैद्युतेन। विद्युतिभवः वैद्युतः, वस्तुतः विद्युत् सीता तस्या अयं वैद्युतः तेन वैद्युतेन ।

वायु प्रभृतयः सर्वे नयन्तो जीवमोजसा ।
वैधुतं लोकमासाद्य निवर्तन्ते ततस्त्विमे।।श्रीः।।

उमयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ।।४/३/६।।

- एवं यद्यर्चिरादिशब्दैः ज्योतिः देवता वा स्वीक्रियेत तदा उभयो र्व्यामोहेब्र व्रह्मपदं प्राप्ष्येते एवं नहि । अतः तत्प्रायनाय तेषामाति वाहिकत्व सिद्धेः आतिकहिकत्व आवश्यकमेव । सूत्रं अवचित् द्वित्रेषु भाष्येषु नास्ति तथापि । बहुत्र सत्वात् मयापि इदं गृह्यते ।

ज्योतिष्ट्वादर्चिरादित्वात् व्यामोह उभयोरपि ।
आतिवाहिक भावस्तु ब्रह्मलोकाय सिद्धयति।।श्रीः।।

अधिकरणम्मया चैतत् व्याख्यातं हनुमत्परम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण बुद्धया वैष्णव हर्षकृत्।।'

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ कार्याधिवणम्

अथ दशभिः कार्याधिकरणं निरूप्यते एवमर्चिरादिमार्गं गच्छतो ब्रह्मविदः किमिमें आतिवाहिकाः प्रत्यगात्मानं प्राणयन्ति हिरण्यगर्भं वा। उताहो पर ब्रह्म? इति जिज्ञासिते वादरेर्मतमनु वदति बादरायणः –

कार्यं वादरिरस्य गत्युपत्तेः ।।४/३/७।।

वादररिकाचार्यः अस्य जीवस्य गतेरूपपत्तेः गन्तव्यत्वेन हिरण्य गर्भ 'कार्य' ब्रह्म आह । अतैव शतेरूपपन्तिः। प्रजापतेर्वेश्म ब्रह्मसभां प्रपद्ये इति श्रुतेभ्य ।

उपपन्तोर्गतेर्तस्य जीवस्य प्रत्यात्मनः।
हिरण्यगर्भावाप्तेश्च वादरिर्मतमब्रवीत्।।।श्रीः।।

एवं अपरं हेतुमाह–

विशेषितत्वाच्च।।४/३/७।।

विशेषितत्वमपि अस्यैव वर्तते । तथाहि पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति । इह ब्रह्मलोकान् इति द्वितीया बहुवचनान्तम्। तत्र च षष्ठी समामः । आदारार्थे कहूम्तिः । ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य लोकाः तान् ब्रह्मलोकान् इति श्रुतिः हिरण्यगर्भ लोकमेव विशिन्ष्टि । अतो ब्रह्मविदः हिरण्यगर्भ एव गन्तव्य् ।

ब्रह्मणोलोकमेवास्य गमनं श्रुतिरब्रवीत् ।
विशेषितत्वात्तस्यैव इति श्रौतविनिर्णयः।।श्रीः।।

अथ यदि विशेषत्व हेतुना ब्रह्मलोकशब्देन हिरण्यगर्भलोको गम्यते? तर्हि स एवाक् ब्रह्म गमयति इत्येन्न विशेषणाभावगत किं गमयिस्यते? इति जिज्ञासायामाह– हिरण्यगर्भ एव कथम्? अतः सूत्रयति

सामीयातु तद्व्यपदेशः।।४/३/८।।

ब्रह्मलोक सामीप्यात् ब्रह्मणः ब्रह्मलोक व्यपदेशः। यथा तटस्य गंगा सामीप्यात् तस्मिन्ने गंगायां घोषे इति व्यवेदेशः ।

ब्रह्म लोकस्य सामीप्यात् ब्रह्मणोलोकमिष्यते ।
गंगा समीते तीरस्य गंगायामिति शब्दवत् ।।श्री।।

एवमेव अग्रिम व्यवस्थामाह–

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।।४/३/९।।

कार्यस्य अत्यये ब्रह्मलोकस्य विनाशे तदध्यक्षेण ब्रह्मलोकस्य स्वामिवा हिरण्यगर्भेण चतुर्मुखे सहैव अतः परं वर ब्रह्मणि एव लीयन्ते । इयं कल्पना । किमाधारा? इत्यत आह–

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः सन्यास योगाद्यतयः शुद्ध सत्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे (मु०३/२/६।।)

हिरण्यगर्भध्वंसे तु तदध्यक्षेण हंसिना ।
साकं जीव पर ब्रह्म लयमायाति साध्वसा ।।श्रीः।।

एवं पौराणिकी स्मृतिरपि–

स्मृतषु।।४/३/१०।।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रति सञ्च। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् (।।कू० पु०१ख०१२/२६७) चकारात् श्रुति रपि । हिरण्यगर्भः समबवर्तत ताग्रे । भूतस्यजातः पतिरेक आसीत ।

स्मृतयः श्रुतयश्चैव पुराणानि तथैव च ।
हिरण्य गर्भावाप्तिञ्च वदन्ति प्रत्यगात्मना ।।श्री।।

एवं पञ्चमिः पूवरूपक्षिते स्वाकुकूल्यं निजशियस्य जैमिनेर्मत मनुवदति–

परं जैमिनिर्मुख्यत्वत् ।।४/३/११।।

मुख्यत्वाद्धेतोः । अचिरा दगणः ब्रह्मविदं परं ब्रह्मैव गमयति । स एनान् ब्रह्मगमयति इति मुख्यय प्रयोगत् ।

मुख्यश्रुति प्रयोगाच्च जैमिनेर्मतमुत्तमम् ।
अर्चिर्गणो मानवोऽयं ब्रह्मलोकं नयत्यमुम् ।।श्रीः।।

अपरमणि हेतुमाह–

दर्शनाच्च ।।४/३/१२।।

एवं छान्दोग्ये श्रुतिरपि- एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनं रूपेणामिनिष्पद्यते (छा०८/३/४।।) इत्यत्र परब्रह्म अभिसंपद्यते इति परं ब्रह्मभिसंपत्तेः दर्शनादपि । ब्रह्मविदः ब्रह्मैव प्राप्नुवन्ति ।।

छान्दोग्ये दर्शनाच्चैव ब्रह्मसम्पत्तिरिष्यते ।
ब्रह्मसाक्षात्कृतस्तस्य जीवस्य विदितात्मन ।।श्री।।

लिकञ्च अपरामनुपयत्ति माह-

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ।।४/३/१३।।

यञ्च "प्रजातेर्वेश्म ब्रह्मसभां प्रपद्ये" इति वाक्ये कार्य ब्रह्मणि प्रतिसन्धिः प्रकल्पितः सोऽपि वोचितः। कथम्? प्रतिसन्धातुः सर्वात्मनः ब्रह्मचिन्तकस्य यशोऽहं भवामि ब्राह्मणसाम् इत्येव विभणत्ः न कार्य ब्रह्माणि सर्वात्मभावः । एवं जैमिनिर्मुनि साह ।।

कार्यस्य प्रतिसन्धिश्च नैवात्रैवोपपद्यते ।
तस्मिंश्च ब्रह्मभावानां उपपत्तिः कथं ननु ।।श्रीः।।

एवं जैमिनि मतमनूघ द्वाम्यां स्वमतं प्रस्तौति भगवान् वादरायणाचार्यो वेदव्यासः

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात् तत्क्रतुश्च ।।४/३/१४।।

प्रतीकनि वाण्यादीनि आलम्बन्ते इति प्रतीकालम्बना अप्रतीकालम्बनाः तान् अप्रतीकालम्बानान् न प्रतीकालम्बानाः। प्रतीका लम्बभिज्ञान् अर्चिकादिगणों ब्रह्मलोकं नयति ते द्विविधाः कार्य ब्रह्मोपासकाः परब्रह्मोपासकाश्चे । अत एव उभयत्र दोष सम्भावना । नियमे "परब्रह्मोपासकानां " श्रुतेर्व्याकोपः। "परब्रह्मभिसंपद्यते " इत्यादेः। अन्यपतर नियमे पञ्चाग्न्युपसकनां श्रुतेर्व्याकोपः। तस्मात् संकल्प एवात्र नियामकः। लोके कार्य ब्रह्मसंकल्पवान् तत् प्राप्नोति । परब्रह्म संकल्पवाश्च तत् ।अतः श्रुतिरपि- यथा- क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति (छा० ३/१४/३)

यथा संकल्पमाप्नोति कार्यब्रह्म सकामनः।
कामनाशून्यहृदयः परं ब्रह्माधिगच्छति।।श्रीः।।

विशेषञ्चदर्शयति।।४/३/१५।।

अथ कथं प्रतीकोपासकान् व ब्रह्मलोकं नयत्यर्चिरादिगणः? इत्यत आह- विशेषञ्चेति । तत्र प्रतीकोपासकानां श्रुतिः भिन्नं भिन्नं फलं वर्णयति । अतस्तत् तत्

फल विशेष शक्तत्वात् तथा भूत कृतमत्वाच्च सकाम कर्ता जीवो भ्रमत्येवास्मिन् संसारे ।।

विशेषं च श्रुति प्राह फलसकल्पवान सौ ।
कार्य ब्रह्म समाराध्य भ्रमेत् संसार सागरे।।श्रीः।।
इदञ्चैवाधिकरणमर्चिरादिनिवपकम् ।
पण्डितोऽसौ रामभद्राचार्यो व्याख्यन्मुदे सतम् ।
तृतीयश्चमया पादश्चतुर्थध्याय गोचरः।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

इति श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वामिरामभद्राचार्यकृतौ ब्रह्मसूत्रे श्रीराघवकृपा भाष्ये चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः।।

।। चतुर्थः पाद ।।

नमः सीतास्यताशु चकोराम्बकशलिने।
रामाय पूर्णकामाय ब्रह्मणे वनमालिने ।।

पूर्वपादे अर्चिरादिमार्ग उक्तः साप्रतं अर्चिरादिमार्गेण ब्राह्मीं दश मुपेयुषो जीवस्य सम्पदाविभावं निरूपयति । छान्दोग्ये श्रूयते–

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" तत्र किं देवतादिरूपेण उताहो केनचिद् विशिष्टेन? इति जिज्ञासायामा–

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ।।४/४/१।।

सम्पद्यते इति सम्पत् ।"सम्पदाभ्यिः कृप्" इत्यनेन भावे कृप्। तस्यां सम्पद् ब्रह्मसम्पत्तौ प्राप्तायाम् । अपहत पापमत्वादीनां तिरोहितचराणां गुणानां जीवात्मन् न्याविर्भावभवति । रूपं स्वमेव प्राप्यते 'स्व' शब्दस्यात्र आत्मीयार्थः। अर्थात् जीवात्माभगवतश्चतुर्भुजेन रूपेण संयोजिते, प्रमाणं शब्दात् "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० उप० १२-३-२)

राघवः प्राह अतएव अध्यात्मरामायणें जयो गच्छ मत्पदम् ।
इत्यक्त्वा मत्सारूप्यं भजस्वाद्य सर्वलोकस्य पश्यतः।।

ततोऽनन्तरमेवासौ दिव्यरूपधरः शुभः।
विमानवरमारुह्य भास्वरं भानुसन्निभम् ।।
शङ्खचक्रगदापद्म- किरीटवरभूषणैः -
द्योतयन्स्वप्रकाशेन पीताम्बरधरोऽमलः।।
चतुर्भिः पार्षदैर्विष्णोस्ताहृशैरभिभूजितः।
स्तयमानो योगिगणै राममभाष्य स्तवरः।।

(अ० रामायणे, ३-८-४०,४१,४२,४३)

यथोक्तं श्रीमन्मासे-

गीध देह तजि धरि ररि रूपा । भूषन बहु पटपीत अनूपा।।
श्याम गातविसाल भुज नारी। अस्तुति करत नयन भतिखाबारी

(मानस ३-३२-१,२)

रूपान्तरम्ः -गृहद्धरुपं खगस्त्यकत्वा धृत्वारूपं हरेरथ ।

बहभिर्भूषणैर्युक्तः पीताम्बर समावृतः।।
नेत्रयोर्जलमापूर्य स्तुतिं कर्तुं प्रचक्रमे ।।

एवं ब्रह्मसम्पत्तौ जीवात्मास्वेन वैष्णवेन स्वरूपेण समभिनिष्पद्यते इति निष्कर्षः।

जातायां ब्रह्मसम्पत्तौ आविर्भूत गुणाष्टकः।
शब्दादात्मस्वरूणेण परं ब्रह्मभिपद्यते।।श्रीः।।

कथमित्यत? आह-

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।।४/४/२।।

यतो ह्ययं सांसारिप्रपञ्चतो निर्मुक्तस्तस्मात् पाल्चभौतिकमन्नादकिोषमय भोगञ्चयतन क्षीणप्रारब्धकाशरीरं विहाय ब्रह्मविद्यासमजितेन स्वरूपेणाभिसम्पद्यते। हेतुमाहप्रतिज्ञानात् पूर्वमेव छान्दोग्य, "अपहतपाप्माविजरो विमृत्युः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।(छा० उप० ८-७-१) इति ज्ञानुरोधेन स्वान्वेष्प्रणयचिन्तनेन मुक्तोऽसौ जीवात्मति साम्प्रदमाविर्भूते गुणाष्टकः प्रभुपदपद्मपरागरसरसिकरोलम्बमानसो भगवत्कमलचरणपरिचरणलालसो विचकास्ति परमेश्वरनित्यकैङ्कर्यवान् ।।

संसारस्य प्रपञ्चेभ्यो जीवात्मा मुक्तिमीयते ।
प्रतिज्ञानुरोधेन नात्र कार्या विचारणा ।।श्रीः।।

ननु मुण्डकोपनिषदि "तदा विद्वान्पुण्यपापेविधूयनिरञ्जनःसाम्यं परममुपैति"

(मु० उप ३-१-३) इत्यने अग्रे च "तथा विद्वान् नामरूपत् विमुक्तः "(मु० २-२-८) इति मन्त्रेण ब्रह्मसम्पत्तौ जीवात्मनो श्रीगतिकनामरूपविमोकान्। का तस्य संज्ञा? किमकारः? इत्यत आह–

आत्मा प्रकरणात् ।।४/४/३।।

अष्टमखण्डस्य प्रकरणात् तस्य आत्मा इत्त्येव नाम व्युत्पत्तिश्च आदत्त परमात्मनो वात्सल्यादिकं स्वीकरोति यः स आत्मा।

नामरूपविमुक्तस्य ब्रह्मदर्शनमीयुषः।
आत्मेति संज्ञाजीवस्य प्रकर्णाद् वेदसम्मता।।श्रीः।।
प्रथमं चाधिकरणं मात्माभिर्भावाचकम्।
विदुषा रामभद्रेण भाष्यितं भक्तये हरेः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

अथ ब्रह्मसम्पत्तौ जीवात्मा कथं तिष्ठति? किं स्वस्वरूपं तस्मिन् विलाप्य तिष्ठति उताहो पृथक् सत्तया न तावत् स्वस्वरूपं विलाप्य "नित्यो नित्यानां न्चेतनश्चेतनानाम्" (कठ०२-३-१३) इति श्रुतिसिद्ध नित्यत्वानुपपतेः न वा पृथक् सत्तया "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुति विरोधात्?

इति विषमउपन्यासे आह–

अविभागेन दृष्टत्वात् ।।४/४/४।।

अविभागः अपृथक् सिद्धसम्बन्धः । अविनाभावापरपर्यायः तेन सम्बन्धेन राजसेवकवत् स्वस्वरूपंत् रक्षन्नपि परमात्मपरतन्त्रसत्त्या तिष्ठति । इत्यमेव श्रुतिषु दृष्टम् । तद् यथा श्वेताश्वतर प्राह, सर्वाजीवे सर्वसस्थे बृहन्ते असिमन्हंसोभ्राम्यतेब्रह्मचक्रं । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस् ततस्तेनामृतत्वमेति (श्वे० उप० १-६)

इद तेन ब्रह्मणा जुष्टः इति श्रुति काकलमेव ब्रह्मणा सह जीवस्यापृथक्सिद्धसम्बन्धं साधयति । सम्बन्धि भिन्नत्वेसति सम्बन्धकल्पनं तेन जुष्टः इति तृतीया प्रथमा निर्देशात् द्वयोर्भेदः स्पष्टः। कथमितरथाः श्रुतिरक्षणं इत्यकेन अमद् व्याख्या वारिप्रवाहेण अद्वैतबालुकाभित्तिः जलसाद् कृता ।

ब्रह्म प्राप्यैव जीवात्मा नित्यकैङ्कर्यमाश्रितः।

अपृथक् सिद्धसम्बान्धस्तथैव दृश्यते श्रुतौ ।।श्रीः।।

अधिकरणमिदं मयोदितं विहलाद्वैतामहागजं मुदा हरिमेव निरीक्ष तुष्यतु महिषापङ्कजवक्त्रभङ्गकः ।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ ब्रह्मविधकरणम् ।।

अथ त्रिभिस्सूत्रै र्बाह्माधिकरणमवतारयति का"स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८-१२-२) इत्यत्र रूपशब्द एव मीमांस्यते। मुक्तजीवस्य द्वेधारूपं भवितुं शक्नोति। निसर्गसिद्धं चैतन्यरूपं आविर्भूतगुणाष्टकत्वं वा? इति प्राप्ते जैमिनीमतं उपन्यस्यति

"ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यांसादिभ्य।।४-४-५।।

ब्रह्मणा इदं ब्राह्मं तेन ब्राह्मेण उपन्यासादि हेतुभ्यः जीवः ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिना जीवोऽवतिष्ठते इति जैमिनेराचार्यस्य मताकम् । ब्रह्मविद्यया विधूतकल्मषे जीवे अपहतपाप्मत्वादयः ब्रह्मगुणा स्वयमेवाविर्भवन्ति। श्रुतेरूपन्यासाच्च।।

ब्राह्मेणैव स्वरूपेण जीवो ब्रह्मणि तिष्ठति ।
उपन्यासादि हेतोश्च जैमिनेराशयो ह्ययम् ।।श्रीः।।

औडुलोमेर्मतमा–

"चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादियौडुलोमिः।।४-४-६।।

तदात्मकत्वात् जीवात्मनश्चेतनत्वादिकाः स्वाभाविका गुणाः। त एव संसारदशायां तिरोहिता भवन्ति । त एव दृष्टे ब्रह्मणि पुनरुद्भूताः प्रकाशन्ते। अतः चितरेव तत्, चिति तत्, चिति तदेव चिति तन्मात्रम् । तेन चितितन्मात्रेण इत्येव औडुलोमिराह।।

तदात्मकत्वाज्जीवस्य नित्यचैतन्यमाश्रितः।
चेतनं समुपासृष्टः औडुलोमेरिदं मतम्।।श्रीः।।

अथ स्वमतमाह–

तदात्मकत्वाज्जीवस्य नित्यचैन्यमाश्रितः।
चेतनं समुपासृष्टः औडुलोमेरिदं मतम् ।।श्रीः।।

"एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः।।४-४-७।।

एवमपि "एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपाशः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।। इति श्रुत्या ब्रह्मण एव जीवात्मन्युपन्यस्ताः। एवं चेतनत्वस्य पूर्वभावः। अतः साम्प्रतं द्वयोराविर्भावे विरोधाभावः। इति भगवान् बादरायणः मन्यते।

भवतुकिल चिदात्मा दि० यविज्ञान बोधो ।
विलस तु च किलाविर्भूत भावाष्टको वा ।।
विभुरमलगुणो वा सद्गुणो वाऽगुणो वा ।
मम नयनपथेः स्तात् बालरूपः स रामः।।
द्वयोरप्य विरोधाच्च आविर्भूतगुणाष्टको ।
उभावप्यविरुद्धौस्त बादरायण आह वै ।।श्रीः।।
इदं चैवाधिकरणं ब्रह्मरूपनिरूपणम् ।
विदुषा रामभद्रेण व्याख्यातं पुष्टये तेः।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ संकल्पाधिकरणम् ।।

अथ"मुक्तात्मा यक्षन् क्रीडन् रममाण!" इत्यादि श्रुतिवचनैः किं तस्य संकल्पा ब्रह्मणः उताहो तस्यैव? इत्यत आह–

"संकल्पादेव तच्छ्रुते।।४-४-८।।

तस्य जीवस्य संकल्पादेव सर्वासिद्धयः स्वयमेव उत्तिष्ठन्ति ।" स यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठति।। (छा० उ० ८-२-१)।। एवं तस्य संकल्पाः भगवद् द्वारका एव इति राद्धान्तः।।

तस्य जीवस्य संकल्पात् भोगा वै सर्वसिद्धयः।
उपतिष्ठन्त एवैनं भगवद् द्वारिका किल ।।श्रीः।।

पक्षं दृढयति–

"अत एव चानन्याधिपतिः ।।४-४-९।।

अत एवायं अनन्याधिपतिः। न विद्यते परमात्मनोऽन्यः अधिपतिः यस्य स अनन्याधिपतिः, परमात्मैव सर्वेषां पति । "सर्वस्येशानः सर्वस्यवशीः" इति श्रुतेः।। यथा भागवते–

एवं हरौभगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यवाष्पकलया मुहुरर्द्यमान–स्तच्चापि चित्तवडिशंशनकैर्वियुङ्क्ते।।
(भा०३-२८-३४)

अत एव स जीवात्मा परमात्मानमीश्वरम्।
मन्यमानः पतिं तस्य दासश्चानन्यनिष्ठया।।श्रीः।।
अधिकरणं मया चैतत् सर्वाधिपति सूचकम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण व्याख्यातं प्रीतये सताम् ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथाभावाधिकरणम् ।।

अथ मुक्तात्मनां देहेन्द्रियाणि भवन्ति, न वा? अत्राह बादरिः

"अभावं बादरिराह ह्येवम् ।।४-४-१०।।

बादरिराचार्यः मुक्तात्मनां शरीरेन्द्रियाणामभावं आह । तथा हि दृश्यते । इत्यमेव सर्वत्र विलोक्यते । यन्मनसैव ब्रह्मदृश्यते। इति मन्यते।।

मुक्तानामथ जीवानां देहेन्द्रिय विवर्जनम् ।
आह बादरिराचार्यः श्रुतीनामनुदर्शनात्।।श्रीः।।

जैमिनेर्मतमाह–

"भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।।४-४-११।।

विकल्पयोः आमननात् जैमिनिः शरीरेन्द्रियाणां भावं अस्तित्वं मन्यते ।।

"स एकधा भपति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा।(छा० उ० ७-२६-२)

प्राह जैमिनिराचार्योमननाच्च विकल्पयोः।
देहेन्द्रियाणां सद्भावं मुहुर्मुक्तात्मना मिह।।श्रीः।।

अथ स्वमतमाह–

"द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः।।४-४-१२।।

उभयोरपिअविरोधः वर्तते । शरीरमन्तरेण बादरि । अभावं जैमिनिः सशरीरस्य भावं स्वीकरोति । अतः द्वयोरप्यविरोधः। तस्मात् द्वावपि आस्ताम् । इति बादरायणो मन्यते । कथं अविरोधः? इत्यदाह द्वादशाहवत् । यथा तत्र वचनम्–"द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः" पुनश्च वाक्यं– "द्वादशाहेन प्रजाकामो याजयेत्" इत्येकैव विधिः, तत्तत्प्रसंगेन भिन्नं भिन्नं रूपमावहति । तथैवात्र अशरीरत्वमपि, सशरीत्वमपि । एवं द्वादशाह विधौ नियतकर्तृकत्वे अहीनत्वम्।अनेकर्तृकत्वे समत्वम्। तथैवात्रापि बुभुक्षाभावे शरीर राहित्यं, बुभुक्षायां शरीरसाहित्यम् । इत्युभयविधम् ।

भावाभावौ तथा चोभौ देहे खानां समादृतौ ।
द्वादशाहवदविरोधात् बादरायण ऐक्षत।। श्रीः।।

ननु शरीरस्य अभावे कथं मुक्तात्मा भोगान् भुङ्क्ते? इत्यत आह–

"तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः।।४-४-१३।।

तनुः शरीरस्य अभावे, सन्ध्यवत् स्वप्नवत् भोगोपपत्तेः। शरीरस्य अभावे स्वप्नदेव ईश्वरसृष्टैरुपकरणैः जीवेन भोगाः भुज्यन्ते ।।

शरीराणामभावेऽपि परमात्मविनिर्मितैः।
भोगान् भुङ्क्ते स मुक्तात्मा उपकरणैश्च सन्ध्यवत् ।।श्रीः।।

सति शरीरे–

"भावे जाग्रद्वत् ।।४-४-१४।।

यथा जाग्रदवस्थायां जीवः स्वेनैव शरीरेण सर्वान् भोगान् भुङ्क्ते? तथैव मुक्तात्मापि दिव्यशरीरं प्राप्य भगवता सहभूतः भगवत् प्रसादरूपान् भोगान् भुङ्क्ते। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चित। (तै०३-२-१)।

शरीरस्य च सद्भावे जाग्रद्वत् प्रीतमानसः।
भोगान् भुङ्क्ते भगवता मुक्तजीवोऽनुरागवान् ।।श्रीः।।

ननु जीवात्मा अणुः सचानेक कर्तृकान् भोगान् यौगपद्येन कथं भुङ्क्ते? इत्यत आह-

"प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।।४-४-१५।।

जीवात्मनः प्रदीपवत् आवेशो भवति । यथा गृहस्येकदेशस्थो दीपकः। तथैव आविर्भूतगुणाष्टको जीवात्मा एकस्थोऽपि अनेकशरीरकर्तृकान् भोगान् यथेष्टं भुङ्क्ते।।

जीवात्मनि गुणावेशः प्रदीपवदुदाहृतः।
समर्थोऽनेक कर्त्तृस्थान् भोगान् भुङ्क्ते हरीरितः।।श्रीः।।

ननु बृहदारण्यके श्रूयते "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।।(बृ०उ० ४-३-२१), एवं अन्यापि–"वाङ् मनषि सम्पद्यते" इत्याभ्यां जीवस्य ज्ञान तिरोधानमुच्यते । तर्हिकथं? जीवात्मा निज चेतनया अनेकगुणान् भुञ्जीत? इत्यत आह–

"स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।।४-४-१६।।

स्वाप्ययः शयनम् सम्पत्तिर्मृत्युः इति द्वयोः ज्ञानस्य तिरोहितत्वात् अन्यत्र जीवात्मनो ज्ञानं आविष्कृतमेव भवति ।।

विहाय शयनं मृत्युं जीवज्ञानं निरर्गलम् ।
तेन भुङ्क्ते समान् भोगान् आविर्भूत गुणाष्टकः।।श्रीः।।
अधिकरणं मया चैतत् मुक्तभोग निरूपकम ।
श्रीरामभद्राचार्येण बुधां प्रीत्यै समाहितम् ।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

।। अथ जगद्व्यापारवर्जनाधिरणम्।।

ननु मुक्तात्मनां सर्वभोगोपपत्तौ परमात्मन इव तस्मिन् सृष्टिकर्तृत्वमपि स्यात्? तथा हि– "निरञ्जनः साम्यं परममुपैति" इति श्रुतिः। इत्यत् आह–

"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणासन्निहितत्वाच्च।।४-४-१७।।

जगद्व्यापारं वर्जयित्वा इति जगद्व्यापारवर्जं, न खलु जगद्व्यापारः जीवे आगच्छति । कथं? प्रकरणात् । प्रकरणं परमात्मनः वर्तते । एवं "सोंऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।। तै०उ०२-१, इत्युपक्रम्य पुनः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यभ्यस्य "आनन्दं ब्रह्म इति व्यजानात्" इति उपसंहृत्यजीवविलक्षणस्य ब्रह्मणः जगद्व्यापारः प्रतिपादितः। न तु जीवस्य । अपरोऽपि हेतुः असन्निहितत्वाभावात् पुनश्च मुक्ताः जगतः सुदूरं वर्तन्ते। अतः सन्निहितत्वा भावात् कथं जगतो नियमन कर्तुं शक्या । परमात्मा तु जगति प्रविष्टत्वांत्, नियन्तुं शक्य एव ।।

प्रकरणादप्य सामीप्यात् जगद्व्यापारवर्जनम् ।

जीवात्मनि सदा ज्ञेयं च ब्रह्मणि राघवे ।।श्रीः।।

ननु "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।। (छा०७-२५-२), इति प्रत्यक्षोपदेशात् । मुक्तात्मनोऽपि निरकुंशैश्वर्यंस्यात् इत्यत आह-

"प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तः।
(४-४-१८),

प्रत्यक्षः श्रुतिः, तस्य उपदेशः प्रत्यक्षोपदेशः तस्मात् । प्रत्यक्षतः श्रुतेरूपादेशात् मुक्तात्मना निरंकुशैश्वर्येण भवितव्यम्? तत् परिहरति आधिकारिक इत्यादिना। अधिकारे नियुक्ताः आधिकारिकाः तेषां मण्डलं आधिकारिक मण्डलं तत्र तिष्ठति इत्याधिकारिकमण्डलस्थाः, तेषां उक्तिः आधिकारिकमण्डलस्थोक्तिः तस्याः आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः तेषां ऐश्वर्य निरंकुशता भगवता तत्तदधिकारे नियुक्तानां हिरण्यगर्भादीनां तत्तल्लोकेष्वेव । न तु जगद्व्यापारतायाम् ।।

आधिकारिक जीवानां स्वतन्त्रैश्वर्यमिष्यते ।
प्रत्यक्षादुपदेशाच्च नान्यजीवव्यवस्थितिः।।श्रीः।।

किंच न केवलं ब्रह्मलोकादिकं, अपि तु ब्रह्मानुभवमपि-

"विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह।।४-४-१९।।

किंच विकारावर्ति सम्पूर्ण ब्रह्मात्मकं सुखमपि स अनुभवति ।

व्युत्पत्तिश्च विकाराणां अवर्तनं अभावः यस्मिन् तत् विकारावर्ति । श्रुतिः मुक्तात्मनां ब्रह्मणि स्थितिमाह । यथा-"यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।।(तै०उ०२-७), यथा भागवते- दुरधिगमात्मत्व- ।(भा०१०-८७)

विकारावर्ति यत्सौख्यं परमानन्दनामकम्।
अनुभूय चिरंजीवो मुक्तो ब्रह्म समश्नुते ।।श्रीः।।

हेत्वन्तरमाह-

"दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने।।४-४-२०।।

एवं जगद्व्यापारं ब्रह्मणएव, इति प्रत्यक्षं श्रुतिः। अनुमानं स्मृतिः इत्युभये अपि दर्शयतः। श्रुतिस्तावत्-"स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः।(तै० उ०२-६),

"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपरितरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।। ब्र० उ० ४-४-२२, एवं स्मृतिरपि-

"सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।

(गीता०९-७)

"पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह ।।

(गीता०९-१७)।।

एवं दर्शयतश्चोभे श्रुतिर्गीतास्मृतिस्तथा ।
ब्रह्मणस्तस्य भूम्नस्तु जगद्व्यापार ऐश्वरः।।श्रीः।।

किंच अपरोऽपि विशिष्ट एको हेतुः-

"भोगमात्रसाम्यलिङ्गच्च ।।४-४-२१।।

परमेश्वरेण सह मुक्तात्मनः भोगमात्रे एव साम्यम् । न तु जगद्व्यापारादौ । प्रमाणं चात्र श्रुतिरेव । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।(तै०उ०१-२)

अत एव जगद्व्यापारे मुक्तात्मनोऽपिनाधिकरः।।

भोगमात्रे च जीवस्य साम्यं भगवता सह् ।
अस्मांल्लिङ्गन्न जीवे वै जगत् सृष्टि विडम्बनम् ।।श्रीः।।

ननु यदि मुक्तात्मनो निरंकुशैश्वर्यं परमायत्तं । तर्हि कदाचित् मुक्तात्मनोऽपि संसारे जन्म स्यात्? इत्यत आह–

"अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।।४-४-२२।।

जीवात्मनः पुनरावृत्तिर्न भवति । कथं? शब्दात् श्रुतिस्मृति प्रमाणानुरोधात् । यथा श्रुतिः –"स खल्वेवं वर्तयन्यावदापुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।(छा०उ०८-१५-९), एवं गीतायामपि–

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

(गीता ८-१६)

"मामुपेत्य पुनर्जन्मदुः खालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवति महात्मानः संसिद्धि परमांगताः।।

(गीता ८-१५)

एवं अनन्यभक्त्य समाराधित श्रीसीतारामाभिध परब्रह्म चरणारविन्दयुगलस्य मुक्तात्मनः संसारे न पुनर्जन्म । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्थाः ग्रन्थविश्रामार्था च ।।

यथा भागवते–

यं ब्रह्मवरुणेन्द्ररुद्रमरूतः स्तुन्व न्तिदिव्यैः स्तवै–
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थित तदगतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय। (१२-१३-१) तस्मैनमः।।

निरङ्कुशैश्वर्यवतोऽपि तस्य मुक्तस्य जीवस्य च नैष लोकः।
न वै पुनर्जन्म भवे श्रुतेश्च द्विरुक्तिरेषा किल विश्रमार्था।।श्रीः।।

ब्रह्मसूत्रमिदं कृत्स्नं श्लोकबद्धानुवादकम्।
श्रीरामभद्राचार्येण कृतं सीतापतेर्मुदे ।।

"सीतारामपदाम्बुजात युगलं प्रेम्णा चिरं ध्यायता ।
रामानन्दपदारविन्दविगलन् मारन्द संसेविना ।।
अद्वैतं चिदिचिद्विशिष्टमनघं श्रीब्रह्मसूत्रेषु वै ।
संसाध्य प्रथितं हि राघव कृपा भाष्यं प्रणीतं मया ।।

क्वासौ विद्वन्महितमहिमा ब्रह्मसूत्रारव्यवार्धिः।
क्वाहं मूढः प्रकृतिचपलः क्षुद्रजीवोऽल्पबोधः।।
नूनं तिष्ठन् हृदयकमले रामभद्रो मदीये ।
पाराशर्य प्रथितनिगमे भाष्यमेतद् बभाषे ।।
आलोड्य शास्त्रनिचयं श्रुतिवाक्य जातम् ।
गीतां स्मृतिश्च बहुशो मनसा विचिन्त्य ।।
भाष्यं कृतं कृतिमा किल रामभद्रा–
चार्येण पण्डितमनः सु मुदं दधातु ।।
हे राम हे रघुपते प्रणातार्त बन्धो ।
हे श्रीश हे जनकजा वरशीलसिन्धो।।

त्वत्पादकञ्जयुगले किल रामभद्रा-
चार्य प्रपन्नमिह दर्शय सत्स्वरूपम् ।।
श्री राघवकृपाभाष्यं ब्रह्मसूत्रेषु भाषितम् ।
श्रीरामभद्राचार्येण मुदे सीतापतेर्मया।।

इति श्रीचित्रकूटस्थतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यस्वमिरामभद्राचार्य कृतौ श्रीमद्बादरायणापरनामधेय महर्षि वेदव्यास प्रणीते वेदान्त दर्शने श्री ब्रह्मसूत्रे श्री राघवकृपाभाष्ये फलारव्यश्चतुर्थोऽध्यायः।।

।। सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः।।

दशरथसुकृतताब्धि शीतरश्मिर्जनक सुताक्षिचकोर मोदकारी ।
श्रुतिचय निकरैर्सुगीत कीर्ति-र्ममहृदये विचकास्तु राघवो मे।।

।। श्री राघवः शंतनोतु।।

॥ॐ॥

अनन्तज्ञानराशिस्वरूपः वेदः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषु त्रिषु काण्डेषु विद्वद्भिर्विभाज्यते। अस्य पूर्वभागीयश्रुतिषु कर्मणः उत्तरभागीयश्रुतिषु च ज्ञानोपासनयोर्व्याख्यानमस्ति। ब्राह्मणाख्यकोपनिषदात्मकयोर्ज्ञानोपासनाकाण्डयोर्जगन्नियतृपरब्रह्मपरमात्मस्वरूपप्रतिपादनपुरःसरं जीवजगतोरपि विवेचनं कृतमस्ति। श्रुतिभागोऽयमत्यन्तविस्तृतो गूढरहस्यात्मकश्चातः न सामान्यजनज्ञेय इत्यवधार्य भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्राख्ये ग्रन्थेऽस्य सारत्वसंग्रहोऽकारि।

ब्रह्मसूत्रमिदं वेदान्तदर्शनस्य सर्वोत्कृष्टं ग्रन्थरत्नमस्ति। सूत्रात्मकशैल्या ग्रथितस्यास्य ग्रन्थस्य सर्वसम्मतं वास्तविकं तत्वमिदमित्थन्तया नाद्यावधिनिर्णीतम्। निर्णेतुमपि न शक्यते, यतो हि भगवतो वेदव्यासस्य मुखपद्माद्विनिःसृतोऽयं "ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्" इति भगवतः कृष्णस्य वचनञ्चारितार्थयन्नात्मीयां सर्वसिद्धान्तानुकूलतां ख्यापयति। प्रायः सर्वैरद्वैत-द्वैत-द्वैताद्वैत-शुद्धाद्वैत-विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रधानसम्प्रदाप्रवर्तकैः वेदान्तिभिरन्यैश्चाचार्यैः स्वसिद्धान्तानुकूलानि भाष्याणि ग्रन्थस्यास्य कृतानीति प्रथितमेवास्ति दार्शनिकसमवाये।

अथावगाहितनिखिलवेदवेदाङ्गशास्त्रसागरैः आलोडिताशेषास्तिकनास्तिकदर्शनैः प्रमथितसर्ववेदान्तसिद्धान्तक्षीराब्धिभिः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैः श्रीराघवैकपरतन्त्रैः श्रीमदाद्य-रामानन्दाचार्यचरणकमलचञ्चरीकैः श्रीरामानन्दाचार्यस्वामिश्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टा-द्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृमिदं ब्रह्मसूत्रेषु "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" सर्वथा नवैर्विचारैर्नूत्नाभिर्युक्ति-भिर्नव्यैस्तर्कैश्चालङ्कृतं सद् भगवन्तं साकेताधिपति श्रीसीतासंसेवितपादपद्मं श्रीरामं परब्रह्मतया प्रतिष्ठापयतति। भाष्येऽस्मिन् स्वामिपादैः सद्युक्तिभिरभेद्यतर्कैश्च स्वसिद्धन्तस्य वेदसम्मततान्येषाञ्चाद्वैतादिसिद्धान्तानां वेदविमुखता सिद्धान्तिता। भक्तिरसरसज्ञाः जिज्ञासवोऽत्रामन्दानन्दमनुभरेयुराप्नुयुश्चाधीत्य भगवतः श्रीरामस्य शरणागतिमिति सम्भावयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी